जापान की शासन-व्यवस्था

●

उदयनारायण शुक्ल, एम. ए., पी-एच. डी., साहित्यरत्न
अध्यक्ष, राजनीतिशास्त्र विभाग, दयानन्द वैदिक कालेज, उरई

किताब महल [होलसेल डिविज़न] प्राइवेट लिमिटेड
रजिस्टर्ड आफिस : ५६-ए, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक लिखने का उद्देश्य राष्ट्रभाषा के माध्यम से जापान की शासन-व्यवस्था का ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक विद्यार्थियों की आवश्यकता की पूर्ति करना है। इस दृष्टि से इसे लिखते समय उत्तर भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों तत्सम्बन्धी पाठ्य-क्रम का यथासंभव ध्यान रखा गया है। शासन प्रणालियों के अध्ययन में रुचि रखने वाले अन्य व्यक्ति भी इसका उपयोग कर सकते हैं।

पुस्तक लिखने में देश में उपलब्ध सभी आवश्यक सामग्री की सहायता ली गयी है। कुछ सामग्री सीधे जापान से भी प्राप्त की गयी है। इस कार्य में मुझे जापान के प्रधानमंत्री के व्यक्तिगत सचिव श्री मिज़ुओ कुरोदा तथा टोकियो विश्वविद्यालय के प्रो० हिदेओ तनाका से विशेष सहायता मिली है। प्रो० तनाका ने मेरी कुछ शंकाओं का भी निवारण किया है। लखनऊ विश्व-विद्यालय के राजनीतिशास्त्र विभाग के सहायक प्रोफेसर डा० लक्ष्मण प्रसाद चौधरी ने पांडुलिपि की रूपरेखा देखकर मेरा उत्साहवर्द्धन किया है। मैं सभी सज्जनों का उनके द्वारा दी गयी सहायता के लिए आभारी हूँ।

अन्त में मैं सभी पाठकों से अनुरोध करूँगा कि वे पुस्तक में जो भी त्रुटियाँ देखें उन्हें मुझे सूचित करने का कष्ट करें, जिससे भविष्य के संस्करणों में उन्हें दूर करके पुस्तक को अधिक उपयोगी बनाया जा सके।

१६५।३ मूलचन्द पार्क,
रामनगर,
उरई
२६—८—१९६३

उदयनारायण शुक्ल

विषय-सूची

देश, निवासी और संवैधानिक विकास | १

"Modern Japan is the logical outgrowth of pre-Restoration Japan"—*Harola M. Vinacke.*

जापान साम्राज्य एशिया महाद्वीप के पूर्वी तट पर प्रशान्त महासागर में लगभग १२०० वर्ग मील के क्षेत्र में एक आंशिक वृत्त के रूप में अनेक द्वीपों में फैला हुआ है। यह द्वीप समूह २४° उत्तरी अक्षांश तथा ४५° उत्तरी अक्षांश और १२०° पूर्वी देशान्तर तथा १४८° पूर्वी देशान्तर के मध्य में स्थित है। इस द्वीपसमूह में चार बड़े द्वीप—होकैदो, होन्शु, शिकोकु और क्युशु—तथा बहुत से छोटे-छोटे द्वीप सम्मिलित हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में जापान ने कुरील, वोनिन, पेस्काडोर्स द्वीपों, फारमोसा, काराफुतो तथा कोरिया प्रायद्वीप पर अधिकार स्थापित कर लिया था। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् राष्ट्रसंघ के प्रपत्र के अन्तर्गत शासनादेशित शक्ति (Mandatory Power) के रूप में इसे मैरियाना, कैरोलिन और मारशल द्वीपों पर शासन करने का अधिकार मिल गया था। इस प्रकार उसके साम्राज्य का क्षेत्रफल २,६३,६५० वर्ग मील के लगभग पहुँच गया था। सन् १६३२ में जापान ने मंचुको (मंचूरिया) राज्य को, जिसका क्षेत्रफल ५,०३,०१३ वर्ग मील था, अपना संरक्षित राज्य बनाया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्वार्द्ध में जापान ने चीन, इन्डोनेशिया, हिन्दचीन, मलाया व बर्मा आदि देशों पर अधिकार कर लिया और सन् १९४२ ई० में उसकी चरम विजय की स्थिति में जापान का अधिकार ३०,००,००,००० वर्गमील के क्षेत्र पर था। पर द्वितीय विश्व युद्ध में पराजित होने के कारण यह सभी क्षेत्र उसके अधिकार से बाहर हो गये और अब उसका क्षेत्रफल केवल १,४७,७०७ वर्गमील है। क्षेत्रफल की दृष्टि से जापान भारत का आठवाँ भाग, संयुक्त राज्य अमेरिका का बीसवाँ भाग तथा ब्रिटेन का डेढ़ गुना है।

जापान के आस-पास पश्चिम में कोरिया, उत्तर पश्चिम में रूस, दक्षिण पश्चिम में चीन, दक्षिण में हिन्दचीन, मलाया, इन्डोनेशिया, फिलीपाइन और आस्ट्रेलिया, पूर्व में संयुक्त राज्य अमेरिका, उत्तर पूर्व में कनाडा और दक्षिण पूर्व में मैक्सिको तथा दक्षिणी अमेरिका के देश हैं। जापान से एशिया महाद्वीप का सबसे निकट का भाग कोरिया प्रायद्वीप है, यद्यपि रूस अधिकृत हावोमाई द्वीप जापान से केवल तीन मील दूर है। ब्लाडीवोस्टक का रूसी बन्दरगाह ५०० मील, चीन का शंघाई बन्दरगाह ४७० मील तथा संयुक्त राज्य अमेरिका का सैन्फ्रान्सिसको बन्दरगाह ४५२५ मील है।

इस भौगोलिक स्थिति का जापान पर अनेक प्रकार से गहरा प्रभाव पड़ा है। जापान पर प्राचीन काल में, जब बड़े जलयान न होने के कारण मनुष्य गहरे समुद्रों में यात्रा नहीं कर सकते थे, अधिकांश आक्रमण चीन और कोरिया के मार्ग से ही हुए थे। इसीलिए जापान पराधिकृत कोरिया को अपने सीने पर तना हुआ खड्ग समझता रहा है। चीन और कोरिया ने जापान को केवल सामरिक दृष्टि से ही प्रभावित नहीं किया है। जापान की भाषा, धर्म, सभ्यता, संस्कृति तथा राजनीति, चाहे वह देशी हो या विदेशी, भी चीन से प्रभावित हुए हैं। जापान के अधिकांश राजनैतिक संघर्ष चीन से ही हुए हैं। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् जापान के भाग्य को चीन में होने वाले राजनैतिक परिवर्तनों ने विशद रूप से प्रभावित किया है। रूस का पूर्वी भाग पिछड़ा हुआ होने के कारण जापान को अधिक प्रभावित नहीं कर सका और इसी कारण जापान सन् १९०४-५ में रूस

को पराजित करने में सफल हो सका। जापान को प्रभावित करने वाला एक देश संयुक्त राज्य अमेरिका भी है। अपनी सुदृढ़ स्थिति के कारण चीन और रूस की अपेक्षा दूर होने पर भी उसने वर्तमान काल में, जब जलयानों और वायुयानों के आविष्कार से महासागरों का पार करना सरल हो गया है, जापान की राजनीति को सबसे अधिक प्रभावित किया है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने ही सन् १८५२ में आक्रमण करके जापान का द्वार पाश्चात्य देशों के लिए खुलाया और द्वितीय विश्व युद्ध में भी संयुक्त राज्य ने ही उसे पराजित कर वहाँ पर अपने सैनिक अधिकारी को सर्वोच्च समादेशक (Supreme Commander) के रूप में अपनी सेनाओं सहित रक्खा। इस सैनिक शासन काल में जो सन् १९५२ ई० तक रहा संयुक्त राज्य ने अपने सर्वोच्च समादेशक के द्वारा जापान की वैधानिक, संवैधानिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्तन किए और आज भी जापान की राजनीति संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा नियंत्रित नहीं तो प्रभावित अवश्य है।

समुद्रतटीय भाग को छोड़कर शेष जापान की भूमि पर्वतीय है। पर्वत ज्वालामुखी हैं; जिससे देश में समय-समय पर भूकम्प आते हैं जिनका वार्षिक औसत लगभग १,५०० है। नदियाँ छोटी और तेज बहने वाली हैं जिससे वे यातायात के लिए प्रयोग नहीं की जा सकती हैं। भूमि उपजाऊ है पर देश पर्वतीय होने के कारण कुल क्षेत्रफल का केवल ⅙ भाग ही कृषि के योग्य है। वर्षा पर्याप्त होती है और टोकियो की औसत वार्षिक वर्षा ६१.७ इंच है। यद्यपि जापान समशीतोष्ण कटिबन्ध में स्थित है जिससे जाड़े के दिनों में कठोर सर्दी पड़ना चाहिए। पर दक्षिण से आने वाली क्यूरोशिवो नाम की गर्म समुद्री धारा उसके दक्षिणी पूर्वी तट को गर्म बनाती है। उत्तर की ओर से बेरिंग जलडमरूमध्य से आने वाली शीतल सामुद्रिक धारा होकैदो द्वीप के दक्षिण में क्यूरोशिवो सामुद्रिक धारा से मिलती है। इसलिए जापान के उत्तरी भाग में ६ मास भयंकर शीत पड़ता है। इस भाग को छोड़कर दक्षिण के शेष भाग का ग्रीष्म ऋतु का तापमान ८०° से ९०° फारेनहाइट तक रहता है। जापान मानसूनी प्रदेश का भाग है। इसलिए ग्रीष्म ऋतु में हवाएँ दक्षिण की ओर से आती हैं और पानी बरसाती हैं। जाड़े

के दिनों में यहाँ उत्तरी हवाएँ चलती हैं जो ठंडी और सूखी होती हैं। जाड़े के दिन प्रायः धूप वाले होते हैं।

जापान के पहाड़ वर्षा की अधिकता के कारण वनों से आच्छादित हैं और भूमि उपजाऊ होने से मैदानों में धान की खेती होती है। भूमि की कमी वर्ष में कई फसलों और सघन कृषि करने के लिए विवश करती है। फिर भी खाद्यान्न पर्याप्त मात्रा में नहीं होता। सौभाग्य से गर्म और शीतल सामुद्रिक धाराओं का संगम मछली मारने का एक उत्तम स्थान बनाता है और इसलिए मछली जापान के भोजन का मुख्य अंग है। मत्स्य-उद्योग के लिए नाविक निपुणता की आवश्यकता होती है और जापान में इसी कारण सामुद्रिकता का विकास एशिया में सर्वाधिक हुआ है।

निवासी

जापान एक विशाल जनसंख्या का देश है। इसकी वर्तमान आबादी साढ़े नौ करोड़ से अधिक है। इसलिए जनसंख्या की दृष्टि से जापान का स्थान विश्व में पाँचवाँ है। इससे अधिक जनसंख्या वाले देश चीन, भारत, रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका हैं। जापान के क्षेत्रफल की दृष्टि से यह जनसंख्या अत्यधिक है। जनसंख्या की सघनता की दृष्टि से जापान का स्थान नीदरलैण्ड और बेल्जियम के पश्चात् है। पर कृषि-योग्य भूमि के अनुपात में जनसंख्या की दृष्टि से जापान का स्थान विश्व में प्रथम है। जापान की जनसंख्या अत्यन्त तीव्र गति से बढ़ रही है। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् सन् १९४६ ई० में इसकी जनसंख्या केवल ७ करोड़ ३० लाख थी।

परिस्थितियों ने जापानवासियों को मितव्ययी, पुरुषत्वपूर्ण, वीर और परिश्रमी बनाया है। जलवायु परिश्रम के अनुकूल है। ज्वालामुखी पर्वतों के कारण पाये जाने वाले गर्म पानी के झरनों ने जापानवासियों को स्नानप्रेमी बना दिया है। स्नान जापान-वासियों की स्वच्छता तथा उनके गर्म होने का साधन ही नहीं है; जापानवासी स्नान द्वारा अपनी थकावट भी दूर करते हैं। पर्वतों, समुद्र तटों, चंचल नदियों और वृक्षों तथा धान के खेतों की श्यामलता ने जापानवासियों

को प्राकृतिक दृश्यों का प्रेमी बना दिया है तथा उनमें कलात्मक भावनाओं को उत्पन्न किया है। जैसा पीछे कहा गया है, जापान के पड़ोसी देश रूस, चीन और कोरिया हैं। रूस का पूर्वी भाग दीर्घ काल तक निर्जन रहा है। इसके विपरीत चीन अपनी प्राचीन सभ्यता के लिए प्रसिद्ध रहा है। इसलिए जापानवासी अपनी भाषा, धर्म और सभ्यता संस्कृति में चीनवासियों द्वारा सर्वाधिक प्रभावित हुए हैं। इस बाह्य प्रभाव ने जापानवासियों को अनुकरणशील बना दिया है। ५ करोड़ जापानवासी शिन्तोधर्म को, जो जापान का राष्ट्रीय धर्म है, और ५ करोड़ बौद्ध धर्म को मानते हैं। आठ लाख जापानवासी कन्फ्यूसियन धर्म के और एक लाख ईसाई धर्म के अनुयायी हैं। कन्फ्यूसियन धर्म चीन का राष्ट्रीय धर्म है और बौद्ध तथा कन्फ्यूसियन दोनों धर्म जापान में चीन द्वारा ही पहुँचे हैं। शिन्तो और कन्फ्यूसियन धर्मों ने जापानवासियों में कुछ निश्चित धारणाएँ उत्पन्न कर दी हैं। जापानवासी समाज को व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण समझते हैं। वास्तव में समाज को वह सावयवी मानते हैं और उसके लिए वह व्यक्ति का बलिदान कर सकते हैं। वे सारे राज्य को एक परिवार मानते हैं और सम्राट को उस परिवार का पिता मानते हैं। परिवार के प्रधान के रूप में सम्राट को उदार शासन का स्रोत समझते हैं। सावयवी सिद्धान्त के अनुसार वह मनुष्यों को प्रकृति से असमान मानते हैं और इसलिए जापान में अभिजात वर्ग ईश्वरी सृष्टि माना जाता रहा है। वह सांस्कृतिक एकता में धर्म, नीति और राजनीति को एक मानते हैं और उनका धर्म दैवी मार्ग है। जापान सम्राट 'सूर्यदेवी' का वशंज माना जाता है और साधारण जापानी अपने को, अपने देश को तथा अपने सम्राट को विश्व में श्रेष्ठतम समझते रहे हैं।

कृषियोग्य भूमि की दृष्टि से जापान विश्व का सघनतम देश है। भोजन की समस्या ने, फलतः, जापानवासियों को अनेक दिशाओं में कार्य करने को विवश किया है। इसी कारण ने उन्हें थोड़े से क्षेत्र में अधिक से अधिक खाद्यान्न उत्पन्न करने के लिए विवश किया है। जापान की धान की प्रति एकड़ उपज एशिया में सबसे अधिक है। खाद्यान्न की कमी को पूरा करने के लिए जापानवासी मत्स्य

उद्योग करने के लिए विवश हुए हैं। फिर भी उन्हें वर्ष में ५० से ६० करोड़ डालर तक का खाद्यान्न आयात करना पड़ता है। खाद्यान्न के आयात के लिए धन की आवश्यकता होती है। धन की कमी की पूर्ति के लिए जापानवासियों को उद्योगों का आश्रय लेना पड़ा। दुर्भाग्य से उद्योगों के आधारभूत खनिज पदार्थ जापान में न तो पर्याप्त मात्रा में ही पाये जाते हैं और न उच्चकोटि के ही। तीव्रगामी नदियों के बाहुल्य ने उसे पर्याप्त विद्युत शक्ति अवश्य दी है जिसने कोयले के अभाव को एक सीमित रूप में पूरा किया है। पर प्रत्येक कार्य में कोयले के स्थान पर विद्युत का प्रयोग सम्भव नहीं है। इस प्रकार खाद्यान्न की कमी को पूरा करने, अतिरिक्त जनता को बसाने और उद्योगों के लिए कोयले, लोहे तथा अन्य कच्चे माल की पूर्ति करने के लिए जापान को उपनिवेशवादी तथा साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करना पड़ा। इसी नीति के फलस्वरूप सन् १८९४ ई० में चीन-जापान और सन् १९०४-१९०५ ई० में रूस-जापान युद्ध हुए। सन् १९१४ ई० में जापान ने इसी कारण पूर्व में जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की और सन् १९१५ में उसने चीन से सुप्रसिद्ध २१ माँगें कीं।[1] इसी कारण सन् १९३१ में जापान ने 'खाद्यान्न भंडार' व 'जीवन रेखा' मंचूरिया पर आक्रमण किया जो कालान्तर में चीन-जापान युद्ध में परिवर्तित

---

[1]ये इक्कीस माँगें ५ विषयों से सम्बन्धित थीं। माँगों का प्रथम समूह शैन्तुंग प्रायद्वीप से जो कोरिया के दक्षिण में पीले सागर के पार है, सम्बन्धित था। शैन्तुंग जर्मनी का हित-प्रदेश था। अतः जापान ने यह माँग की चीन शैन्तुंग के सम्बन्ध में जापान-जर्मनी में जो सन्धि हो उसे स्वीकार कर लें। वह यह भी वचन दे कि वह इस पर या इसके तट पर किसी तीसरी शक्ति का विशेष हित स्वीकार न करेगा। जापान को उस क्षेत्र में एक प्रमुख रेल निर्माण का अधिकार दिया जाय और जापान को कुछ नगरों व बन्दरगाहों में व्यापार करने का अधिकार दिया जाय। माँगों का दूसरा भाग मंचूरिया से सम्बन्धित था। जापान ने माँग की कि चीन पोर्ट आर्थर तथा डायरन को ९० वर्ष के लिए पट्टा कर दे। वह दक्षिणी मंचूरिया की रेलों पर जापान का नियंत्रण स्वीकार करे।

हो गया। यूरोप में द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ होने पर इसी कारण जापान ने सारे दक्षिणी पूर्वी एशिया पर साम्राज्य स्थापित करने की योजना बनाकर मित्रराष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध में प्रवेश किया।

इस क्षेत्र में जापानी नागरिकों को यात्रा करने, रहने, भूमि का पट्टा लिखाने या क्रय करने का अधिकार दिया जाय। जापान की पूर्वाज्ञा के बिना चीन इस क्षेत्र में न तो स्वयं राजनैतिक, आर्थिक या सैनिक सलाहकार रखे और न किसी दूसरे राष्ट्र के नागरिक को इस क्षेत्र में रेल-निर्माण-अधिकार दे। माँगों का तीसरा समूह मध्य चीन में स्थित सबसे बड़े लोहे के कारखाने हैनयेहपिंग कम्पनी को संयुक्त जापानी-चीनी उद्योग के रूप में परिवर्तित करने के सम्बन्ध में था। चौथे समूह की माँगों द्वारा चीन से अपने सामुद्रिक तट पर किसी बन्दरगाह, खाड़ी या द्वीप को किसी तीसरी शक्ति को हस्तान्तरित या पट्टा न करने के वचन देने को कहा गया। पाँचवें समूह की माँगों द्वारा चीन से कहा गया कि वह राजनैतिक, आर्थिक तथा सैनिक विषयों के लिए जापानी परामर्शदाता नियुक्त करे। वह जापानी चिकित्सालयों, चर्चों व विद्यालयों को देश के आन्तरिक भागों में स्वामित्व का अधिकार दे तथा जापानी बौद्ध-धर्म प्रचारकों को धर्म प्रचार की आज्ञा दे। प्रमुख स्थानों का पुलिस प्रशासन चीन और जापान द्वारा संयुक्त रूप से किया जाय या चीनी पुलिस में जापानवासियों को नियुक्त किया जाय। चीन अपने अधिकांश आग्नेयास्त्रों को जापान से खरीदे या वह एक शस्त्रास्त्र कारखाना खोले जिसमें चीन तथा जापानवासी संयुक्त रूप से कार्य करें। जापान को यांग्टिसी घाटी में प्रमुख रेलवे लाइनें बनाने का अधिकार दिया जाय और फुकिन्स प्रान्त में खानों व रेलों के सञ्चालन और बन्दरगाह या पोत-स्थल (Dock yard) के निर्माण के लिए ऋण लेने के पूर्व चीन जापान से परामर्श ले। संयुक्त राज्य अमेरिका के हस्तक्षेप के कारण जापान को अपनी कुछ माँगें छोड़नी पड़ीं। फिर भी चीन को अधिकांश माँगें स्वीकार करनी पड़ीं जिससे जापान को चीन में वही स्थान प्राप्त हो गया जो इसके पूर्व वहाँ ब्रिटेन को प्राप्त था।

वर्तमान काल के पूर्व शासक वर्ग के अतिरिक्त जापान के निवासी मुख्य चार वर्गों में विभाजित थे : सैनिक, कारीगर, व्यापारी और कृषक। उस समय का शासन सामन्तवादी व्यवस्था पर आधारित था। इसलिए सामन्त ही मुख्य रूप से देश के शासक थे। सामन्तों को शांति व्यवस्था भी रखनी पड़ती थी और इस कार्य के लिए वे सैनिक रखते थे। एक सुव्यवस्थित केन्द्रीभूत शासन व्यवस्था के अभाव के कारण देश में शान्ति रखना सबसे महत्वपूर्ण कार्य समझा जाता था। इसलिए देश में सैनिक वृत्ति का सर्वाधिक सम्मान था और शासक वर्ग सैनिकों को अधिक से अधिक सुविधाएँ देता था, जिससे समाज में सैनिक वर्ग एक उच्च स्थान रखता था। शान्ति काल में यह वर्ग बौद्धिक उन्नति का भी प्रयत्न करता था और वह धीरे-धीरे पौराणिक कन्फ्यूसियन ग्रंथों और खड्ग-विद्या दोनों में समान रूप से प्रवीण समझा जाने लगा। सैनिकों के बाद जापान में कृषि कर्म का सम्मान होता था और कृषकों के पश्चात् कारीगरों और कलाकारों का मान था। व्यापारी वर्ग सामाजिक पद सोपान में सबसे निम्न स्थान में था।

संवैधानिक विकास

शासन व्यवस्था के विकास की दृष्टि से जापान के इतिहास को चार भागों में बाँटा जा सकता है।

१. प्राचीन काल या विकेन्द्रित सामन्ती युग (आदिकाल से सन् ११८५ ई० तक।)

२. मध्यकाल या केन्द्रित सामन्ती युग (सन् ११८५ से सन् १८६८ ई० तक।)

३. मेइजी संविधान काल (सन् १८६८ से १६४६ तक), और

४. प्रजातंत्रीय काल (सन् १६४६ से अब तक)

१. प्राचीन या विकेन्द्रित सामन्ती युग—जापानवासी आमातेरासु नामक देवता को अपना आदि पुरुष मानते हैं। निपनशोकी के अनुसार आमातेरासु ही रचना का स्रोत तथा विकास की शक्ति है। जापानी विद्वानों के मतानुसार जापानवासी आदि काल से एक परिवार के रूप में सम्बद्ध हैं। जिम्मू तेन्नो

(Jimmu Tenno) जापानवासियों का प्रथम सम्राट् माना जाता है। उसका सिंहासनारोहण सन् ६६० ईसा पूर्व में हुआ था। इस प्रकार जापान में सम्राट् का पद बहुत पुराना है। पर प्राचीन काल में जापानवासी पितृप्रधान गोत्रों (Clans) में बटे हुए थे और सम्राट् इन गोत्रों का मुख्यतया नाममात्र का शासक था। वास्तविक रूप में उसे इन पितृप्रधान गोत्रों के प्रमुखों में सर्वाधिक शक्तिवान् व्यक्ति कहा जाता था। उसकी शासन शक्ति का कोई निश्चित रूप न था। उसकी शक्ति उसके गोत्र के व्यक्तियों की शक्ति पर आधारित थी। यदि उसके गोत्र वाले शक्तिशाली होते थे तो सम्राट् का शासन दृढ़ हो जाता था और यदि उसके गोत्रवालों की शक्ति कम होती थी तो सम्राट् का नियत्रंण भी शिथिल हो जाता था। सम्राट् का शासन न तो प्रत्यक्ष ही था और न पूर्ण ही। वह गोत्रों के प्रधानों पर शासन करता था और गोत्रों के प्रधान देश के विभिन्न क्षेत्रों पर अधिकार किए हुए थे और उन पर शासन करते थे। इस प्रकार सम्राट् की शक्ति का प्रयोग अप्रत्यक्ष रूप से गोत्रों के प्रधानों के माध्यम से होता था जो उसे सदैव निर्विरोध स्वीकार न करते थे। विकेन्द्रित शासन का यह रूप सन् ६४५ ई० तक जारी रहा।

विकेन्द्रित शासन की कुव्यवस्था को दूर करने के लिए सन् ६४५ ई० में कुछ सुधार किए गए जिनको महासुधार (Great Reforms, जापानी भाषा में Taikwa) की संज्ञा दी जाती है। इन सुधारों के लिए प्रेरणा तत्कालीन चीन की शासन व्यवस्था से मिली। सुधारों की योजना को तैयार करने और उनको लागू करने का भार विद्वान अधिकारियों को सौंपा गया, जिन्होंने वर्षों तक चीन में शिक्षा प्राप्त की थी और जो चीन की संस्थाओं, दर्शन, साहित्य तथा संस्कृति के पूर्ण रूप से विज्ञ थे। ऐसी स्थिति में प्रारम्भ में ये सुधार चीन का अनुकरण मात्र थे पर बाद में अनुभव और देश की परिस्थितियों के अनुरूप बनाने के उद्देश्य से उनमें कुछ सुधार किया गया।

यद्यपि महासुधार सन् ६४५ में किए गए पर परिवर्तन कार्य इससे चालीस वर्ष पूर्व ही आरम्भ हो गया था। सन् ६०४ ई० में वर्ष-समय-गणक (Calendar) को जापान में लागू किया गया। उसी वर्ष १७ अनुच्छेदों के

एक संविधान को भी लागू किया गया। यह जापान का सर्व प्रथम लिखित संविधान था। कुछ समय पश्चात् चीन के ही आधार पर एक केन्द्रीय सरकार की स्थापना की गयी। क्षेत्रीय गोत्रों के प्रधानों के अधिकार कम कर दिए गये। उनके शस्त्रास्त्र जब्त कर लिए गये। सारे देश को प्रान्तों और जिलों में विभक्त किया गया और राज्यपालों तथा अधिकारियों की नियुक्ति की गयी। गोत्रों और राजवंशी लोगों की भूमि भी ले ली गयी और राष्ट्रीय भूमि योजना लागू की गयी। एक केन्द्रीय सैनिक संगठन की स्थापना की गयी और सम्राट् के प्रत्यक्ष समादेश की नींव डाली गई। सम्राट् न केवल वैधानिक प्रधान ही था वरन् वह राज्य का सर्वोच्च पुरोहित भी था। प्रशासन का केन्द्रीयकरण करने के लिए एक लोक सेवा व्यवस्था (Civil Service System) का भी संगठन किया गया। उच्च अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए एक राष्ट्रीय विश्वविद्यालय (National University) की भी स्थापना की गई और प्रान्तों में निम्न अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए शिक्षालय स्थापित किए गए।

भूमि के राष्ट्रीयकरण और गोत्र प्रधानों के अधिकार उन्मूलन से देश के बहुत से भागों में विद्रोह हुए। विद्रोहों को दमन करने के स्थान पर उनका शमन करने के लिए तुष्टीकरण की नीति अपनायी गयी और बहुत से गोत्र प्रधान ही अपने प्रान्त के राज्यपाल घोषित कर दिए गये। उनको स्वयं जिला अधिकारियों की नियुक्ति करने का अधिकार दिया गया और उन्हें पारिश्रमिक के रूप में राजस्व-मुक्त भूमि प्रदान की गयी। इस प्रकार एक वंशानुगत भृत्यतंत्र का जन्म हुआ जिसका स्थानान्तरण भी नहीं किया जा सकता था।

इस नयी शासन व्यवस्था में बहुत सी भूमि राजस्व-मुक्त हो गयी और साथ ही शासन के केन्द्रीयकरण से उसका व्यय भी बहुत बढ़ गया। अतः राजस्वी भूमि की मालगुजारी बढ़ायी जाने लगी। राजस्व धान उत्पादन करने वाली भूमि पर ही लिया जाता था और शेष भूमि पर अधिग्रहणी स्वामित्व स्थापित होने की प्रथा थी। ऐसी स्थिति में बहुत से व्यक्तियों ने बड़ी-बड़ी जायदादें स्थापित कर लीं। बहुत से किसानों ने लगान की अधिकता के कारण अपनी भूमि शासकों को इस शर्त पर दे दी कि उनका अधिग्रहण न हटाया जाय और बहुत से कृषक

अपनी भूमि को छोड़कर अन्य व्यवसायों में लग गये। उनकी भूमि पर अधिकारियों तथा अन्य लोगों ने अधिकार कर लिया। जो भूमि अधिकारियों के अधिकार में आ जाती थी उसे भी राजस्व-मुक्त कर दिया जाता था। इस प्रकार राजस्वी भूमि धीरे-धीरे कम होती जाती थी और राजस्व की कमी को पूरा करने के लिए उस पर लगान बढ़ाया जाता था। फलतः कृषक भी अपनी भूमि छोड़ते जाते थे। इस प्रकार एक दूषित वृत्त बन गया और शनैः-शनैः देश के विभिन्न भागों में शासक-भूस्वामी बन गये जो राजस्व से मुक्त थे और राजा के प्रतिनिधि के रूप में शासन करते थे। कुछ समय पश्चात् इन लोगों ने अपनी सम्पत्ति की रक्षा करने, क्षेत्र में व्यवस्था करने और शासन प्रबन्ध में सहायता देने के लिए अपनी सेना रखना भी आरम्भ कर दिया। जो लोग भूमि छोड़ देते थे वह उसी पर अधिकार करने वाले शासक भूस्वामियों के अधीन ही सैनिक सेवा करने लगते थे। केन्द्रीय सरकार भी धीरे-धीरे शक्तिहीन होती गयी और उसकी शक्तिहीनता के कारण निजी सेना की आवश्यकता बढ़ती गयी। शनैः-शनैः केन्द्रीय सरकार निर्बल और गौण हो गयी उसके स्थान पर भृत्य-वर्गीय-सैनिकवादी-सामन्तवाद स्थापित हो गया।

२. केन्द्रित सामन्तवादी व्यवस्था का प्रारम्भ—नयी विकेद्रिन्त सामन्तवादी व्यवस्था आरम्भ होने के पूर्व जापान में तीन गोत्र सर्वाधिक शक्तिशाली थे : १—गोनो-क्योवे, २—नाकाटोमी, और ३—सोगा। सोगा गोत्र वालों ने नये सुधारों का विरोध सबसे अधिक किया और उसका दमन करने में स्पर्द्धाभाव से नाकाटोमी गोत्र के कामातारी नामक प्रधान ने, जो बाद में फुजीवारा नाम से प्रसिद्ध हुआ, केन्द्रीय सरकार की सहायता की। इस कार्य से साम्राज्य में कामातारी फुजीवारा का प्रभाव बहुत बढ़ गया और उसका गोत्र ही फुजीवारा गोत्र के नाम से प्रसिद्ध हो गया। राजकुमार शोमुतेन्नो ने फुजीवारा गोत्र की कन्या से विवाह किया और जब शोमुतेन्नो सन् ७२४ ई० में सम्राट् बना तो दरबार में फुजीवारा गोत्र का स्थान और भी ऊँचा उठ गया। जापान के पचपनवें सम्राट् मोनोतोकु (Monotoku) ने फुजीवारा गोत्र के प्रधान योशीफुसा (Yoshifusa) को सन् ८५१ ई० में एक महामंत्री का पद दिया और उसकी कन्या से विवाह

किया। मोनोतोकु की मृत्यु पर योशीफुसा अल्पवयस्क राजकुमार सीवातेन्नो (Seiwa Tenno) का राजप (Regent) नियुक्त हुआ। सीवातेन्नो जब सम्राट् बना तो उसने एक आज्ञा द्वारा यह घोषित किया कि राजप और प्रधान मंत्री देश का शासन चलावें और सम्राट् उनके प्रतिवेदनों को सुनेगा। उसने वयस्क सम्राट् के राजप (Kwampaku) का एक नया पद बनाया और फुजीवारा गोत्र के प्रधान को उस पद पर नियुक्त किया। उसी समय से राजप की पुत्री से सम्राट् के विवाह की प्रथा भी चल पड़ी। सन् ११९२ ई० तक इस प्रकार फुजीवारा गोत्र के प्रधान ही जापान के वास्तविक शासक रहे।

फुजीवारा गोत्र के प्रभुत्व काल में ही कुछ दूसरे राजवंशीय गोत्रों की शक्ति बढ़ गयी और उनमें निजी प्रभुत्व की स्थापना करने के लिए संघर्ष होने लगा। फुजीवारा गोत्र की पतनोन्मुख स्थिति इस संघर्ष से लाभ न उठा सकी। सन् ११८५ ई० में मिनामोतो गोत्र के प्रधान योरीतोमो ने अपने विरोधियों पर भारी विजय प्राप्त की और इसके फलस्वरूप सेनानायक नियुक्त हुआ। सन् ११९२ ई० में उसे बर्बरदमन सेनानायक (Seitai Shogun) का पद और देश में व्यवस्था रखने का कार्य दिया गया। उसे राजस्वी भूमि की देख-रेख और पैदावार के पाँचवें भाग को मालगुजारी के रूप में वसूल करने और इस कार्य के लिए कर्मचारी नियुक्त करने का भी अधिकार मिला। इस प्रकार सेना-नायकी व्यवस्था (Shogunancy) नामक एक नयी शासन पद्धति का आरम्भ हुआ। यह नयी शासन पद्धति लगभग ७०० वर्षों तक स्थित रही। इस काल में कई गोत्रों के प्रधान सेनानायक (Shogun) के पद पर रहे पर सबसे दीर्घ और महत्वपूर्ण काल तोकुगावा (Tokugawa) गोत्र के सेना नायकी शासन का था जो सन् १६०३ ई० से सन् १८६७ ई० तक वर्तमान रहा।

केन्द्रीभूत सामन्तवादी शासन व्यवस्था—सेनानायकी शासन व्यवस्था में सम्राट् राज्य का वैधानिक प्रधान बना रहा और वैधानिक प्रधानता के साथ ही न वह केवल सामाजिक प्रधान था वरन् आध्यात्मिक शासक भी था। पर

उसकी स्थिति गौण थी। उसका दरबार क्योटो में था जिसे अधिकांश प्रजा सम्भवतः जानती भी न थी।

शासन की वास्तविक शक्ति सेनानायक के ही हाथ में थी।[1] यद्यपि सेनानायक का अधिकार व पद सम्राट् द्वारा ही प्रदान किया गया था पर वह केवल औपचारिकता की बात थी। सम्राट् को सेनानायक को नियुक्त करने में किंचित्मात्र स्वतंत्रता न थी। सैनिकवादी सामन्तों में जो भी सर्वाधिक शक्तिशाली होता था वही सम्राट् से इस पद को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता था। तोकुगावा गोत्र के इएयासु नामक व्यक्ति ने सेनानायक बनने पर अपने विरोधी गोत्रों की शक्ति को समाप्त कर दिया। सामन्तों को यह भी आज्ञा दी गई कि वह वर्ष में कुछ महीने सेनानायक के शासन स्थान येदो (Yedo) में रहें और जब वह अपनी रियासत पर जायँ उस समय उनका परिवार येदो में ही रहे। इस कार्य से सामन्तों पर सेनानायक का नियन्त्रण स्थापित हो गया और उनके द्वारा किये जाने वाले विद्रोहों की आशंका कम हो गयी।

इस काल में जापान का शासन लगभग सर्वाधिकारी (Totalitarian) था। जनता के व्यक्तिगत दैनिक जीवन और नैतिकता सम्बन्धी छोटी-छोटी बातें भी राज्य द्वारा निर्धारित की जाती थीं। प्रत्येक व्यक्ति के लिए आदेश था कि वह मितव्ययी बने। जनता द्वारा पहने जाने वाले वस्त्रों और उनके निवास स्थानों का आकार-प्रकार भी राजाज्ञा द्वारा निर्धारित किया जाता था।

इएयासु के पश्चात् सेनानायक की स्थिति भी गौण होने लगी और दो पीढ़ियों के पश्चात् शासन में सेनानायक का कोई व्यक्तिगत प्रभाव नहीं रहा। वास्तविक शक्ति उसके समर्थक सरदारों के हाथ में चली गयी जो समुराई (Samurai) कहलाते थे। इस प्रकार जापान इस काल में द्वैध शासन व्यवस्था के अन्तर्गत था। सम्राट् राज्य का वैधानिक प्रधान था और असैनिक तथा सैनिक सभी विषयों पर उसे सर्वोच्च वैधानिक अधिकार था। सम्राट् के

---

[1] "The Shogun was the *defacto* ruler of the country"—N. Ike. *Major Governments of Asia* edited by G. M. Kahins, p. 140.

असैनिक तथा सांस्कारिक कार्य राजप द्वारा संचालित होते थे पर इन कार्यों का कोई विशेष महत्व न था। उसके सैनिक कार्य महासेनानायक द्वारा किये जाते थे। राजप तथा सेनानायक की नियुक्ति में सम्राट् की कोई स्वेच्छा न थी। सम्राट् की स्थिति सेनानायक द्वारा इतनी आच्छादित हो गयी थी कि साधारण व्यक्तियों को संभवतः उसकी स्थिति का ज्ञान तक न था।[१] राजप तथा सेनानायक भी प्रायः अपने समर्थकों के नियन्त्रण में थे।

प्रान्तों में डैम्यो (Daimyo) नामक अभिजातवर्गीय वंशानुगत सामन्त शासन करते थे। पर ये सब अपने सैनिक सरदारों (Samurai) के दबाव में थे। सैनिक सरदारों के परिवार सारे देश की जनता का बीसवाँ भाग थे। इनकी एक विशिष्ट स्थिति थी, उनकी निजी विधियाँ थीं और उन पर उनके न्यायालयों में ही मुकदमा चलाया जा सकता था। सैनिक वर्ग की यह उच्च स्थिति जापान के शासन की एक ऐसी विशेषता है जो किसी न किसी रूप में द्वितीय विश्व युद्ध के अन्त तक पायी जाती रही है और युद्ध के उत्तरदायित्व में उसका भाग सबसे अधिक था।

केन्द्रित सामन्तवादी शासन व्यवस्था का अन्त[२]

सेनानायकी शासन व्यवस्था और उसका आधार केन्द्रित सामन्तवाद वास्तव में परिवर्तित परिस्थितियों के शिकार हुए। ताकुगोवा गोत्र की २०० वर्ष की शान्तिपूर्ण व्यवस्था में सेनानायक युद्ध कला से विमुख होकर प्रासादिक आनन्दों में लिप्त हो गये। इससे उनकी सैनिक क्षमता कम हो गयी। उन्होंने विदेशों से सम्बन्ध न रखने की नीति का अनुसरण किया जिसके फलस्वरूप

[१] "Infact, during the Takugawa period (1603—1867) the Emperor was so much ecclipsed by the Shogun that among the common people the existence of the Emperor was probably unknown." Nobutaka Ike : *Japanese Politics* (1957) p. 40.

[२] विशेष अध्ययन के लिए Inazo Nitobe द्वारा लिखित Japan (1931) के पृष्ठ ६० से १०२ तक, और Francis J. Horner की *A Case History of Japan* (1948) के पृष्ठ ६० से ६८ तक देखिये।

उनके शास्त्रास्त्र पिछड़े हुए रहे। केन्द्रीय शासन भी धीरे-धीरे कुव्यवस्थित हुआ जिससे प्रान्तीय स्वतंत्रता बढ़ गयी। प्रान्तीय शासक और उनके सरदार अपने प्रबन्ध की कुशलता की अभिवृद्धि तथा सुरक्षा को दृढ़ करने के लिए अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाते रहे और कुछ काल में प्रान्तीय शासक सेनानायक से अधिक शक्तिशाली हो गये।

युद्धों के अभाव में सेनानायक ने ज्ञान के विकास का प्रयत्न किया जिससे देशवासियों ने अपने देश के प्राचीन धर्म व इतिहास का अध्ययन किया। इससे एक ओर उनमें राष्ट्रीयता की भावना प्रबल हुई और दूसरी ओर उन्हें अपने सम्राट् की वैधानिक स्थिति और सेनानायक द्वारा किए गये उसके अधिकारों के अतिक्रमण का ज्ञान हुआ। सन् १८२७ ई० में सेनानायकी व्यवस्था (Shogunancy) का इतिहास प्रकाशित हुआ जिससे विद्वानों को यह ज्ञात हुआ कि सेनानायकी संस्था तो ७०० वर्ष भी प्राचीन नहीं है और देश का वैधानिक शासक देवपुत्र सम्राट् है।

इस समय जनता पर अनेक प्रकार के नियंत्रण लगे थे। लोगों के अपने व्यक्तिगत आचरण में बौद्ध, कन्फ्यूसियन तथा शिन्तो धर्म के नियमों का राजाज्ञा से पालन करना पड़ता था। देश के ही विभिन्न भागों में जाने के लिए पारपत्र (Passport) लेना आवश्यक था। पश्चात्य पुस्तकों के आयात पर से प्रतिबन्ध हटा लिया गया था, जिससे शिक्षित जापानवासी पाश्चात्य देशों में होने वाली औद्योगिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक प्रगतियों से परिचित हो रहे थे। नागासाकी में डच लोगों के सम्पर्क से कुछ लोग पाश्चात्य भाषाएँ भी जानने लगे थे। उनको पाश्चात्य विज्ञान का भी टूटा-फूटा ज्ञान था। पर विदेशियों से सम्पर्क निषिद्ध था। इन सब कारणों से समस्त जनता और विशेष रूप से विद्वानों में असन्तोष बढ़ रहा था।

शासन की खराबी और निर्धनता, विदेशी व्यापार का अभाव और व्यापारियों तथा शासकों की गठबन्दी के कारण देश की आर्थिक स्थिति, विशेषकर कृषकों की दशा अत्यन्त शोचनीय हो रही थी। इससे समय-समय पर विद्रोह होते थे।

इस समय विभिन्न प्रमुख गोत्रों में पारस्परिक प्रतिस्पर्धा बढ़ रही थी। पश्चिमी

गोत्र विशेषकर सत्सुमा (Satsuma) और चोशु (Choshu) सदैव इस प्रयत्न में लगे रहते थे कि किसी प्रकार तोकुगावा शोगुनत का अन्त हो। वे उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा कर रहे थे। बहुत से प्रान्तीय शासक और उनके सैनिक सरदार भी तोकुगावा शासन के विरोधी हो गये थे। तोकुगावा गोत्र में स्वयं सेनानायक के उत्तराधिकार के प्रश्न पर फूट उत्पन्न हो गयी थी और उसके प्रमुख परिवार एक दूसरे को नीचा दिखाने की ताक में लगे हुए थे।

इस विषम परिस्थिति में ही संयुक्त राज्य अमेरिका का एक जल-सेना अधिकारी कमोडोर पेरी (Commodore Perry) जापान द्वारा अनुसरित अन्तर्राष्ट्रीय पृथकत्व की नीति को समाप्त करने का दृढ़ संकल्प करके एक सशक्त जहाजी बेड़ा लेकर ३ जुलाई १८५३ को याकोहामा खाड़ी में आ पहुँचा। जापान की पृथकता समाप्त करने के अतिरिक्त पेरी का उद्देश्य समुद्र में टूट ले जाने वाले जलयानों के नाविकों की रक्षा, टूटे हुए जलयानों को बन्दरगाहों में ले जाने और मरम्मत कराने तथा बंदरगाहों में व्यापार करने आदि की सुविधाएँ प्राप्त करना था। सेनानायक को अपनी दुर्बलता और अमेरिका की शक्ति का ज्ञान था। अतः वह विदेशियों के लिए देश का दरवाजा शान्तिपूर्वक खोल देने के पक्ष में था। पर उसके सरदार जिन्हें स्थिति का पूरा ज्ञान न था इस विचार का विरोध करते थे। सेनानायक ने अपने मत को बल देने के लिए इस प्रश्न पर सम्राट् का समर्थन प्राप्त करना चाहा। इस उद्देश्य से उसने स्थिति के सम्बन्ध में एक ज्ञापन क्योतो भेजा और उस पर सम्राट् की राय माँगी। सम्राट् इस समय ताकुगावा गोत्र के विरोधी सात्सुमा और चोशु गोत्र के सरदारों के प्रभाव में था, इसलिए सम्राट् ने पृथकत्व नीति का ही समर्थन किया और विदेशियों को किसी प्रकार की सुविधा न देने के पक्ष में अपनी आज्ञा दी। फिर भी शक्ति से भयभीत होकर सेनानायक ने पेरी से सन् १८५४ में एक सन्धि कर ली जिसके अनुसार नागासाकी तथा अन्य दो बन्दरगाह कोयला और जीवन सामग्री लेने तथा जलयानों की मरम्मत कराने के लिए खोल दिए गये। शिमोदा में रहने के लिए एक वाणिज्य दूत की नियुक्ति के लिए स्वीकृति दे दी गयी और टूट जाने वाले जलयानों के नाविकों की रक्षा करने तथा अधिकतम अनुगृहीत राष्ट्र का व्यवहार प्रदान का

वचन दिया गया। उसी वर्ष ब्रिटेन से, दूसरे वर्ष रूस से और सन् १८५५-५७ में हालैण्ड से भी सेनानायक ने उसी प्रकार की सन्धियाँ कीं। इन सभी देशों को क्षेत्राधिकारमुक्ति की सुविधाएँ भी मिलीं जिनके अनुसार किसी भी विदेशी पर देशी जज के न्यायालय में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता था।

जैसा ऊपर कहा गया, सात्सुमा और चोशु गोत्र तो इन सन्धियों के विरोधी थे ही, तोकुगावा गोत्र के बहुत से लोग, बहुत से प्रान्तीय शासक और सैनिक सरदार भी विदेशियों से स्थापित किए गये सम्बन्धों का विरोध करते थे। अधिकांश जनता भी विदेशियों का विरोध करती थी। विदेशी शक्ति में मदान्ध होकर डींग मारते थे कि वे जानते हैं कि इन कुत्तों से कैसे व्यवहार किया जाय। इन कारणों से जापानवासियों और विदेशियों में स्थान-स्थान पर संघर्ष हुआ।

इस असन्तोष के समय ही सन् १८६६ ई० में पुराने सेनानायक की मृत्यु हो गयी और योशीनोबू नामक व्यक्ति नया सेनानायक हुआ। इस उपयुक्त अवसर पर ताकुगावा गोत्र के विरोधी पश्चिम के सात्सुमा, चोशु, तोशा और हीजन गोत्र के प्रधानों ने सम्राट् द्वारा एक ज्ञापन योशीनोबू के पास भिजवाया जिसमें तत्कालीन विदेशी दबाव के समय में दोहरी शासन-प्रणाली की अनुपयुक्तता पर बल दिया गया और यह अनुरोध किया गया कि वह शासन की वास्तविक शक्ति को उसके वैधानिक अधिकारी—सम्राट्— को वापस कर दे। योशीनोबू जानता था कि समय उसके विरुद्ध है। कृषक, सैनिक वर्ग, प्रान्तीय शासक, बहुत से गोत्र तथा स्वयं उसके ही गोत्रवाले उस व्यवस्था के विरोधी हैं। अनधिकार से हस्ताक्षर की सन्धि के कारण असन्तोष तीव्र था ही। ऐसा कहा जाता है कि उसे स्वयं उलझन वाले पद से विशेष रुचि नहीं थी। इसके अतिरिक्त ज्ञापन को सबल करने के उद्देश्य से विरोधी गोत्रों के प्रधानों ने सम्राट् की ओर से उसके साथ अनुज्ञा रूप में एक विशाल सेना भी भेजी। योशीनोबू को इस सेना के विरुद्ध सफलता प्राप्त होने का भी पूरा विश्वास न था। अतः ज्ञापन को स्वीकार करते हुए उसने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया और नगर का सिंहद्वार सम्राट् की सेना के प्रवेश के लिए खोल दिया। योशीनोबू द्वारा

पद त्याग करने पर भी उसका समर्थन करने वाले उसके गोत्र के कुछ लोगों ने विद्रोह कर दिया जिसे शीघ्र ही दबा दिया गया। इस प्रकार ताकुगावा एक वास्तविक राज्यक्रांति के द्वारा शासनाधिकार से निराधिग्रहित किये गये।[१]

इसी बीच में सन् १८६७ ई० में सम्राट् कोमेइतेन्नो का देहान्त हो गया और उसका सोलहवर्षीय पुत्र मुत्सुहितो मेइजी (Meiji) की उपाधि के साथ जिसका अर्थ उदार (Benevolent) होता है, २५ जनवरी सन् १८६८ को पुनर्स्थापित व्यवस्था का प्रथम सम्राट् हुआ।

मेइजी पुनर्स्थापन (Meiji restoration) का महत्व

पुनर्स्थापन सम्राट् की स्थिति की दृष्टि से कोई विशेष महत्व नहीं रखता है। सम्राट् की स्थिति तो पूर्ववत् गौण ही बनी रही। यद्यपि सेनानायकी शासन व्यवस्था समाप्त हो गयी पर सम्राट् स्वयं वास्तविक शासक न बन सका। पहले तोकुगावा गोत्र के प्रधान सम्राट् के नाम पर शासन करते थे अब उसके स्थान पर सात्सुमा और चोशु गोत्र वाले उसके नाम पर शासन करने लगे। पहले सभी पद तोकुगावा गोत्र के लोगों को मिलते थे अब उन पदों पर सात्सुमा और चोशु गोत्र वाले नियुक्त किये जाने लगे।

पुनर्स्थापन फिर भी महत्वहीन नहीं था। वह नये जापान का आरम्भ था। नया शासक वर्ग विदेशी प्रभुत्व का विरोधी था। पर उसे विदेशी शक्ति के सम्मुख नतमस्तक होना पड़ा था। अतः वह शीघ्र से शीघ्र देश को शक्तिवान् बनाकर विदेशियों से समानता के आधार पर मिलना चाहता था। समस्या प्रकट रूप से सैनिक थी। पर शासक वर्ग समझदार था। वह जानता था कि देश की सैनिक शक्ति सामाजिक प्रगति और शिक्षा, औद्योगिक विकास और शासन की कुशलता पर निर्भर करती है। अतः इस दिशा में दृढ़ प्रयास किया गया। वातावरण और परिस्थितियाँ दोनों ही अनुकूल थीं। इसलिए शिक्षा, समाजिक तथा धार्मिक जीवन, उद्योग, व्यापार, कृषि, सैन्य संगठन, प्रशासन इत्यादि सभी पक्षों में सन् १८६८ से जापान का जिस द्रुतगति से विकास हुआ

---

[१] "The Tokugawas were ejected from power by what was essentially a coup p'etat." John M. Maki, *Government And Politics of Japan*, (1962) p. 14.

वह विश्व को आश्चर्य में डाल देता है और उसका वर्णन भारत ऐसे पिछड़े देश के लिए एक विशेष प्रेरणा की वस्तु है। यह सभी विकास पाश्चात्य देशों की विभिन्न पद्धतियों का अध्ययन और जापान की स्थिति के उपयुक्त चयन करके किया गया। इसलिए जापान के इस विकास को जापान का पाश्चात्यकरण (Occidentalization or Westernization of Japan) भी कहा जाता है पर वास्तव में यह सभी विकास पूर्व और पश्चिम के समन्वय के आधार पर किए गये।

शिक्षा

पुनर्स्थापन के दो वर्ष पश्चात् सन् १८७१ ई० में ही शिक्षा विभाग का संगठन किया गया और दूसरे वर्ष फ्रान्स के आधार पर एक शिक्षा संहिता का निर्माण किया गया। इसके अन्तर्गत सारे देश को आठ भागों में विभाजित किया गया और प्रत्येक भाग में एक विश्वविद्यालय, ३२ माध्यमिक विद्यालय और ६७२० प्रारम्भिक विद्यालय स्थापित करने का निश्चय किया गया। दूसरे वर्ष प्रारम्भिक शिक्षा को अनिवार्य और निःशुल्क बना दिया गया। सार्वजनिक विद्यालय (Public schools) को भी आरम्भ किया गया। सन् १८७३ ई० में खनिज विद्या, इन्जीनियरिंग, कृषि और वाणिज्य के विद्यालय खोलने की योजना बनायी गयी। शिक्षा का विकास इतनी तीव्रता से किया गया कि सन् १८६७ से, जबकि केवल दो-चार शिक्षा संस्थाएँ ही थीं, सन् १९०७ ई० तक अर्थात् पुनरुत्थापन के चालीस वर्ष के अन्दर जापान में विभिन्न प्रकार के विद्यालयों, उनके अध्यापकों और विद्यार्थियों की संख्या निम्नलिखित हो गई।

विद्यालय प्रकार	विद्यालय संख्या	शिक्षक संख्या	विद्यार्थी संख्या
प्रारम्भिक विद्यालय	२११२५	१२२०६८	५,७१३,६६४
अन्धों व बहरों के विद्यालय	३८	२०८	४,०३४
नार्मल स्कूल	६९	११७६	१९,३५९
उच्च नार्मल स्कूल (पुरुषों के)	२	१२२	९७५
,, ,, (स्त्रियों के)	१	४५	३६५

अस्थायी प्रशिक्षण विद्यालय	४	१५	८५
माध्यमिक स्कूल	२८५	५४६२	१,११,४३६
कन्या माध्यमिक विद्यालय	१३२	२,०११	४०,२७२
महा विद्यालय	७	२७१	४,८८८
साम्राजीय विश्वविद्यालय	३	५०३	७,३७०
व्यवसायिक स्कूल	५३	१,७४५	२६,३१८
औद्योगिक स्कूल	५,२८४	५,७३८	२,५०,०९०
औद्योगिक शिक्षक ट्रेनिङ्ग स्कूल	३	२०	१७३
अन्य	२,१७३	७,७०५	१,५०,६६८
योग	३५,१७९	१,४७,०५९	६३,२९,६९९

इस समय विद्यालय जाने वाली आयु वाले बच्चों के ९७ प्रतिशत बच्चे विद्यालय जाते थे। पश्चिमी तथा जापानी विचारधारा के समन्वय का सबसे ज्वलंत उदाहरण शिक्षा का पाठ्यक्रम और उसकी प्रणाली थी; शिक्षा का प्रारम्भिक सङ्गठन फ्रान्स के संङ्गठन के आधार पर किया गया। पर बाद में उसे प्रशा की प्रणाली में परिवर्तित कर दिया गया। पुरुषों और स्त्रियों दोनों की शिक्षण पद्धति अमेरिका के ढङ्ग पर की गई। प्राइमरी पाठ्यक्रम में जापानी इतिहास, भूगोल, गणित, विज्ञान, कला, सङ्गीत, शारीरिक विकास और लड़कियों के लिए इनके अतिरिक्त सिलाई भी थी। विदेशी भाषाओं विशेषकर अंग्रेजी के लिए पृथक विद्यालय स्थापित किए गये। पर इन विषयों के साथ जापानी नीतिशास्त्र, राष्ट्रीयता तथा सम्राट के प्रति भक्ति-भाव को दृढ़ करने पर विशेष बल दिया गया। सारी पुस्तकें सरकार द्वारा विरचित तथा प्रकाशित थीं। इस कारण उपरोक्त बातों की ओर समुचित रीति से ध्यान दिया जा सका। प्राइमरी विद्यालय से विश्वविद्यालय तक के सभी अध्यापकों के लिए शिक्षा विभाग द्वारा प्रदत्त शिक्षा अनुज्ञप्ति (Licence of Teaching, L. T.) प्राप्त करना आवश्यक था।

३० अक्टूबर सन् १८९० ई० में सम्राट् का एक आदेश प्रकाशित हुआ। इसका प्रभाव जापान की जनता पर सबसे अधिक कहा जाता है। सारी पुस्तकों

और मीमांसाओं को लिखने में इसे आधार रूप में प्रयोग किया गया और यह आदेश जापानवासियों के चरित्र का एक पूर्ण आदर्श प्रस्तुत करता है। इसमें कहा गया—

हमारी प्रजा तुम्हें यह विदित हो :

हमारे सम्राटीय पूर्वजों ने हमारे साम्राज्य को एक विस्तृत और चिरस्थायी आधार पर न्यासित किया है और गुण को गहराई तथा मजबूती से रोपित किया है; पैतृक दया और राजभक्ति में चिर सङ्गठित हमारी प्रजा ने उसकी सुन्दरता को पीढ़ी प्रति पीढ़ी से चित्रित किया है। हमारे साम्राज्य के मूल स्वरूप का यही गौरव है, और इसी में हमारी शिक्षा का स्रोत निहित है। हमारी प्रजा, तुम अपने माता-पिता के प्रति पितृ प्रेमी, भाई बहन के प्रति स्नेहपूर्ण, पति पत्नी के रूप में सुखद और मित्र के रूप में सत्यवादी बनो; अपने को विनीत और संयत रखो, सबको अपनी उदारता दिखाओ, ज्ञान को उत्पन्न करो, कलाओं को उन्नत करो, उनसे बौद्धिक गुणों का विकास करो और नैतिक शक्तियों को पूर्ण बनाओ। इसके अतिरिक्त लोक कल्याण का विकास करो, सामान्य हितों को उन्नत करो, सदैव संविधान का आदर करो और विधि का पालन करो; यदि आपदा उत्पन्न हो तो अपने को साहस से राज्य को अर्पित करो और इस प्रकार आकाश और पृथ्वी के समवयस्क हमारे साम्राज्यीय सिंहासन की सम्पन्नता का पोषण करो। इस प्रकार तुम न केवल हमारी अच्छी और विश्वासपात्र प्रजा होगे वरन् अपने पूर्वजों की सर्वोत्तम परिपाटियों को भी प्रख्यात करोगे।"[१]

सामाजिक तथा धार्मिक जीवन

इस काल में सामाजिक तथा धार्मिक जीवन में भी पाश्चात्य और पूर्वी आदर्शों का समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। १७ जून सन १८६६ ई० को सम्राट् की एक आज्ञा से सामन्तवाद का अन्त कर दिया गया और कृषि

---

[१] Francis J. Horner की पुस्तक '*A Case History of Japan*' के पृष्ठ १०५ से अनूदित।

योग्य भूमि का स्वामित्व अधिग्रहण वाले कृषकों को दे दिया गया। समाज के चारों वर्ग—सैनिक, कृषक, कारीगर और व्यापारी–समान घोषित कर दिये गये। स्त्री पुरुषों में समानता स्थापित करने का प्रयत्न किया गया और लड़कियों के लिए भी शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी। धार्मिक जीवन में उदारता लायी गयी। सन् १८७० में टीके लगाने को प्रोत्साहन दिया गया। सन १८७१ में बालों को जो अभी तक ऊपर बाँधे जाते थे, काटने की आज्ञा दे दी गयी। तलवार बाँधना वैकल्पित कर दिया गया। विभिन्न वर्गों में विवाह करने की अनुमति दे दी गयी। सन् १८७२ में झुक कर प्रणाम करने के स्थान पर सीधे रहकर प्रणाम करना स्वीकार कर लिया गया। उसी वर्ष याकोहामा में एक ईसाई चर्च बनाया गया और पश्चिमी ज्ञान के लिए टोकियो में विभिन्न प्रकार के सोलह विद्यालय स्थापित किये गये। रविवार छुट्टी का दिन घोषित किया गया। अदालतों में पाश्चात्य वस्त्र पहने जाने लगे। सन् १८७३ में ग्रेगरी पंचाङ्ग लागू किया गया। इसी वर्ष सम्राट् और सम्राज्ञी की केश विन्यास विधि भी परिवर्तित कर दी गयी। सन् १८७४ में सिगार व सिगरेटें बनना भी आरम्भ हुआ। सन् १८७५ से टोकियो में गैस का प्रकाश प्रयोग किया जाने लगा। उसी वर्ष वहाँ एक ऋतु-विज्ञान निरीक्षण-शाला स्थापित की गयी। सन् १८७६ में तलवार बाँधना निषिद्ध कर दिया गया। इसी वर्ष एक किन्डरगार्टन विद्यालय और एक कृषि महाविद्यालय स्थापित किया गया जिसमें अमेरिका निवासी शिक्षक नियुक्त किए गये। सन् १८७७ में रेडक्रास सोसाइटी की जापान में स्थापना हुई। तार का प्रारम्भ सन् १८६९ में ही हुआ था। सन् १८७७ में टेलीफोन व्यवस्था भी आरम्भ हुई। जापान में डाक व्यवस्था सन् १८७१ में चालू हो गयी थी। सन् १८७५ से डाक विभाग बचत बैंक (Savings Bank) तथा धनादेश (Money order) सेवा भी करने लगा। सन् १८७७ में जापान अन्तर्राष्ट्रीय डाक संघ का सदस्य हो गया। रेलों का प्रारम्भ जापान में सन् १८६९ में हुआ था और सन् १८८६ में उनका राष्ट्रीयकरण कर दिया गया था। सन् १९०७ में जापान में ६,७३५ मील लम्बी रेलवे लाइन, ५,७६० डिब्बे, २,०६४ इञ्जन तथा ३४,१०५ माल गाड़ी के डिब्बे थे। यात्रा सम्बन्धी प्रतिबन्ध तो सन् १८६८

में ही हटा दिए गये थे। संचार और परिवहन के साधनों के विकास से आवागमन व समाचार भेजने की सुविधा हो गयी। इससे स्थानीयता की भावना कम हुई और राष्ट्रीय एकता का विकास हुआ।

उद्योग व्यापार व कृषि

पुनर्स्थापन के समय जापान केवल एक कृषक देश था। उसके पास न मशीनें थीं न वाष्पचालित जहाज ही थे। अन्तर्राष्ट्रीय पृथकत्व की नीति के कारण वह अन्य देशों में होने वाले आविष्कारों का लाभ न उठा सका था। फलतः इसका विदेशी व्यापार भी नाम मात्र का ही था। कृषि भी पिछड़ी हुई थी और उसके लिए पुराने यंत्रों का ही प्रयोग किया जाता था। पर सन् १८६८ से सभी दिशाओं में तीव्रता से प्रगति होना आरम्भ हुआ। सन् १८६८ में जापान में एक भी कम्पनी नहीं थीं पर सन् १९०६ तक ९,३२९ कम्पनियाँ स्थापित हो गयीं। इनमें ३२ जीवन बीमा कम्पनियाँ, १८ आग की बीमा कम्पनियाँ, ८३ सूत कातने के कारखाने थे। सूत कातने के कारखानों में १४ लाख से अधिक तकुए थे। सन् १८६८ में सम्राट की आज्ञा हुई कि जलयानों का तीव्रता से निर्माण हो। सन् १८७० में एक जलयानी एकेडमी तथा एक नौ-इन्जीनियरिंग विद्यालय खोला गया जिनमें अंग्रेज शिक्षक रखे गये। विशेष ज्ञान प्राप्त करने के लिए विद्यार्थी विदेश भी भेजे गये। सन् १८७२ तक जापान के पास केवल ४६ जलयान थे जिनका भार केवल १७,९४८ टन था। पर सन् १९०८ तक जापान के पास १,११,६०,४४० टन भार के २,३०४ स्टीमर; ३,८४,४८१ टन भार के छोटे जलयान और ९,३२,५९९ टन भार के ३३८ जलयान थे जिनमें से प्रत्येक का भार १००० टन से अधिक था। यह सारे जलयान व्यापारिक थे और व्यापारिक जलयानों में जापान ने उस समय विश्व में छठा स्थान प्राप्त कर लिया था। विदेशी व्यापार की भी उन्नति हुई और वह सन् १८६८ से १९०७ तक ३५·३ गुना बढ़ गया। जापान के उद्योग और व्यापार के विकास को अधिक बताने की आवश्यकता नहीं। हममें से अधिकांश व्यक्ति द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व की जापान की औद्योगिक और व्यापारिक स्थिति से परिचित हैं जबकि वह विश्व

के इस भाग में अंग्रेजों की आँख का काँटा बना हुआ था। उद्योगों के विकास के इस काल में कृषि की उपेक्षा नहीं की गयी। पहले पश्चिमी देशों से बीज मँगाये गये पर इससे उत्पादन की वृद्धि न की जा सकी। सन् १८७६ में होकैदो में तथा सन् १८७७ में टोकियो में कृषि शिक्षालय स्थापित किए गये। धीरे-धीरे देश के विभिन्न भागों में छोटे-बड़े अनेक कृषि विद्यालय स्थापित हो गये। सरकार ने पशुओं की नस्ल और बीजों में सुधार किया; कृषक संघ और सहयोगी समितियाँ स्थापित की; कृषि बैंक स्थापित किये जिनकी संख्या सन् १९०६ में ४६ थी। छोटे कृषकों को संयुक्त-पूँजी-निगम (Joint Stock Corporations) बनाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। सन् १९०६ में ऐसे निगमों की संख्या १,४०० से अधिक थी। फसलों की बीमारियों को दूर करने का प्रयत्न किया गया। पश्चिमी खादें प्रचलित की गयीं, जिनकी बिक्री सरकार के नियंत्रण में थी। इन प्रयत्नों से सन् १८६८ से १९०७ तक धान की पैदावार दूनी और गेहूँ, जौ तथा रेशम के कीड़ों की उपज ढाई गुनी बढ़ गयी।

सैन्य सङ्गठन

जापानवासी दक्षिणी पूर्वी एशिया में पाश्चात्य राष्ट्रों के कृत्यों को देख चुके थे और इसी कारण वे उनसे सम्बन्ध स्थापित न करना चाहते थे। पर पाश्चात्य शक्ति के सम्मुख उनको झुकना पड़ा था। अतः उन्होंने उस साम्राज्यवादी शोषण से बचने का मुख्य उपाय शक्तिवृद्धि ही माना और शीघ्र से शीघ्र उसे बढ़ाने का प्रयत्न किया। सन् १८६८ में सेनानायक के पतन के समय उसके पास १३,६२५ व्यक्तियों की ३ सेनाएँ थीं। फिर भी उनकी दशा अच्छी न थी। सन् १८६८ में एक सैनिक स्कूल स्थापित किया गया जो दूसरे वर्ष उच्च अधिकारी महाविद्यालय (स्टाफ कालेज) मे परिवर्तित कर दिया गया। धीरे-धीरे सन् १८९३ तक देश में १६ प्रशिक्षण विद्यालय स्थापित हो गये। दो उच्च अधिकारी विदेशी सैन्य संगठनों का अध्ययन करने भेजे गये और सन् १८७० ई० में उनके लौटने पर उनको सैन्य सुधार का कार्य सौंपा गया। उन्होंने फ्रान्सीसी पद्धति का अनुकरण

करके एक सम्राजीय रक्षकदल (Imperial Guard) स्थापित किया। इससे सैन्य संगठन केन्द्रीभूत हो गया और राजतंत्र की सुरक्षा बढ़ गयी। सन् १८७२ में युद्ध विभाग को स्थलसेना व नौसेना दो विभागों में विभाजित कर दिया गया। पुराने सैनिक वर्ग की सैनिक सेवाएँ समाप्त कर दी गयीं। एक अनिवार्य सैनिक सेवा विधि लागू की गयी। सन् १८७६ में देश को ६ सैनिक जिलों में विभाजित किया गया। उनमें अलग-अलग छावनियाँ बनायी गयीं। पैदल सेना, घुड़सवार सेना और तोपखाना इत्यादि का संगठन किया गया। इनमें शान्ति के समय ३१,६८० और युद्ध काल में इससे डेढ़ गुने सैनिकों की व्यवस्था थी। प्रत्येक वर्ष में दस अधिकारी प्रशिक्षण के लिए फ्रान्स जाते थे। सन् १६०० ई० में उत्तरी चीन में जापान के सैनिकों ने विदेशी सैनिकों की बराबरी में युद्ध किया और उस समय अनुभव की गई कमियों के आधार पर पुनः कई सुधार किए गये। इस सारी व्यवस्था से सेना के व्यय में सन् १८६८ से सन् १६०८ तक १०३ गुनी वृद्धि हो गयी।

नौ सेना के संगठन में सन् १८६८ के पूर्व भी प्रयत्न किए गये थे पर सन् १८७२ तक जापानी नौ सेना के पास केवल सत्रह जलयान थे, जिनमें केवल दो लौहाच्छादित, एक मिश्रित तथा शेष लकड़ी के थे। सन् १८७६ तक जापानियों ने स्वयं केवल तीन जलयान बनाये थे, पहला सन् १८६६ में १३८ टन का, दूसरा सन् १८७५ में ८६७ टन का और तीसरा सन् १८७६ में १४५० टन का। इसके बाद जलयानों के निर्माण का सुनियोजित कार्यक्रम आरम्भ किया गया। सन् १८६४-६५ में चीन-जापान युद्ध में जापान की जलसेना का परीक्षणात्मक प्रयोग किया गया और अनुभव की गई त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न किया गया। सन् १६०७ तक जापान के पास १२६ जलयान हो गये, जिनका भार ५,०६,०६३ टन था और उनमें ४६,४६३ नौसैनिक था। इनके अतिरिक्त ७७ पनडुब्बियाँ भी थीं जिनमें २५,१४८ नौसैनिक थे।[1]

---

[1] विस्तृत वर्णन के लिए Count Shigenobu Okuma द्वारा सम्पादित *Fifty Years of Japan* (1920), 2 Vols देखिए।

प्रशासन

प्रशासन सुधारने की दो आवश्यकताएँ थीं: प्रथम, सेनानायक द्वारा की गयी असमान संधियों को समाप्त करने के लिए यह आवश्यक था कि देश का प्रशासन ऐसा हो जिसे पाश्चात्य देश वाले एक सभ्य देश का शासन कह सकें। पर इससे अधिक महत्व की आवश्यकता नव परिवर्तित शासन को दृढ़ करना था। सेनानायक के शासन की व्यवस्था सामन्तवादी थी। जब तक सेनानायक के पद पर योग्य और कर्मठ व्यक्ति होता था प्रान्तीय सामन्ती शासक दबे रहते थे। पर जब सेनानायक अयोग्य होता था तो प्रान्तीय शासक स्वयं संगठन बनाकर नया शोगू पदारूढ़ कराते थे। अतः प्रशासन में स्थायित्व लाने और जनता की निष्ठा को प्रान्तीय शासकों से हटाकर केन्द्रीय सरकार में केन्द्रित करने के उद्देश्य से सर्वप्रथम सामन्तवाद का अंत किया गया। सेनानायक की रियासत पहले ही ले ली गयी थी। अब अभिजात वर्गीय प्रान्तीय शासकों (Daimyos) और उनके सैनिक सरदारों (Samurai) की भूमि भी ले ली गयी और उनके निर्वाह के लिए उनकी पेन्शन निर्धारित हुई। उन्हें न्यायालय तथा सेना सम्बन्धी कार्यों से भी मुक्त कर दिया गया। उनके किले, जलयान, खानें तथा शस्त्रास्त्र राज्य ने ले लिए। कुछ समय तक अभिजातीय शासकों को अपने क्षेत्र के जिलों में केन्द्र द्वारा नियुक्त अधिकारी के रूप में रखा गया पर सन् १८७१ में उन्हें आदेश दिया गया कि वे टोकियो में ही रहें। उनके स्थान पर केन्द्र द्वारा नियुक्त नये अधिकारियों ने कार्य-भार सँभाला। कुछ समय पश्चात् उनकी पेन्शनें भी समाप्त कर दी गयीं और उनके स्थान पर प्रतिकर निर्धारित हुआ जिसकी आधी धनराशि नकद और आधी धन राशि के बांड दिए गये जिन पर आठ प्रतिशत ब्याज देना निश्चित हुआ। सैनिक वर्ग की विशिष्ठता अनिवार्य सैनिक सेवा पद्धति आरम्भ होने से समाप्त हो गई। इस प्रकार सामन्तवादी समय का वर्ग-विभाजन भी समाप्त हो गया।

विधि में भी सुधार किया गया। सामन्तवादी समय में जनता पर लगाए गये प्रतिबन्ध समाप्त कर दिए गए। सामाजिक तथा धार्मिक समानता स्थापित

की गयी । सामन्ती न्यायालय समाप्त कर दिए गये ! सन् १८७० में एक नवीन व्यवहार संहिता (Civil Code) प्रचलित किया गया । दूसरे वर्ष दंड विधि (Criminal Law) में सुधार करने का प्रयत्न किया गया । सन् १८७२ में व्यवसाय और व्यापार की स्वतंत्रता की घोषणा की गई । न्यायालयों में पाश्चात्य वस्त्र पहने की आज्ञा दी गई । सन् १८७३ में एक फ्रान्सीसी विधि वेत्ता (Monsieur Boissonade) के निदेशन में दंड विधि संहिता का संशोधन आरम्भ हुआ । इस कार्य में नौ वर्ष लगे और संशोधित संहिता सन् १८८२ में लागू हुई । व्यवहार-संहिता के विरुद्ध भी विदेशियों ने आपत्ति की । इस आपत्ति के निवारण के लिए व्यक्ति और सम्पत्ति सम्बन्धी भाग का संशोधन किया गया । उसी वर्ष विधि-शास्त्र के विद्वानों की एक समिति नियुक्त की गयी और उसे सम्पूर्ण व्यवहार-संहिता पर विचार करने और आवश्यक संशोधनों के लिए सुझाव देने का कार्य सौंपा गया । नयी संशोधित संहिता तैयार और लागू करने में आठ वर्ष लगे । इसके पश्चात् व्यवहार-प्रक्रिया-संहिता (Civil Procedure Code) को सुधारा गया । व्यावहारिक-विधि के संहिताकरण में अट्ठारह वर्ष का समय लगा और यह संहिता सन् १८९९ में लागू हुई ।

शासन के राजनैतिक पक्ष में भी सुधार किया गया । सन् १८६८ में सम्राट् ने एक शपथ-पत्र प्रकाशित किया जिसे पुनर्स्थापित शासन का प्रथम संविधान कहा जा सकता है । इसमें कहा गया कि 'वाद-विवाद और विचार-विमर्ष की प्रणाली सब जगह अपनायी जायेगी और सभी विषय लोक-तर्क द्वारा निश्चित किए जायेंगे ।...सभी वर्गों के अधिकार सुरक्षित होंगे और...हर कार्य का आधार निष्पक्षता और न्याय होगा' । परिवर्तन काल के असन्तुष्ट हितो द्वारा उत्पन्न अशान्ति के कारण इस दिशा में कोई ठोस कदम नहीं उठाया जा सका । विदेशी सम्पर्क और पाश्चात्य ज्ञान के अर्जन से जनता में पाश्चात्य प्रजातंत्रीय संस्थाओं की स्थापना के लिए माँग होने लगी । राजनैतिक दल संगठित हो गये और प्रतिनिधि शासन स्थानित करने वाले संविधान के लिए आन्दोलन छिड़ गया । फलतः सरकार ने यह घोषणा की कि सन् १८९० में एक राष्ट्र सभा का आह्वान किया जायेगा । संविधान निर्माण की तैयारी के लिए चोशु

गोत्र का नेता राजकुमार इतो हिरोबुमि (Ito Hirobumi) जो उस समय सम्राट् के सर्वोच्च परामर्शदाता थे, पाश्चात्य देशों के संविधानों के कार्यकरण का अध्ययन करने के लिए यूरोप और अमेरिका गये। उन्होंने यूरोप में जर्मनी के प्रशा राज्य के संविधान को जापान की परिस्थितियों के सर्वाधिक अनुकूल पाया। स्वदेश आकर उन्होंने गृह-मंत्रालय के अन्तगर्त एक 'संविधान अध्ययन ब्यूरो' स्थापित किया जो संविधान को तैयार करने लगा। इसी बीच में नये संविधान को प्रख्यापित करने के लिए पृष्ठभूमि के रूप में २२ दिसम्बर सन् १८८५ को मंत्रिपरिषद की नियुक्ति हुई और राजकुमार इतो हिरोबुमि प्रथम प्रधान मंत्री हुए। लेखन काल में संविधान पूर्ण रूप से गुप्त रक्खा गया जिससे असामयिक प्रचार से उसके मार्ग में बाधा न पड़े। संविधान लेखन कार्य में एक जर्मन विद्वान तथा एक अँग्रेज कूटनीतिज्ञ से भी विचार-विमर्ष किया गया। संविधान के आधार रूप में प्रशा की भाँति लार्ड बनाए गये। एक लोक सेवा (Civil Service) की स्थापना की गयी। सन् १८८८ में संविधान पर विचार करने तथा उसे स्वीकार करने के लिए एक अंतरंग परिषद (Privy Council) की स्थापना की गयी। अंतरंग परिषद द्वारा पारित हो जाने पर संविधान ११ फ़र्वरी सन् १८८६ को सम्राट् मेइजी द्वारा लागू किया गया। यह संविधान जो मेइजी संविधान के नाम से विख्यात है, सन् १६४५ तक लागू रहा। इस काल में इसमें एक भी संशोधन नहीं हुआ। संशोधन न होने के तीन कारण बताए जाते हैं: प्रथम, संविधान इतनी विद्वत्ता से बनाया गया था कि उसमें बाद में कोई दोष दृष्टिगोचर ही नहीं हुआ। द्वितीय, इसमें केवल मूल सिद्धान्त थे और संशोधन प्रायः विस्तार की बातों में किया जाता है, मूल सिद्धान्तों में नहीं। तीसरे, जनता में इतनी राजनैतिक क्षमता थी कि वह किसी भी प्रकार के संविधान से अपनी सरकार ठीक प्रकार से चला सकती थी या उसमें इतनी राजनैतिक जागरूकता न थी कि वह संविधान की ओर ध्यान दे और सरकार को उसमें संशोधन करने को विवश करे। पर इस संविधान के स्थायित्व का वास्तविक कारण यह प्रतीत होता है कि उसमें इतनी नम्यता (flexibility) थी कि राज्य के शक्तिशाली व्यक्ति या वर्ग उसे अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सके और इस कारण उसके

संशोधन करने की आवश्यकता ही न हुई। संविधान में स्वतंत्र न्यायालय द्वारा न्यायिक पुनरीक्षण की कोई व्यवस्था नहीं थी। इसलिए भारत या संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय की तरह जापान में कोई ऐसी संस्था न थी जो कार्यपालिका या व्यवस्थापिका को संविधान अक्षरशः पालन करने के लिए विवश करती। इसीलिये, जैसा अगले अध्याय में वर्णन किया गया है इस संविधान को सामन्ती वर्ग, राजनैतिक दल और सैनिक वर्ग, समय-समय पर जो भी सत्तारूढ़ हुए, अपनी इच्छानुकूल बिना किसी अड़चन के प्रयोग करने में सफल हुए। अनेक अवसरों पर ऐसी विधियाँ बनायी गयीं जो संविधान के विरोध में थीं पर फिर भी वह लागू की जा सकीं। अतः कोई भी सत्तारूढ़ व्यक्ति उसे परिवर्तित करने को विवश न हुआ। सन् १९४५ में द्वितीय विश्व युद्ध में जापान के पराजित होने पर संयुक्त राज्य अमेरिका के जनरल मैकार्थर के आधीन स्थापित सैनिक शासन ने जापान में प्रजातंत्रीय शासन को सुरक्षित करने के लिये इस नम्य संविधान को जिसमें अन्य भी अनेक दोष थे, हटाकर सन् १९४६ में एक नया संविधान लागू कराया।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. उन्नीसवीं शताब्दी के द्वितीय अर्द्धांश में हुए जापान के पाश्चात्यकरण का वर्णन करिए।

२. मेइजी शासन काल के सुधारों और सफलताओं की पूर्ण रूप से व्याख्या करिए।

३. 'मेइजी युग सामन्ती व्यवस्था को आधुनिक राष्ट्रीय संस्थाओं में परिवर्तित करता है।' इस कथन की समीक्षा करिए।

४. उन कार्यों का वर्णन करिए जिन्हें मेइजी पुनर्स्थापन के प्रारम्भिक वर्षों (१८६८–१८८९) में आधुनिक जापान के निर्माण के लिए किया गया।

५. जापान की भौगोलिक स्थिति का उसकी विदेशी नीति पर क्या प्रभाव पड़ ? विस्तारपूर्वक लिखिए।

६. जापान की शोगूँ शासन व्यवस्था का वर्णन करिए और उसके पतन के कारण बतलाइए।

७. जापान के संवैधानिक इतिहास का संक्षेप में वर्णन करिए।

८. मेइजी पुनर्स्थापन का सम्राट् की स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा ?

मेइजी संविधान | २

"The autocratic type of government······is that class of governments which rests upon the principle that the source of all political authority is to be found in a supreme ruler......In the East, the leading example of a government of this character is that of Japan." W. F. Willoughty, *The Government of Modern State*, 1936.

पिछले आठ दशकों में जापानवासियों ने दो संविधान देखे : प्रथम, मेइजी संविधान (Meiji Constitution) जो सम्राट् मुत्सुहितो मेइजी (Mutsuhito Meiji) ने ११ फरवरी सन् १८८९ को लागू किया और दूसरा, नया संविधान (Shin Kempo) जो सम्राट् हिरोहितो शोवा (Hirohito Showa) ने ३ नवम्बर सन् १९४६ को प्रख्यापित किया और जिसे उसके प्रख्यापक के नाम पर शोवा संविधान (Showa Constitution) भी कहा जा सकता है। यद्यपि उसका 'नया संविधान' नाम कालान्तर में अनुपयुक्त और असत्य हो सकता है पर सन् १८८९ के संविधान को मेइजी संविधान और सन् १९४६ के

संविधान को शोवा संविधान न कह कर केवल 'नया संविधान' (New Constitution) कहना साभिप्राय प्रतीत होता कहा जा सकता है। यह तर्क दिया जा सकता है कि यह नामों का अन्तर केवल दो संविधानों का पृथक-पृथक बोध कराने के लिए नहीं किया गया है वरन् वह उनकी अंतर्वस्तु के अंतर को सूचित करता है। 'मेइजी' तत्कालीन सम्राट् की उपाधि या उपनाम था। अतः मेइजी संविधान का तात्पर्य सम्राट् का संविधान था। पर वतमान संविधान के नाम से सम्राट् के नाम को हटा देना यह आभास देता है कि इस संविधान में सम्राट् की वह स्थिति नहीं है जो पहले संविधान में थी, या दूसरे शब्दों में प्रथम संविधान में सम्राट् का स्थान महत्वपूर्ण था पर दूसरे संविधान में सम्राट् का महत्व नहीं रहा है। यह तर्क युक्ति-युक्त नहीं है पर तथ्य-युक्त अवश्य है। मेइजी संविधान की मुख्य विशेषताओं का अध्ययन कर लेना आवश्यक है। इससे न केवल नये संविधान का अभिप्राय ही स्पष्ट होता है वरन् वह ऐतिहासिक दृष्टि से जापानवासियों की राजनैतिक प्रवृत्तियों का बोध कराता है जो नये संविधान के कार्य कारण के समझने में सहायक होगा।

मेइजी संविधान की विशेषताएँ

(१) लघुतम संविधान—यह संविधान एक अत्यन्त लघु संविधान था और इसे अपने समय के प्रमुख देशों के संविधानों में लघुतम संविधान कहा जा सकता है। सन् १८६७ में बने कनाडा के संविधान में १४७ अनुच्छेद और पाँच अनुसूचियाँ हैं। सन् १८७४ में प्राख्यापित स्विटजरलैण्ड के संविधान में भी १२३ अनुच्छेद हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के मूल संविधान में अवश्य ७ ही अनुच्छेद हैं जबकि जापान के संविधान में ७ अध्याय थे और उन सात अध्यायों में कुल मिलाकर ७६ अनुच्छेद थे। पर संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के अनुच्छेद जापान के संविधान के अध्यायों से भी अधिक विशाल हैं। जापान के संविधान के अनेक अनुच्छेद एक या दो पंक्तियों के ही हैं।

इसलिये जापान का संविधान संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के अर्द्ध भाग से अधिक कठिनता से होगा।[1]

२. विशालतम प्रस्तावना—यद्यपि मेइजी संविधान अपने समय का लघुतम संविधान था पर उसकी प्रस्तावना विशालतम थी। इसमें संविधान के सभी मूल सिद्धान्तों का वर्णन कर दिया गया था। प्रस्तावना में संविधान प्रख्यापित करने के दो प्रमुख उद्देश्य बताए गये थे। प्रथम, उन सिद्धान्तों को प्रदर्शित करना जो सम्राटीय शासन के आचरण में मार्ग दर्शित करने को थे, और द्वितीय उनकी संतति और प्रजा को संकेत करना कि उनको सदैव क्या संरूप करना है। इसके साथ ही संविधान इस बात का प्रमाण था कि सम्राट् अपने पूर्वजों की भाँति जनता के कल्याण को उन्नत और उनके नैतिक और बौद्धिक गुणों का विकास करना चाहता है और जनता की सहायता और योग से राज्य की सम्पन्नता को पोषित करने की आशा करता है। संविधान में यह भी बताया गया था कि सम्प्रभुता सम्राट् को पूर्वजों से उत्तराधिकार में मिली है और वह उसे इस अनुदानित संविधान के अनुसार प्रयोग करेगा। सम्राट् जनता के अधिकारों और सम्पत्ति की सुरक्षा की रक्षा व सम्मान करेगा और संविधान तथा विधि के उपबन्धों के अन्तर्गत उनके उपयोग प्राप्त करायेगा। संविधान के संशोधन की आवश्यकता अनुभव होने पर सम्राट् या उसके उत्तराधिकारी उसका उपक्रम अधिकार प्रयोग करेंगे तथा संशोधन विधेयक को संसद के सम्मुख प्रस्तुत करेंगे जो संविधान के उपबन्धों के अनुसार उस पर अपना मत देगी। संविधान का संशोधन अन्य प्रकार नहीं किया जायेगा। राज्य मंत्री संविधान का पालन करायेंगे और उसके प्रति निष्ठा रखना जनता का कर्त्तव्य है।

३. पाश्चात्य वेष में जापानी विचार—संविधान देखने में पाश्चात्य प्रजातंत्र देशों के संविधान के अनुरूप था। इसमें प्रस्तावना थी और उसके

---

[1] "the constitution of 1889 was a brief document—hardly more than half as long as that of the United States."—Ogg and Zink. *Modern Foreign Governments*, 1949. pp. 952-953.

पश्चात् सात अध्याय क्रमशः 'सम्राट्', 'प्रजा के अधिकार और कर्त्तव्य', 'संसद' 'राज्य मंत्री और अन्तरंग परिषद' (Privy Council), 'न्यायाधिकरण', 'वित्त' और 'अनुपूरक नियम' शीर्षकों के अन्तर्गत वर्णित थे। इस शाब्दिक पाश्चात्यरूपता के अतिरिक्त इसकी अन्तर्वस्तु पूर्ण रूप से जापानी थी। इसका सम्राट् सम्प्रभु था। व्यवस्थापिका केवल विचार-विमर्शी (deliberative) सभा थी। उसका एक सदन सामन्तवाद का गढ़ था। मंत्री सम्राट् के प्रति उत्तरदायी थे। मंत्रियों के अतिरिक्त अन्य कई संवैधानिक और संविधान-बाह्य संस्थाएँ सम्राट् को परामर्श देती थीं। सैनिक वर्ग का प्राबल्य था। कार्य-पालिका व्यवस्थापिका से शक्तिशाली और नियंत्रणमुक्त थी। सम्राट् की दैविकता और दैवी अधिकारों का प्रतिपादन किया गया था। उसमें कार्यपालिका व्यवस्थापिका और न्यायपालिका तीनों प्रकार की शक्तियाँ निहित थीं। वह संविधान की व्याख्या करता था और उसके संशोधन का उपक्रम उसी के आधीन था। स्थल और नौसेना मंत्री सक्रिय सैनिक सेवा के होते थे। इस प्रकार संविधान पाश्चात्य शब्दावली में जापान की तत्कालीन निरंकुशता, सामन्तवाद और सैनिक प्राबल्य को आच्छादित किये था।

४. निरंकुश राजतंत्रवाद[१]—मेइजी संविधान में सबसे अधिक उच्च अधिकारी सम्राट् था। संविधान का सबसे बड़ा भाग उसी के वर्णन से पूर्ण था। संविधान की प्रस्तावना और प्रथम अध्याय जिसमें १७ अनुच्छेद, थे सम्राट् की स्थिति और अधिकारों का वर्णन करते थे। वह असैनिक व सैनिक दोनों प्रकार के शासन का केन्द्र था। वह अपने पूर्वजों के गौरव से सिंहासनारूढ़ हुआ था और उन्हीं से सम्प्रभुता को उत्तराधिकार में पाया था। अनुच्छेद १ में यह घोषित किया गया था कि जापान का साम्राज्य सम्राट् और उसके वंशजों द्वारा चिरन्तन युगों तक अखंड रूप में राजत्व और शासित किया जायेगा। सम्राट् का उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र, उसके अभाव में ज्येष्ठ पौत्र और उसके अभाव में

[१] "The fundamental principle around which the 1889 constitution was built was that of absolute imperial sovereignty." John M. Maki, *Op. cit.*, p. 18.

आयु में द्वितीय पुत्र था। कोई पुत्र या पौत्र न होने पर उसका भाई या उसके पुत्र या पौत्र सिंहासन पाते। भाई का भी अभाव होने पर उसका चाचा और चाचा के अभाव में सम्राट् के वंश के निकटवर्ती व्यक्ति उसके उत्तराधिकारी होते। सम्राट् पवित्र एवं अनतिक्रम्य (Inviolable) था। वह साम्राज्य का प्रधान तथा सम्प्रभुतायुक्त था, जिसे वह संविधान के उपबन्धों के अनुसार प्रयोग करता था। संविधान का व्याख्याकर्त्ता भी वही था। वह संसद की सहमति से विधायनी शक्ति का प्रयोग करता था। वह विधियों को स्वीकृति देता था और उनको प्राख्यापित तथा कार्यान्वित करने की आज्ञा देता था। वह संसद को समाहूत करता था, उसको उद्घाटित करता था, समाप्त करता था, सत्रावसान करता और प्रतिनिधि सभा को भंग करता था। अभिजात सभा (The House of Peers) के कुछ सदस्यों को मनोनीत करता था। संसद के सत्रावसान काल में शीघ्र आवश्यकता के समय में लोक सुरक्षा के पोषण और लोक संकट को दूर करने के लिए वह अध्यादेश जारी कर सकता था। ऐसे अध्यादेश संसद का अधिवेशन होने पर उसके द्वारा अनुमोदित न होने पर भविष्य के लिए अवैध हो जाते थे। वह विधियों को लागू करने, लोक शान्ति व व्यवस्था के पोषण तथा प्रजा के कल्याण को उन्नत करने के लिए सदैव अध्यादेश जारी कर या करा सकता था पर ऐसे अध्यादेश वर्तमान विधि को परिवर्तित नहीं कर सकते थे। वह प्रशासन की विभिन्न शाखाओं के संगठन को विनिश्चित करता था, सभी सैनिक और असैनिक अधिकारियों के वेतन निश्चित करता और उनको नियुक्त तथा पदच्युत करता था। केवल संविधान या अन्य किसी विधि से अपवर्जित व्यक्ति ही इसके अपवाद थे। स्थल और जल सेना का सर्वोच्च समादेश सम्राट् में निहित था और वही उनका संगठन और उनकी शान्तिकालीन स्थिति विनिश्चित करता था। वह युद्ध घोषित करता, शांति करता और सन्धि करता था, वही सैन्यवेष्ठन-स्थिति घोषित करता था। वह अभिजातीय उपाधियाँ, पद, पदक तथा सम्मान के अन्य चिह्न प्रदान करता था। वह सार्वजनिक क्षमा, दोषमुक्ति, दण्ड लघुकरण और पुनर्वासन की आज्ञा देता था। न्याय उसी के नाम होता था। इस संवैधानिक स्थिति के अतिरिक्त

सम्राट् सम्राज्य-धर्म शिन्तो का मुख्य पुरोहित था। उसका सम्मान इतना अधिक था कि टिकटों पर उसका चित्र नहीं छापा जा सकता था। कोई उच्च स्थान से उसे देखता नहीं था। वह सबसे प्राचीन वंश का वंशज माना जाता था और वह केवल जापान का ही नहीं वरन् सारे विश्व का सबसे धनी व्यक्ति था। उसकी धन राशि दस अरब येन (५ अरब डालर) से अधिक थी। वह महत्वपूर्ण नीति-निर्धारक सम्मेलनों और गोष्ठियों में भाग लेता था और मतभेद के समय अन्तिम निर्णय देता था। सम्राट् मेइजी ने संविधान निर्माण में सक्रिय रुचि ली थी और १४ अगस्त सन् १९४५ को सम्राट् हिरोहितो ने युद्ध मंत्री, शस्त्रास्त्र मंत्री और सैन्य प्रधानों (Chiefs of staff) के मत के विरुद्ध स्वयं सर्वोच्च युद्ध निदेशन परिषद (Supreme War Council) की बैठक स्वयं बुला कर तथा विभिन्न पक्षों के मतों को सुनकर परामर्शदाताओं को धन्यवाद देते हुए घोषित किया था कि उन्होंने पोट्सडम उद्घोषणा के निबन्धन स्वीकार करने का निश्चय किया था। सन् १९१२ से बीसवी शताब्दी के चतुर्थ दशाब्द तक जापान में सम्राट् की स्थिति पर प्रो० उएसुगी शिंकिची (Uesugi Shinkichi) और प्रो० मिनोबे तत्सुकिची (Minobe Tatsukichi) में विवाद हुआ जिसके अन्त में मंत्रि-परिषद् ने भी सम्राट् की सम्प्रभुता का समर्थन किया था।

उपरोक्त वर्णन सैद्धान्तिक है। व्यवहार में स्थिति इसके विपरीत थी। सम्राट् के अधिकार वास्तव में अन्य अधिकारी और संस्थाएँ प्रयोग करती थीं। सम्राट् का केवल प्रभाव था। वह राजत्व करता था शासन नहीं। उसके परामर्शदाताओं में मतभेद होने पर सम्राट् शक्तिशाली वर्ग के मत का अनुमोदन मात्र करता था। लोक विषयों के आचरण या उच्च नीति के निर्माण में उसका वैयक्तिक भाग अत्यन्त लघु होता था।[१]

५. द्विसदनीय और विचार-विमर्शी संसद्—मेइजी संविधान ने द्विसद-नात्मक संसद (Diet) की स्थापना की थी। निम्न सदन का नाम प्रतिनिधि सभा

[१] The Emperor personality had extremely little to do with the conduct of public affairs or the making of high policy" Ogg and Zink: *Op. cit.* p. 954.

(The House of Representatives) और उच्च सदन का नाम अभिजात सभा (The House of Peers) था। प्रतिनिधि सभा एक निर्वाचित सदन था। प्रारम्भ में इसकी सदस्य संख्या लगभग ३०० थी पर सन् १९३० के पश्चात् वह बढ़कर ४६६ हो गयी। प्रारम्भ में १५ येन या अधिक कर देने वाले व्यक्ति ही इस सदन के निर्वाचक हो सकते थे, पर सन् १९२५ में धन सम्बन्धी अर्हता समाप्त कर दी गयी। इसकी कार्यावधि चार वर्ष थी पर इसके पूर्व उसे विघटित किया जा सकता था। अभिजात सभा एक स्थायी सदन था। इसमें पाँच प्रकार के सदस्य होते थे: १—सम्राट् से रक्त सम्बन्ध रखने वाले राजकुमार, २—आजीवन कार्यकाल वाले सम्राट् द्वारा उपाधिप्राप्त उच्च लार्ड, ३—सम्राट् द्वारा उपाधिप्राप्त निम्न लार्डों के प्रतिनिधि, ४—अधिक कर देने वाले व्यक्तियों के प्रतिनिधि और ५—श्लाघनीय साम्राज्य सेवा के उपलक्ष्य में सम्राट् द्वारा मनोनीत व्यक्ति। बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशक में इस सदन की सदस्य संख्या लगभग ४०० थी। दोनों सदनों के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष सम्राट् द्वारा नियुक्त किए जाते थे। पर उनका पूर्व निर्वाचन सदनों के सदस्यों द्वारा होता था।

दोनों सदनों के विधायिकी अधिकार समान थे। प्रत्येक विधेयक के लिए दोनों सदनों द्वारा पृथक-पृथक पास होना आवश्यक था और किसी विधेयक पर दोनों सदनों के मतभेद होने पर विधेयक का अन्त हो जाता था। वार्षिक आय-व्यय लेखा की प्रस्तावना प्रतिनिधि सभा में ही हो सकती थी। इसके अतिरिक्त दोनों सदनों के वित्तीय अधिकार भी समान थे।

संसद का सम्प्रभु शक्ति में वास्तविक भाग न था। वह विचार-विमर्श कर सकती थी, विवेयन का विनिश्चय नहीं। वह देश के जनमत का, विशेषकर उसके अनुदार वर्ग के मत का प्रतिनिधित्व करती थी। अभिजात सभा प्रतिनिधियों का मार्ग अवरोध करती थी। संसद का आह्वान सम्राट् की आज्ञा से किया जाता था। उसके वार्षिक सत्र तीन मास के लिए सीमित थे। ससंद के ६ कार्य थे: १—प्रत्येक विधेयक पर सम्मति देना, २—विधेयकों का उपक्रम करना और सरकारी विधेयकों पर मत देना, ३—कार्यपालिका को अभ्यावेदन देना, ४—

सम्राट् को समावेदन देना, ५—प्रजा से प्रार्थना-पत्र प्राप्त करना और ६—सदनों की व्यवस्था के नियम बनाना।

सदनों का उद्घाटन समारोह सम्राट् की अध्यक्षता में अभिजात सभा में होता था। सदनों को संसद विधि द्वारा भी अशक्त कर दिया गया था। सरकार की माँग पर उसे अपना विचार-विमर्श समाप्त कर देना पड़ता था। समितियों में जनता का मत नहीं लिया जा सकता था। उसे सरकार के कार्यों की जाँच का अधिकार न था। सरकार की स्वीकृति के बिना अन्तर्कालीन और वास्तविक प्रवर समितियाँ नियुक्त नहीं की जा सकतीं थीं। सदन में ऐसी कोई बात नहीं कही जा सकती थी जो सरकार के लिए अपमानपूर्ण हो। सदन के व्यय वित्त-मंत्रालय द्वारा निश्चित किए जाते थे। वार्षिक आय-व्यय लेखे का अधिकांश निश्चत व्ययों का होता था जिसे संसद न तो अस्वीकार कर सकती थी और न कम कर सकती थी। संसद द्वारा जब तक आय-व्यय लेखा स्वीकार न होता था सरकार पिछले वर्ष के आय-व्यय लेखा के आधार पर कार्य कर सकती थी। संसद के सत्रावसान काल में सरकार सम्राटीय अध्यादेशों से सभी आवश्यक वित्तीय कार्य कर सकती थी। वह सुरक्षित निधि से धनवैकल्य की पूर्ति कर सकती थी। सम्राटीय गृह विधि (Imperial House Law) जो सम्राट् परिवार के प्रशासन और उत्तराधिकार से सम्बन्धित था संसद के क्षेत्राधिकार के बाहर था। संविधान संशोधन का उपक्रम उसके हाथ में न था। संक्षेप में राष्ट्रीय संसद एक संसदीय शासन की बाह्याकृति देने की एक युक्ति मात्र थी।[१]

६. **महत्वहीन न्यायपालिका**—मेइजी संविधान के अन्तर्गत सबसे कम महत्व का शासनांग न्यायपालिका थी। न्यायपालिका सम्राट् के नाम पर न्याय करती थी और वह न्याय-मंत्रालय के आधीन थी। सर्वोच्च न्यायालय का अध्यक्ष न्यायमंत्री से नीचे पद का होता था। दंड-परीक्षण (criminal trials), जिनमें अपराधी को दण्ड दिया जाता था और व्यक्तियों के मध्य के व्यावहारिक

१ "The National Diet was only a device for giving the appearance of a parliamentary regime." Linebarger and Others : *Far Eastern Governments and Politics*, (1956), p. 375.

कार्यवाही (civil action) वाले मुकदमे न्यायालयों के सम्मुख जाते थे। पर वैधानिक अधिकारों और उपचार-सम्बन्धी विवादों—उदाहरणार्थ मंत्रिपरिषद की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग और जनता के मध्य के विवाद—का निर्णय करने का अधिकार न्यायालयों को न था। ऐसी स्थिति में पीड़ित व्यक्ति पर्यवेक्षी कार्यालय के ऐच्छिक एवं उदार शोधक कार्य पर ही विश्वास कर सकता था। ऐसे विवादों में उच्चतर प्रशासकीय कार्यालय या प्रशासकीय क्षेत्राधिकार न्यायालय में जो सन् १८६० में स्थापित किया गया था, अपील करने की अनुमति दी जा सकती थी। यह प्रशासकीय क्षेत्राधिकार न्यायालय (The Court of Administrative Jurisdiction) केवल नाम के लिए न्यायालय था, पर वास्तव में वह एक प्रकार का प्रशासकीय कार्यालय था और उसका निर्णय सार रूप में एक पर्यवेक्षी प्रशासकीय कार्यालय का शोधक कार्य था। इस प्रकार न्यायपालिका कार्यपालिका के आधीन थी।[१] न्यायाधीशों का पद सुरक्षित था। पर इस सुरक्षा का अर्थ केवल निश्चित पदावधि थी। उन्हें अनुशासनात्मक कार्यवाही के अन्तर्गत पदच्युत किया जा सकता था। न्यायालय को न न्यायिक पुनरीक्षण का अधिकार था और न संविधान की व्याख्या का ही अधिकार था।

७. **बहु केन्द्रीय एवं शक्तिशाली कार्यपालिका**—पीछे सम्राट् के विशद विधायकी, कार्यपालिका सम्बन्धी तथा न्यायिक अधिकारों का वर्णन किया जा चुका है। सिद्धान्त रूप में यह अधिकार सम्राट् में निहित थे पर व्यवहार रूप में वह परामर्शदाताओं द्वारा प्रयोग किये जाते थे। इसलिए सभी सम्राटीय परामर्शदाताओं को सामूहिक रूप में कार्यपालिका की संज्ञा दी जा सकती है। संविधान में चार कार्यपालिका शक्तियों का वर्णन था : १. मुद्राध्यक्ष और सम्राटीय परिवार मंत्री (Lord Keeper of the Privy Seal and Imperial Household Minister), २. अन्तरंग परिषद (Privy Council), ३. मंत्रि परिषद (Cabinet), और ४. सर्वोच्च समादेश (Supreme Command),

[१] "In the prewar period the judiciary was under the control of the executive." Nobutaka Ike : *Japanese Politics*. (1957), p. 71.

कार्यपालिका निर्धारित नीतियों के लिए सम्राट के प्रति उत्तरदायी थी, पर सम्राट उसके कार्यों के लिए उत्तरदायी न था।

अ. मुद्राध्यक्ष और सम्राट् परिवार मंत्री—मुद्राध्यक्ष सम्राट् परिवार विषयों का प्रशासन करता था और परिवार और राज्य विषयों पर मंत्रणा के लिए उत्तरदायी था। वह प्रजा द्वारा दिये आवेदन-पत्रों को रखता था और सभी अध्यादेशों और विधियों पर सम्राट् की मुद्रा अंकित करता था। वह सम्राट् का सर्वोच्च व्यक्तिगत परामर्शदाता था। सम्राट् परिवार मंत्री मंत्रिपरिषद का सदस्य नहीं था। वह परिवार विषयों और उपाधि व पद वितरण पर परामर्श देता था और सम्राट परिवार मंत्रालय की पर्यवेक्षा करता था।

दोनों व्यक्ति प्रधान मंत्री की नियुक्ति पर सम्राट् को परामर्श देते थे और इनकी स्वीकृति से ही कोई व्यक्ति सम्राट् से मिल सकता था।

ब. अंतरंग परिषद्—अंतरंग परिषद एक संविधान परिषद के रूप में स्थापित की गई थी। इसका कार्य संवैधानिक विधियों तथा सम्राट् द्वारा निर्देशित अन्य विषयों पर सम्राट् को परामर्श देना था। इसमें एक अध्यक्ष होता था जिसकी नियुक्ति सम्राट् आजीवन के लिए करता था। इसके अतिरिक्त एक उपाध्यक्ष तथा २५ सदस्य होते थे। मंत्रिपरिषद के सदस्य इसके पदेन सदस्य होते थे। कालान्तर में परिषद की शक्ति बहुत बढ़ गयी और विधि, अध्यादेशों, नियुक्तियों और विदेशी नीति, सभी पर इसका नियंत्रण स्थापित हो गया। वह संविधान की व्याख्या और विधायकी विषयों की जाँच करने लगी। वह मंत्रियों से प्रश्न पूछती थी। कुछ लोग इसे व्यवस्थापिका के तीसरे सदन की संज्ञा भी देने लगे थे। वह प्रधान मंत्री की नियुक्ति पर भी परामर्श देती थी और विदेशी विषयों की पर्यवेक्षा करती थी।

स. मंत्रि-परिषद्—मंत्रि-परिषद राज्य की सर्वाधिक महत्वपूर्ण राजनैतिक संस्था थी और प्रधान मंत्री एक सर्वाधिक शक्तिशाली अधिकारी था। मंत्रि-परिषद के इस महत्व के कई कारण थे। प्रथम, मंत्रि-परिषद राज्य के सर्वोच्च प्रशासकीय संस्था थी। द्वितीय, प्रधान मंत्री और उसके सहयोगी सम्राट् के आन्तरिक वृत्त

तथा वैधानिक सरकार के मध्य की कड़ी थे। वे अंतरंग परिषद के पदेन सदस्य थे। तृतीय, न्यायालय सीधे मंत्रिपरिषद के आधीन थे। चतुर्थ, प्रधान मंत्री का प्रतिनिधि सभा पर भी पर्याप्त अधिकार था। मंत्रि-परिषद का उपरोक्त महत्व होते हुए भी वह एक वैधानिक नहीं वरन् प्रथायी संस्था थी। मेइजी संविधान में मंत्रियों का वर्णन था, मंत्रि परिषद का नहीं। संविधान के अनुसार मंत्रियों का उत्तरदायित्व भी सम्राट् के प्रति था। संसद के प्रति उसका उत्तरदायित्व बाद में प्रथाओं से हुआ। प्रधानमंत्री का अपने सहयोगियों पर पूर्ण नियंत्रण भी न था। स्थल और नौ-सैना मंत्री विशिष्ट स्थिति रखते थे। वे सक्रिय सेवा के अधिकारी होते थे और उनका उत्तरदायित्व अपनी-अपनी सेनाओं के प्रति अधिक था सम्राट के प्रति कम। मंत्रि परिषद को कई संस्थाओं द्वारा त्याग-पत्र देने को भी विवश किया जा सकता था। स्थल और नौ-सेनाएँ अपने मंत्रियों का प्रत्याह्वान करके और उनके उत्तराधिकारी न चुन कर उसे पद त्याग के लिए विवश कर सकती थीं। अभिजात सभा या अंतरंग परिषद उसके कार्य को रोक कर, या बाद में प्रतिनिधि सभा अविश्वास या महाभियोग प्रस्ताव पास करके उसे पद त्याग करा सकती थी। मंत्रियों के लिए संसद का सदस्य होना आवश्यक न था पर वह दोनों सदनों की कार्यवाही में मतदान करने के अतिरिक्त सभी प्रकार से भाग ले सकते थे। सदन के सदस्य होने पर वह मतदान में भी भाग ले सकते थे।

द—सर्वोच्च समादेश—जापान की सामन्तवादी प्रथा ने सैन्य-विभाग को एक विशिष्ट स्थान प्रदान कर दिया था। स्थल और नौ सेना मंत्री जनरल या लेफ्टीनेन्ट जनरल और एड्माइरल या वाइस एड्माइरल पद के सक्रिय सेवा के अधिकारियों में ही हो सकते थे। असैनिक मन्त्रियों में सामूहिक उत्तरदायित्व का विकास हो जाने पर भी ये मन्त्री व्यक्तिगत उत्तरदायित्व को ही मानते रहे। इन दोनों मन्त्रियों तथा सैन्य प्रधानों को सम्राट् से सीधे प्रतिवेदित करने का भी अधिकार था। इस कारण सेनाओं के सर्वोच्च समादेश का प्रभाव बहुत बढ़ गया। सन् १६०३ में सम्राटीय अध्यादेश से सर्वोच्च युद्ध परिषद की स्थापना हुई। इसका सैन्य-विषयों में वही स्थान था जो असैन्य विषयों में अंतरंग

परिषद प्राप्त किये थी। युद्ध-परिषद में दोनों सैन्य मंत्री, सैन्य प्रधान; फील्ड, मारशल, फील्ड एड्माइरल तथा उच्च स्थल और नौसेना अधिकारी होते थे। स्थल और नौसेना अधिकारी समय-समय पर पृथक बैठकें भी करते थे।

कार्यपालिका शक्ति उपरोक्त चार संस्थाओं में बटी होने के कारण उत्तर-दायित्व विभाजित था और नीति-निश्चय में कठिनता होती थी। इसलिए महत्वपूर्ण विषयों पर नीति निर्माण के लिए सम्राट् की अध्यक्षता में सम्मेलन होते थे जो सम्राटीय सम्मेलन (Imperial Conference) कहे जाते थे। इनमें सम्राट् के वंश के राजकुमार, उच्च सैनिक-अधिकारी, वरिष्ट राज्यशासक, मुद्राध्यक्ष, प्रधानमन्त्री तथा अन्य राज्य मंत्री भाग लेते थे। इन सम्मेलनों का निश्चय ही सर्वमान्य होता था। पर यह सम्मेलन साम्राज्य विषयों से सम्बन्धित होते थे। सम्राट् परिवार विषयों पर नीति निश्चय के लिए सम्राटीय परिवार परिषद (Imperial Family Council) थी। इसमें सम्राट् कुटुम्ब के सभी पुरुष, ११ सम्राटीय परिवारों के राजकुमार, मुद्राध्यक्ष, अंतरग परिषद का अध्यक्ष, प्रधानमंत्री, सम्राट् परिवार मन्त्री और राज्य मन्त्री भाग लेते थे। परिषद की सहायता के लिए साम्राटीय अर्थ परिषद, विचार विमर्श मन्डल, सम्राटीय प्रशासक आदि संस्थाएँ थीं।

उपरोक्त बहुकेन्द्रीय कार्यपालिका को जनता के प्रति उत्तरदायित्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। मुद्राध्यक्ष तथा सम्राट् परिवार मंत्री किसी प्रतिनिधि संस्था के प्रति उत्तरदायी न थे। अंतरंग परिषद की भी वही स्थिति थी। मंत्रिपरिषद के असैनिक मंत्री ही किसी रूप में प्रतिनिधि सभा के प्रति उत्तरदायी कहे जा सकते थे पर सम्राटीय सम्मेलन ऐसी संस्था में उसका प्रभाव अधिक महत्व का नहीं कहा जा सकता। उसे कार्यपालिका और प्रतिनिधि सभा के मध्य की कड़ी कहा जा सकता है। सम्मेलन में वह प्रतिनिधि सभा के सामान्य विचार को प्रकट करती थी और प्रतिनिधि सभा में वह सम्मेलन के विचारों का प्रतिपादन करती था। सम्मेलन के निर्णय सम्राट् की अध्यक्षता के कारण विशेष महत्व के माने जाते थे और साथ ही उन्हें स्वीकार न करने पर प्रतिनिधि सभा सम्राट् द्वारा विघटित की जा सकती थी। यह विघटन प्रतिनिधि सभा के सदस्यों की स्थिति अनिश्चित

बनाता था और साथ ही इससे मन्त्रि-परिषद् का भाग्य भी संकटमय हो जाता था। इसलिए मंत्रि-परिषद् अपने राजनैतिक प्रभाव का प्रयोग करके सम्मेलन के निश्चय को पहले से अर्द्धइच्छुक प्रतिनिधि सभा द्वारा स्वीकार कराने का प्रयत्न करती थी। ऐसे निश्चयों पर अभिजात सभा का समर्थन साधारणतया प्राप्त ही हो जाता था। इस प्रकार मंत्रिपरिषद् शासन का प्रजातंत्रीयकरण के लिए प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रयोग किया जाने वाला यंत्र न था वरन् वह अउत्तरदायी तत्वों द्वारा प्रयुक्त प्रतिनिधि सभा को नियंत्रित करने का यंत्र था। सम्मेलन में कालान्तर में सेना का प्रभाव सबसे अधिक हो गया। इस प्रभाव के फलस्वरूप जापान की राजनीति शनैः-शनैः सेना के नियंत्रण में आती गई और जापान उसी क्रम से युद्धोन्मुख होता गया। श्री तोशीकाजू कासे के शब्दों में "सर्वोच्च सैनिक समादेश संविधान के अन्तर्गत असैनिक सरकार से स्वतन्त्र बनाने वाले असाधारण विशेषाधिकारों का उपभोग करता था।.........सर्वोच्च समादेश की यह स्वतंत्रता मेइजी संविधान का निकृष्टतम लक्षण था।......सेना सम्राट् के नाम पर उस राज्यश्री को, जिससे वह आवृत्त था, शोषण करते हुए अधिकारों का प्रयोग करती थी। मांस और रक्त के सम्राटों की नश्वर देवताओं की भाँति उपासना की जाती थी। पर इस प्रकार उपासित सम्राट् व्योम का द्युतिमान चन्द्र न था वरन जल में चन्द्र की प्रतिछाया मात्र थी।...वास्तविक चन्द्र सेना थी जो शक्ति का प्रयोग करती थी और उसके लाभों का उपभोग करती थी। ईश्वर और सीज़र राजमुकुट में संश्लेषित थे पर सम्राट् न तो एक ही था और न दूसरा ही। सर्वोच्च समादेश, ईश्वर और सीजर एक में, सर्वशक्तिमान् था।"[१] मेइजी संविधान की कार्यावधि के अन्तिम दो दशकों में वास्तव में

[१] "The Supreme Military High Command enjoyed extraordinary prerogatives under the constitution making it entirely independent of civil government.......This independence of the supreme command was the worst feature of the Meiji Constitution. ......The Army exercised the power in the name of the Emperor exploiting the Majesty with which he was surrounded. Emperors of flesh and blood were worshipped as the immortal gods. But the Emperor so worshipped was merely the reflextion of the moon

सेना ही सर्वेसर्वा थी और श्री कासे का मत किसी प्रकार अन्योक्तिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। सरकार में सेना के इस प्रभुत्वपूर्ण भाग ने ही १९३० के आगे जापानी प्राधिकारवाद के विकास में अत्यधिक योग दिया।[१]

८. वरिष्ट परिषद् (Council of Elder Statesmen–Genro)—वरिष्ट परिषद् अंतरंग परिषद् का पृष्ठभूमीय बल और सामन्ती सैनिकवाद का प्रमुख स्तम्भ थी। मेईजी संविधान में इसका कोई वर्णन न था और सम्राटीय सम्मेलन की भाँति यह एक संविधान-बाह्य (Extra-constitutional) संस्था थी। इसका कार्य साम्राज्य के अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्नों और प्रधान मंत्री की नियुक्ति पर सम्राट् को परामर्श देना था। इसके सदस्य भी कभी-कभी प्रधान मंत्री हुए। इसका प्रभाव अत्यधिक था और यह अंतरंग परिषद् पर आधिपत्य स्थापित किये थी। सन् १८९२ से सन् १९४० तक इसकी बिना स्वीकृति के एक भी व्यक्ति प्रधानमंत्री नियुक्त नहीं हुआ। सभी महत्वपूर्ण आन्तरिक विधेयकों तथा सन्धियों पर यह सम्राट् की इच्छा को प्रकट करती थी। वरिष्ट परिषद् के इस प्रभुत्व का कारण उसकी सदस्यता थी। इसमें उन व्यक्तियों को सदस्यता प्राप्त थी जिन्होंने स्वयं या जिनके पूर्वजों ने पुनर्स्थापन किया था। इसके प्रारम्भिक सदस्य इतो हिरोबुमि (Ito Hirobumi), यामागाता अरितोमो (Yamagata Aritomo) ओयामा इवाओ (Oyama Iwao) और मत्सुकातो मासायोशी (Matsukato Masayoshi) थे और बाद में कत्सुरातैरो (Katsura Tairo) और सैओनजी किम्मोची (Saionji Kimmochi) इसके सदस्य हुए। इतो हिरोबुमि मेइजी संविधान का निर्माता था। वही प्रथम प्रधान-

---

in the water and not the moon shining in the sky......The real moon was the military who exercised the power and enjoyed all its benefits. God and Caesar were synthesized in the Crown but the Emperor was actually neither one nor another. The supreme command was almighty : God and Caesar in one." Toshikazu Kase : *Eclipse of the Rising Sun*, (1951), p. 21.

[१]"The dominant role of the military in the government contributed greatly to the development of Japanese authoritarianism from 1930 ouwards.

मंत्री हुआ। इसके अतिरिक्त वह तीन बार और प्रधान मंत्री हुआ। यामागाता अरितोमो दो बार प्रधानमंत्री हुआ। वही जापान की सेना का संगठनकर्त्ता था। मत्सुकातो मासायोशी भी तीन बार प्रधानमंत्री हुआ। कत्सुरा तैरो भी तीन बार प्रधानमंत्री हुआ। सैयोनजी किम्मोची दो बार प्रधानमंत्री हुआ। सैयोनजी किम्मोची सन् १६२४ से १६४० तक वरिष्ट परिषद का एक मात्र सदस्य रहा। उसके पश्चात् वरिष्ट परिषद समाप्त हो गई और उसके स्थान पर ज्येष्ठ राज्य-शासक परिषद (Council of Senior Statesmen-joshin) स्थापित हो गयी। इसके सदस्य भूतपूर्व प्रधानमंत्री, मुद्राध्यक्ष, सम्राट् परिवार मंत्री और अंतरंग परिषद के अध्यक्ष थे। यह परिषद मंत्रिपरिषद के मुख्य मंत्रियों के साथ मिलकर आन्तरिक परामर्शदाता समूह का कार्य करती थी।

६. **नागरिकों के अधिकार और कर्त्तव्य**—संविधान के द्वितीय अध्याय में नागरिकों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का वर्णन किया गया था। इसके अतिरिक्त संविधान की प्रस्तावना में सम्राट् की ओर से यह बचन दिया गया था कि वह प्रजा की सम्पत्ति और अधिकारों की सुरक्षा का सम्मान करेगा। अधिकारों की सूची में निवास और उसके परिवर्तन करने, सम्पत्ति रखने, विचार अभिव्यक्त करने, संगठन बनाने तथा मनचाहा धर्म पालन करने की स्वतंत्रता, राज्य सेवा में नियुक्ति की समानता, वैयक्तिक स्वतंत्रता इत्यादि वे सभी अधि-कार सम्मिलित थे जो आधुनिकतम संविधानों में पाये जाते थे पर उन पर कई प्रतिबन्ध भी थे। सर्व प्रथम, सारे अधिकार विधि द्वारा सीमित किये जा सकते थे। इस दृष्टि से उन्हें मूलाधिकार कहना उचित प्रतीत नहीं होता। संविधान के पूर्व बनी या बाद बनायी जाने वाली विधियाँ इन अधिकारों का अतिक्रमण करने पर अनुच्छेद ७८ के अनुसार अशक्त होने पर भी न्यायालयों के पुनरीक्षण अधिकारयुक्त न होने के कारण असंवैधानिक नहीं हो सकती थीं, वरन् ये अधि-कार ही उस अतिक्रमण की सीमा तक परिसीमित हो जाते थे। द्वितीय, युद्ध या राष्ट्रीय आपद के समय अधिकार सम्बन्धी उपबन्ध सम्राट् को प्राप्त अधिकारों के प्रयोग को प्रभावित नहीं कर सकते थे। तृतीय, इन या अन्य उपबन्धों की व्याख्या का अधिकार सम्राट् को था जो इसे अतरंग परिषद के परामर्श से प्रयोग

करता था। इस प्रकार अधिकारों को अतिक्रमण करने वाली शक्ति ही अधिकारों की व्याख्या का अधिकार रखती थी। ऐसी स्थिति में अधिकारों का वास्तविक स्वरूप निश्चित रूप से बताया नहीं जा सकता था। और अन्त में साधारण न्यायालयों को अधिकार सम्बन्धी विवादों पर विचार करने का अधिकार ही न था। ऐसे विवादों का निर्णय उच्च पर्यवेक्षी विभाग या उसकी स्वीकृति से प्रशासकीय क्षेत्राधिकार का न्यायालय, जो स्वयं एक प्रशासकीय विभाग था, के द्वारा ही किया जाता था। ऐसी स्थिति में, जापान का सर्वोच्च न्यायालय भी अब यह स्वीकार करता है, लोक अधिकार पूर्ण रूप से रक्षित नहीं थे।[1] और वस्तुतः जिसकी प्रत्याभूति वह जनता द्वारा स्वतन्त्रताओं का उपभोग नहीं वरन् उनके प्रयोग को परिसीमित करने का सरकार को अधिकार था।[2]

१०. **केन्द्रीभूत एकात्मक सरकार**—मेइजी संविधान संघात्मक न होकर एकात्मक था। सारे देश के लिए एक ही केन्द्रीय व्यवस्थापिका, एक ही कार्यपालिका और एक ही न्यायपालिका थी। सारा देश जिलों (Prefectures) और नगरपालिकाओं में विभाजित था। नगरपालिकाओं को कुछ स्थानीय स्वतंत्रता अवश्य थी पर वह भी राष्ट्रीय और जिले के पर्यवेक्षण के अन्तर्गत थीं। उनका मेयर केन्द्रीय लोक सेवा का व्यक्ति होता था और उसे नगरसभाओं के निर्णय को अस्वीकार करने का अधिकार था। नगर सभाएँ निर्वाचित संस्थाएँ थीं। नगरपालिका के अन्य कर्मचारी भी स्थानीय ही होते थे। गृह मंत्रालय नगर सभाओं को विघटित कर सकता था। जिले दो प्रकार के थे : १—नगरी, २—ग्रामीण। जिले का प्रधान राज्यपाल होता था जो केन्द्रीय सेवा का अधिकारी था। उसके अतिरिक्त एक निर्वाचित जिला सभा और जिला सभा द्वारा निर्वाचित एक जिला परिषद् होती थी। जिला सभाओं के कार्य महत्वहीन थे।

---

१ "Such being the case, it must be admitted that the rights of the people were not fully protected"—Supreme Court of Japan—'*Outline of Japanese Judicial System*,' (1961) p. 2.

२ "In effect, what was guaranteed was not the enjoyment of freedoms by the people, but the right of the government to limit their exercise." John M. Maki, *Op. cit.*, p. 23.

राज्यपाल ही पर शासन का सारा उत्तरदायित्व था। नगरी जिले केवल ३ थे और ये नगरों, वार्डों और मुहल्लों में विभाजित थे। ग्रामीण जिले ४६ थे जो मंडलों (Counties) कस्बों और ग्रामों में विभाजित थे। स्थानीय इकाइयों का कोई संवैधानिक आधार न था और केन्द्रीय सरकार उनमें इच्छानुसार परिवर्तन कर सकती थी। जुलाई सन् १६४३ में सारा देश ६ प्रदेशों में बाँटा गया और उनके अन्तर्गत जिलों के राज्यपालों की प्रादेशिक प्रशासक परिषदें संगठित की गईं। प्रत्येक परिषद् के एक राज्यपाल को उसका अध्यक्ष मनोनीत किया गया। अध्यक्ष सीधे प्रधान मन्त्री के प्रति उत्तरदायी था। सन् १६४५ में बाह्य आक्रमण का सामना करने के लिए स्थानीय इकाइयों का पुनर्संगठन किया गया।

११. प्रबल भृत्य वर्ग—मेइजी संविधान के अन्तर्गत संगठित सरकार की एक प्रमुख विशेषता भृत्यवर्ग (bureaucracy) की प्रबलता थी। भृत्य सिद्धांत रूप में दैवी सम्राट् द्वारा नियुक्त किये जाते थे और वह अपने को राष्ट्रीय राजनीति का संरक्षक मानते थे। वह विद्वान, कुशल तथा स्वाभिमानी थे। भृत्य वर्ग सब स्थानों पर व्याप्त था। सम्राटीय परिवार मन्त्रालय, न्यायालयों और मन्त्रालयों के विभागों (sections) भागों (divisions) और ब्यूरओं के प्रमुख पदों पर भृत्य वर्ग के अधिकारी ही आसीन थे। वह अभिजात सभा (The House of Peers) और अंतरंग परिषद् के भी सदस्य थे। मंत्रियों के प्रतिनिधियों के रूप में उन्हें संसद् के किसी भी सदन में उपस्थित होने और बोलने का अधिकार था। जापान में मेइजी संविधान के अंतर्गत मन्त्रिमडलों के कार्यकाल का औसत १४ मास से भी कम रहा। ऐसी स्थिति में मंत्री न तो अनुभवी ही होते थे और न उनको प्रशासन कार्यों की ओर ध्यान देने का समय ही मिलता था। अतः वह भृत्य वर्ग पर ही आश्रित रहते थे। भृत्य वर्ग अभिजात वर्ग का था और अभिजात सभा के सदस्यों के तथा उसके हितों में साम्य था। इन सब कारणों से वह प्रतिनिधि सभा के सदस्यों को हीन दृष्टि से देखते थे। उनके अधिकारों और प्रभाव के कारण समाज में उनका सम्मान था और सभी महत्वाकांक्षी व्यक्ति लोक सेवा पद के लिए लालायित रहते थे।

१२. कुपरिवर्तनशील पर नम्य संविधान—मेइजी संविधान कुपरिवर्तन-

शील था। उसके संशोधन का प्रस्ताव सम्राट् के उपक्रम से संसद में प्रस्तुत किया जा सकता था। सम्राट् ऐसे उपक्रम के पूर्व प्रस्ताव पर अंतरंग परिषद (Privy Council) का मत लेता था। संसद द्वारा उसकी स्वीकृति विशेष बहुमत से होना आवश्यक थी। साधारण विधेयकों के लिए दोनों सदनों का गण पूरक (कोरम) सदनों के कुल सदस्यों की संख्या का एक-तिहाई था और विधेयक पारित होने के लिए उपस्थित सदस्यों के बहुमत का समर्थन ही आवश्यक था। पर संविधान संशोधन के प्रस्ताव पर विचार करते समय सदनों में उनकी सम्पूर्ण सदस्य संख्या के दो-तिहाई सदस्यों की उपस्थिति आवश्यक थी और प्रस्ताव पारित होने के लिए प्रत्येक सदन में उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई का समर्थन आवश्यक था। संविधान के ५७ वर्ष के प्रयोग काल में उसमें एक भी संशोधन नहीं हुआ।

कुपरिवर्तनशील होते हुए भी संविधान नम्य था। जापान में मेइजी संविधान के अन्तर्गत कोई ऐसी संस्था न थी जो संविधान बाह्य संस्थाओं और संविधान का अतिक्रमण करने वाले कार्यों और विधियों को असंवैधानिक और अशक्त घोषित कर सकती। इस कारण वरिष्ट-परिषद, अंतरंग परिषद, सम्राटीय सम्मेलन ऐसी संविधान बाह्य संस्थाएँ कार्य करती रहीं, अंतरंग परिषद ने अपना अधिकार-क्षेत्र विस्तृत कर लिया, और धार्मिक संस्था विधि १६३६ (Religious Body Act 1939) ऐसी संविधान का अतिक्रमण करने वाली विधियाँ पास और लागू हुईं। संविधान में प्रथाओं द्वारा कुछ परिवर्तन भी हुए। इन परिवर्तनों में दो परिवर्तन सबसे अधिक महत्वपूर्ण थे : प्रथम, प्रधानमंत्री और मंत्रि-परिषद की सृष्टि और उसका संसद के प्रति उत्तरदायी हो जाना, और द्वितीय, सम्राट् के निषेधाधिकार का प्रयोग बन्द हो जाना।

१३. शक्ति पृथक्करण—कुछ विद्वानों का मत है कि मेइजी संविधान शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित था। जापान के सर्वोच्च न्यायालय के एक प्रकाशन में लिखा है कि "सन् १८६८ के मेइजी पुनर्स्थापन के समय जापान ने अपने को सामन्ती पद्धति से मुक्त किया और सन् १८६० में सरकार की तीनों शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त सहित एक संवैधानिक राजतंत्र को स्थापित

करने वाले सम्राटीय जापानी संविधान......की प्रवृत्ति के द्वारा विश्व के आधुनिक राज्यों के साथ समकक्ष हुआ।"[1] पर यह कथन भ्रमात्मक है। मेइजी संविधान सम्राट् की सम्प्रभुता पर आधारित था। सम्राट् विधायकी शक्ति का प्रयोग करता था। वह प्रशासन कार्य करता था और समस्त कर्मचारियों की नियुक्ति करता था। न्याय उसके नाम पर होता था। वह संसद का आह्वान करता था, सत्रावसान करता था और प्रतिनिधि सभा का विघटन करता था। वह अभिजात सभा के बहुत से सदस्य मनोनीत करता था। इसके अतिरिक्त न्यायविभाग कार्यपालिका विभाग का अंग था। जनता के अधिकारों सम्बन्धी विवादों पर कार्यपालिका न्यायिक कार्य करती थी। मंत्री संसद के सदस्य होते थे और उसकी बैठकों में भाग लेते थे। प्रशासकीय अधिकारी मंत्रियों के प्रतिनिधि के रूप में संसद की बैठकों में उपस्थित होते थे और उसमें बोलते थे। ऐसी स्थिति में केवल इस आधार पर कि मंत्रियों के लिए संसद का सदस्य होना और प्रतिनिधि सभा के अविश्वास प्रस्ताव पर उनका त्याग पत्र देना आवश्यक न था, यह कहना कि संविधान शक्ति पृथक्करण पर आधारित था, उचित नहीं प्रतीत होता। प्रकाशन अपने मत की पुष्टि में लिखता है कि, "शक्ति पृथक्करण का सिद्धान्त इस रूप में अंगीकृत किया गया कि विधायिकी शक्ति सम्राट् द्वारा संसद की सम्मति से, कार्यपालिका शक्ति सम्राट् के एक अधिकारी—प्रधानमंत्री—की अध्यक्षता में मंत्रिपरिषद द्वारा और न्यायिक शक्ति सम्राट् के सम्प्रभुकार्य के रूप में सम्राट् के नाम से न्यायालयों द्वारा प्रयोग की जायेंगी।"[2] पर सम्राट् अनुच्छेद ९ के अध्यादेश अधिकार के

---

[1] "Japan freed herself from the feudal system at the time of the Meiji Restoration of 1868, and ranked along with the modern states of the world in 1890 through the enforcement of the Imperial Japanese Constitution...establishing a constitutional monarchy with the doctrine of the separation of the three powers of government." *Outline of Japanese Judicial System* (1961) p. 1

[2] The doctrine of separation of powers was adopted in the form that the legislative power would be exercised by the Emperor with the consent of the Diet; the executive power by

अन्तर्गत अध्यादेश शक्ति को संसद् द्वारा विधायित न किए गये क्षेत्र में विधायिकी शक्ति के रूप में प्रयोग कर सकता था। अनुच्छेद आठ् के अन्तर्गत संसद के सत्रावसान काल में वह उस शक्ति को सभी क्षेत्रों में प्रयोग कर सकता था। अनुच्छेद ६ के अन्तर्गत जारी किया अध्यादेश संसद द्वारा पारित विधि को परिवर्तित नहीं कर सकता था। पर अध्यादेश के परिवर्तनकारी प्रभाव का निर्णय करने वाली कोई संस्था न होने पर यह उपबन्ध निरर्थक था। मंत्रिपरिषद प्रमुख रूप से एक प्रशासकीय संस्था थी। कार्यपालिका शक्ति सम्राट् के अधिकारों के अन्तर्गत वर्णित थी और इस सम्बन्ध में वह मंत्रि-परिषद् के अतिरिक्ति वरिष्ट परिषद्, अंतरंग परिषद्, सर्वोच्च समादेश आदि से परामर्श लेता था और मतभेद होने पर सम्राटीय सम्मेलन की बैठक में स्वयं निर्णय लेता था। ऐसे निर्णयों में मंत्रिपरिषद् का मत विनिश्चयात्मक होना आवश्यक न था। संविधान की व्याख्या का न्यायिक कार्य सम्राट् अंतरंग परिषद् के परामर्श पर करता था। प्रशासन विभाग भी प्रशासकीय न्याय के रूप में न्यायिक कार्य करता था। ऐसी स्थिति में मेइजी संविधान को शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित कहना वास्तविकता को छिपाना है।[१] वह सत्यरूप में स्वेच्छाचारिता और अनुत्तरदायित्व पर आधारित था। पर यह स्वेच्छाचारिता और अनुत्तरदायित्व सम्राट् का नहीं था वरन् इतो हिरोबुमि, यामागाता अरितोमो आदि ऐसे लोगों का था जिन्होंने पुनर्स्थापन किया था, संविधान बनाया था और वरिष्ट परिषद्, अंतरंग परिषद् तथा अभिजात सभा के सदस्य और मुद्राध्यक्ष तथा सम्राटीय परिवार

---

the cabinet with the Prime Minister as the head who was an official of the Emperor ; and the judicial power as a sovereign function of the Emperor by the court in the name of the Emperor" *Ibid*, p. 1.

[१] "Here is clearly described a form of government characterized not by a democratic separation of powers with its consequent checks, and balances but by the concentration of all powers of government in a single source...The omnipotent emperor simply wielded his unitary sovereign power in the three areas of the government." John M. Maki, *Op. cit.*, p. 19.

मंत्री या सर्वोच्च समादेश के अधिकारी बन सम्राट् के अधिकारों और उसकी राज्य श्री के लाभों का उपभोग करते थे। संसदात्मकता का पाश्चात्य स्वरूप तो परिस्थितियोंवश प्रदर्शन करना पड़ा था।

मेइजी संविधान का कार्यकरण—जैसा पहले अध्याय के अन्त में लिखा जा चुका है मेइजी संविधान दिसम्बर सन् १८९० से मई सन् १९४७ तक प्रवृत्त रहा। उसके इस लगभग ५७ वर्ष के कार्यकरण में जापान की सरकार ने क्रमशः पाँच रूप ग्रहण किए—

(१) राजनैतिक दलों से प्रभावित अभिजात वर्गीय शासन (सन् १८९० से सन् १९१८ तक)

(२) व्यापार मंडलों (Zaibatsu) द्वारा प्रभावित राजनैतिक दलों का शासन (सन् १९१८ से सन् १९३१ तक),

(३) व्यापार मंडलों और सैनिक वर्ग का शासन (सन् १९३१ से सन् १९४१ तक),

(४) सैनिक वर्गीय शासन (सन् १९४१ से सन् १९४५ तक)

(५) विदेशियों द्वारा नियंत्रित शासन (सन् १९४५ से सन् १९४७ तक)

१. प्रथम काल—इस काल में मेइजी पुनर्स्थापन करने वाले चोशु तथा सात्सुमा गोत्रों के नेताओं ने देश का शासन किया। इन नेताओं में चोशु गोत्र के इतो हिरोबुमि; यमागाता अरितोमों, त्सुयोशिआ इनोउम तथा कात्सुरा तैरो और सात्सुमा गोत्र के इबाओ ओयामा तथा मात्सुकातो मासायोशी प्रसिद्ध थे। इतो, यामागाता, कात्सुरा, मात्सुकाता तथा राजकुमार सैओनजी एक दूसरे के पश्चात् बार-बार प्रधान मंत्री होते रहे। इनके अतिरिक्त चोशु व सात्सुमा गोत्रों के अन्य बहुत से नेता थोड़े-थोड़े समय के लिए प्रधान मंत्री हुए। एक शिगेनोबु ओकुमा जो सन् १८९८ में कुछ महीनों के लिए और सन् १९१४ से सन् १९१६ तक प्रधान मंत्री रहा इन गोत्रों के बाहर का व्यक्ति था। पुनर्स्थापन के तुरन्त बाद ही जापान में राजनैतिक दलों का संगठन होने लगा और संविधान लागू होने पर उनका प्रभाव और भी बढ़ गया। संसद में सरकार के समर्थकों से उनके विरोधियों की संख्या अधिक हो गयी। इस विरोध की प्रबलता

के कारण सन् १८६१ में यामागाता को पद त्याग करना पड़ा। नये प्रधान मंत्री मात्सुकाता ने फरवरी सन् १८६२ में एक विशेष निर्वाचन कराया जिसमें स्थानीय राज्यपालों का प्रयोग हुआ, मूलाधिकारों का अतिक्रमण किया गया और पुलिस ने हिंसात्मक कार्यवाही की। फिर भी स्वतंत्र गोत्रीय और भृत्य वर्गीय अभ्यर्थी निर्वाचन में पराजित हुए और सरकार विरोधी राजनैतिक दलों ने ३०० स्थानों में से १६७ स्थानों में सफलता प्राप्त की। इस विरोधी वर्ग ने तृतीय संसद में मंत्रिपरिषद् के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव किया। मंत्रिपरिषद ने यद्यपि पद त्याग नहीं किया पर इन गोत्रीय नेताओं को राजनैतिक दलों के नेताओं से समझौता करना पड़ा, शासन के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण का सम्मान करना पड़ा और शक्ति में उनको भाग देना पड़ा। राजनैतिक दलों की शक्ति की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती गयी और सन् १८६८ में ओकुमा ने प्रथम बार विशुद्ध दलीय मंत्रिपरिषद बनायी। दलों की आन्तरकि दुर्बलता के कारण यह मंत्रिपरिषद अधिक समय न चल सकी और गोत्र नेता दलीय गुटों की सहायता से पुनः शासन करने लगे। अप्रैल सन् १६१४ में ओकुमा पुनः प्रधान मंत्री हुआ पर उसकी मंत्रिपरिषद इस बार विशुद्ध दलीय न थी। दल की आन्तरिक दुर्बलता तथा यामागाता गुट के दावपेंचों से उसे पद त्याग करना पड़ा और अक्टूबर सन् १६१६ में सेइकी तेराउची प्रधान मंत्री बना।

२. द्वितीय काल—इस समय राजनैतिक मित्र संघ (Seiyukai) नामक दल की शक्ति इतनी बढ़ गयी कि सन् १६१८ में उसका नेता ताकाशी हारा जो एक साधारण परिवार का व्यक्ति था जापान के इतिहास में प्रथम बार एक सत्य रूप में दलीय सरकार बनाने में सफल हुआ। वरिष्ट परिषद ने उससे गोत्र नेताओं के साथ मिलकर पुराने ढंग की संयुक्त सरकार बनाने की संस्तुति की थी पर उसने उस प्रस्ताव को अस्वीकार करके विशुद्ध दलीय सरकार बनायी। गोत्रीय सामन्ती नेताओं के विरुद्ध संघर्ष करने से राजनैतिक दल को व्यापारी वर्ग का सहारा लेना पड़ा और इसके फलस्वरूप शासन पर भी व्यापारी वर्ग का प्रभाव बढ़ गया। नवम्बर सन् १६२१ में हारा की हत्या कर दी गयी। इससे राजनैतिक मित्र संघ दल दुर्बल हो गया। पर उसने संवैधानिक संघ (Kens-

eikai) और एक सुधार गुट से मिलकर मई सन् १६२४ के निर्वाचन में गोत्रीय नेताओं को पूर्ण रूप से पराजित किया। संवैधानिक संघ का नेता तोमोसाबुरो कातो संयुक्त मंत्रिपरिषद का प्रधान मन्त्री हुआ जिसने वयस्क मताधिकार विधेयक पारित कर गोत्रीय प्रभाव सदा के लिए समाप्त कर दिया। पर संयुक्त सरकार शीघ्र ही विघटित हो गयी। राजनैतिक संघ ने अपनी अध्यक्षता जनरल तनाका को दी जो १६२७ में प्रधान मन्त्री हुआ। इस समय राजनैतिक संघ पर प्रतिक्रियावादी व्यापारिक मण्डलों का प्रभुत्व था और तनाका की अध्यक्षता में वह सैनिकवादी-प्रतिक्रियावादी तत्वों का दल बन गया। फलतः उसका प्रगतिवादी गुट उससे पृथक् हो गया और उसने संवैधानिक संघ से मिलकर लोक सरकार दल (Minseito) की स्थापना की। इसका अध्यक्ष हामागुची ओसाची हुआ जो एक भृत्य (bureaucrat) था। धनाभाव की पूर्ति के लिए इस दल को भी व्यापार-मण्डलों का प्रश्रय लेना पड़ा। सन् १६२६ के निर्वाचन में लोक सरकार दल की विजय हुई और हामागुची प्रधान मंत्री हुआ।

३. तृतीय काल—जापान में अब तक पूँजीवाद स्थापित हो चुका था और जैसा ऊपर कहा गया है, व्यापारिक मन्डलों ने दलीय नीति पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। पूँजीवादी वर्ग उपनिवेशवादी नीति का प्रतिपादन कर रहे थे। इसी के फलस्वरूप तनाका मन्त्रिपरिषद ने सन् १६२७-१६२६ के बीच चीन के प्रति सक्रिय नीति प्रारम्भ की थी। हामागुची मंत्रिपरिषद ने इस नीति को बदल कर मैत्री नीति का अनुसरण किया। उसने सन् १६३० की लन्दन की नौसेना सन्धि में जापान के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन से कम युद्ध पोत रखना स्वीकार कर लिया। सम्राट् ने भी इसकी पुष्टि कर दी। पर सन्धि का नवयुवक सैन्यवादियों और सामन्तवादी पूँजीवादी अभिजात सभा ने तीव्र विरोध किया। नवम्बर सन् १६३० में हामागुची पर सांघातिक गोली प्रहार किया गया जिससे अप्रैल सन् १६३१ में उसकी मृत्यु हो गयी। सितम्बर में मंचूरिया युद्ध ने सैन्य वर्ग का प्रभाव बढ़ा दिया। दिसम्बर सन् १६३१ में राजनैतिक संघ दल का अध्यक्ष इनुकाइ त्सुयोशी प्रधान मंत्री बनाया गया पर मई में उसकी भी हत्या कर दी गयी। सैन्य वर्ग ने राजनैतिक दलों के नेताओं की

प्रधानता में मंत्रि-परिषद में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। अब व्यापारिक वर्ग और सैनिक तत्वों के प्रभुत्व की सरकारें बनने लगीं। शनैः-शनैः मंत्रि परिषदों में राजनैतिक दलों के सदस्यों की संख्या भी कम होती गयी। सन् १६४०-४१ की मंत्रिपरिषदों में राजनैतिक दलों का एक भी व्यक्ति नहीं था और राजनैतिक दलों के प्रतिनिधियों के स्थान पर भृत्य अधिकारी, अभिजात व्यक्ति, स्थल सेनापति, जल सेनापति तथा व्यापारिक वर्ग के व्यक्ति मंत्री होने लगे। इसी वर्ग ने जापान को द्वितीय विश्व युद्ध में पदार्पित कराया।

४. चतुर्थकाल—सन् १६४१ से १५ अगस्त सन् १६४५ तक जापान सैनिक वर्ग के अनन्य शासन में रहा। व्यापारिक संगठन उसकी अधीनता में कार्य करने लगे। राजनैतिक दलों को भंग कर दिया गया और एक सम्राजीय शासन सहायता संघ स्थापित किया गया। सन् १६४२ के निर्वाचनों में संघ से सहायता प्राप्त ३७८ व्यक्तियों ने विजय पायी। उसी वर्ष सम्राजीय शासन सहायता राजनैतिक समिति और सन् १६४५ के प्रारम्भिक महीनों में उसके स्थान पर महान जापान राजनैतिक संघ की स्थापना गयी की। इस काल में वरिष्ट परिषद के स्थान पर, जिसका अन्तिम सदस्य सन् १६४० में मर चुका था, ज्येष्ठ राज्य शासक परिषद (Jushin) की स्थापना हुई। जापान की पराजयोन्मुख युद्ध-स्थिति देखकर सम्राट् ने स्वयं शान्तिसमर्थक वर्ग का पक्ष लिया और पोट्सडम उद्घोषणा के निबन्ध स्वीकार करके १५ अगस्त सन् १६४५ को जापान के समर्पण की घोषणा की।

इस काल का शासन प्राधिकारवादी था जिसमें सभी प्रकार की स्वतन्त्रताएँ समाप्त कर दी गई थीं। समाचार पत्रों पर कठोर सेन्सर लगा था। सम्राट् के प्रति निष्ठा, राज्य की आज्ञा के पालन करने और सैनिकवाद के गुणों को स्वीकार करने का तथा समाजवाद, साम्यवाद और प्रजातन्त्र के विरोध में उपदेश दिया जाता था। प्रत्येक क्षेत्र में सैन्यवाद का प्रभुत्व था। सरकार स्वयं प्राधिकारवादी थी। पुलिस का आतंक था। राजनैतिक कार्यवाही का क्षेत्र अत्यन्त संकुचित था। न राजनीतिक दल थे, न स्वतन्त्र निर्वाचन, न उत्तरदायी सरकार और न श्रमिक संघ थे। जनता को अपने परिश्रम का उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता

था। मूल मानव अधिकारों का उपयोग करने का भी अवसर न था। नागरिकों की विधि की नग्न शक्ति के विरुद्ध प्रतिरक्षा करने के लिए उचित वैधानिक क्रियाविधि (Due process of law) भी नहीं थी।

५. पंचम काल—समर्पण पत्र के अनुसार जिस पर २ सितम्बर को हस्ताक्षर किए गये, जापान ने यह स्वीकार किया कि वह पोट्सडम उद्घोषणा के सभी उपबन्ध स्वीकार करता है, सभी बल बिना शर्तों के समर्पण करता है, सभी संघर्ष बन्द करता है, उसके सभी असैनिक और सैनिक अधिकारी सर्वोच्च समादेशक की आज्ञा का पालन करेंगे और उसे प्रवृत्त करेंगे, पोट्सडम उद्घोषणा को निष्ठापूर्वक पालन करायेंगे जिससे सम्प्रभुता के पुनर्स्थापन के लिए अधिक स्वतंत्र संस्थाएँ स्थापित की जा सकें, सभी बन्दियों को मुक्त करेंगे और उन्हें सुरक्षापूर्वक पोत स्थान तक पहुँचाएँगे, और यह कि सम्राट् और जापानी सरकार की शक्ति सर्वोच्च समादेशक की इच्छा के अधीन है। इस समर्पण पत्र के अनुसार जापान की सरकार नये संविधान की प्रवृत्ति समय तक सर्वोच्च समादेशक के नियंत्रण में मेइजी संविधान के अंतर्गत स्थापित संस्थाओं द्वारा ही कार्य करती रही।

मेइजी संविधान के दोष—सफलता की भाँति कोई सफल नहीं होता। वह सारे दोषों को छिपा देती है और असफलता होने पर गुण भी दोष प्रतीत होने लगते हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि बीसवीं शताब्दी में सफलता ही गुणों की कसौटी बन गयी है और हमारे सम्मुख गुणों का सैद्धान्तिक स्तर नहीं रहा है। जापान की जिस समय तक उन्नति होती रही उसके संविधान में केवल गुण ही दिखायी दिए पर अब जब वह द्वितीय विश्व युद्ध में पराजित हुआ तो उसमें केवल दोष ही दोष दृष्टिगोचर होते हैं। उसके कुछ प्रमुख दोष निम्नाङ्कित बताये जाते हैं :

१. संविधान अति सूक्ष्म और अस्पष्ट था। इस कारण प्रत्येक सत्तारूढ़ शक्ति उसकी व्याख्या अपने हित की दृष्टि से कर सकती थी।

२. सम्राट् के अधिकार बहुत विशाल थे जिससे कार्यपालिका इतनी

अधिक शक्तिशाली हो गयी थी कि वह बिना व्यवस्थापिका के भी कार्य चला सकती थी।

३. सम्राट् को परामर्श देने वाली संस्थाओं की अधिकता थी जिससे उत्तरदायित्व स्पष्ट नहीं रह सकता था। परामर्शदाता जनता या उनके प्रतिनिधियों के प्रति उत्तरदायी न थे।

४. संसद् के अधिकार सीमित थे। वह वास्तव में एक विचार विमर्शीय सभा थी। उसकी विधायिकी और वित्तीय शक्तियाँ इतनी कम थीं कि वह वास्तव में कार्यपालिका को नियंत्रित नहीं कर सकती थी।

५. अभिजात सभा सामन्तवादी और पूँजीवादी प्रतिक्रियावादी तत्वों का गढ़ थी और उसे संसद् के अधिकारों में समान भाग देकर संसद् को कुंठित कर दिया गया था।

६. मूलाधिकार केवल नाम मात्र के ही थे। नियुक्ति की समानता और धार्मिक स्वतंत्रता को छोड़ कर सारे अधिकार विधि द्वारा असीमित रूप में परिसीमित किए जा सकते थे। धार्मिक स्वतंत्रता शान्ति और व्यवस्था के आधार पर सीमित की जा सकती थी। राष्ट्रीय संकट और युद्ध के समय यह अधिकार प्रभावहीन हो जाते थे।

७. न्यायपालिका को न तो न्यायिक पुनरीक्षण का अधिकार था और न वह स्वतंत्र ही थी। इससे वह संविधान और उसमें वर्णित नागरिक अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकती थी।

८. संविधान की व्याख्या के लिए कोई स्वतंत्र संस्था न थी। उसकी व्याख्या करना सम्राट् का विशेषाधिकार था जिससे कार्यपालिका स्वेच्छाचारी हो गयी थी।

९. संविधान के संशोधन का उपक्रम सम्राट् के हाथ में होने से सम्राट् पर नियंत्रण रखने वाले हित सुरक्षित थे।

उपरोक्त दोष तो संविधान में थे। उसकी पूरक सावयवी विधियों (Organic laws) ने निम्नाङ्कित अन्य मुख्य दोष भी उत्पन्न कर दिये थे :

अ—मंत्रि परिषद् में स्थल और नौसेना मंत्री के पदों पर उन सेनाओं के

सक्रिय अधिकारियों की नियुक्ति की आवश्यकता ने सेना के प्रभाव को बढ़ाकर सैनिकवाद के विकास में योग दिया।

ब—प्रतिनिधि सभा के निर्वाचन में समानुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली को अपनाने से द्विदल प्रणाली के विकास में बाधा पड़ी। इससे स्वतंत्र अभ्यर्थियों के निर्वाचन के अवसर बढ़ गये और दलीय अनुशासन और एकता कम हो गयी, जिससे मंत्रिपरिषदों का स्थायित्व कम हो गया। इससे निर्वाचन में धन का प्रभाव भी बढ़ गया जिसके फलस्वरूप व्यापारिक मंडलों (Zaibatsu) को दलीय राजनीति पर नियंत्रण बढ़ाने में सुविधा हो गयी।

स—भृत्य अधिकारियों के अंतरंग परिषद् और अभिजात सदन में मनोनीत करने और मंत्रियों के प्रतिनिधि के रूप में संसद में जाने से भृत्य वर्ग का प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया।

उपरोक्त दोषों पर विचार करते समय हमें यह न भूलना चाहिए कि मेइजी संविधान प्रजातान्त्रिक सरकार की स्थापना के लिए नहीं वरन् सम्राट् के 'पुन-र्स्थापन' के लिए बनाया गया था। उससे प्रजातंत्र का विकास उसी प्रकार किया जा सकता था जिस प्रकार इंगलैंड में हुआ। इंगलैंड में भी पहले राजा ही सम्प्रभु था, वह संसद की स्वीकृति और राय से विधि निर्माण करता था, उसे भी संसद द्वारा पारित विधेयकों पर रोध-अधिकार था, उसके भी कई प्रकार के परामर्श-दाता थे जो उसके प्रति ही उत्तरदायी थे, वह भी सेना का सर्वोच्च समादेशक था और युद्ध, शान्ति तथा सन्धियाँ करना उसके भी विशेषाधिकार थे, वह भी न्याय का स्रोत था और न्यायपालिका उसके आधीन थी। इंगलैंड का भी द्वितीय सदन अभिजातीय और प्रथम सदन से अधिक अधिकार रखने वाला था। और अन्त में इंगलैंड का संविधान भी अस्पष्ट और अनिश्चित था। यदि गंभीरता से विचार किया जाय तो ट्यूडर और स्टुअर्ट काल के इंगलैण्ड के संविधान और मेइजी संविधान में अधिक अन्तर न मिलेगा। सावयवी विधियों द्वारा किये अन्तर विशेष महत्व के नहीं थे और उन्हें सरलता से परिवर्तित किया जा सकता था। इसलिए यदि इंगलैंड के संविधान से प्रजातंत्र का विकास हो सका तो अन्य

परिस्थितियाँ समान होने पर जापान में भी मेइजी संविधान के अन्तर्गत भी प्रजातंत्र का विकास हो सकता था और इस दिशा में तीन महत्वपूर्ण कार्य हुए भी थे। प्रथम, सम्राट् के रोधाधिकार का प्रयोग बन्द हो गया था; द्वितीय, मंत्रि परिषद सामूहिक रूप से प्रतिनिधि सभा के प्रति उत्तरदायी हो गयी थी; और तृतीय, प्रतिनिधि सभा के लिए पुरुष वयस्क मताधिकार स्थापित हो गया था। जापान में मेइजी संविधान के अन्तर्गत यदि प्रजातंत्र सफल नहीं हो सका तो इसके लिए संविधान इतना उत्तरदायी नहीं है जितनी कि अन्य परिस्थितियाँ उत्तरदायी हैं।[१] प्रजातंत्र के मार्ग में सबसे बड़ा बाधक वस्तु जनता में वीर-पूजा की भावना का होना है। जापान के सामन्तवादी सैनिकवाद और शिन्तो धर्म ने जनता में वीर पूजा की भावना को दृढ़ कर दिया था जिससे वह सिद्धान्तों के स्थान पर व्यक्तित्व के उपासक बन गये थे। जन साधारण की इस प्रवृत्ति के कारण एक ओर राजनैतिक दल सुगठित न हो पाये और उनमें गुटबन्दी बनी रही। दूसरी ओर वे अपने नेताओं के प्रति अत्यधिक आज्ञापालक बने जिसके फलस्वरूप वह सम्राट् के नाम पर दी गयी किसी उचित अनुचित आज्ञा को शिरोधार्य करते रहे और महत्वाकांक्षी व्यक्तियों के स्वार्थपूर्ण कार्यों का भी विरोध न कर सके। ऐसे देश में जिसके सामने सदा युद्ध का भय हो प्रजातंत्र सफल नहीं हो सकता, क्योंकि बाह्य संकट के समक्ष जनता अपने अधिकारों को अपने नेताओं को बड़ी प्रसन्नता से दे देगी। मेइजी संविधान की प्रवृत्ति के पहले से ही जापान के सामने युद्ध संकट सदैव उपस्थित रहा। इसलिए प्रजातंत्र का शीघ्रता से विकास न हो सका। मंचूरिया के संकट ने जापान के सैनिकवादी तत्वों को दृढ़ करने में विशेष योग दिया और एक बार सत्ता में आ जाने से वे तत्व स्वयं अपनी शक्ति बढ़ाते गये, जिससे प्रजातंत्र कुंठित हो गया। इसके उपरान्त उस संविधान को सामान्य स्थिति मिली ही नहीं।

---

[१] "It might have been possible for democracy to grow under the Meiji Constitution without a significant alteration in its content, but the course of events in the country prevented such a development." John M. Maki, *Op. cit.*, p. 18.

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. मेइजी संविधान की मूल विशेषताओं की विवेचना करिए।

२. क्या मेइजी संविधान को प्रजातान्त्रिक संविधान कहा जा सकता है? कारण सहित उत्तर दीजिए।

३. 'मेइजी संविधान पाश्चात्य वेष में जापानी विचार था।' इस कथन की समीक्षा करिए।

४. 'सार्वजनिक विषयों या उच्चनीति के निर्माण में सम्राट् व्यक्तिगत रूप में अत्यल्प कार्य करता था' (ऑग और जिन्क)। इस कथन को ध्यान में रखते हुए मेइजी संविधान के अन्तर्गत शासन में सम्राट् की स्थिति का वर्णन करिए।

५. 'राष्ट्रीय संसद् संसदीय शासन का दिखावा करने की युक्ति मात्र थी।' इस कथन की दृष्टि से मेइजी संविधान के अन्तर्गत जापान की संसद् के संगठन, अधिकारों और स्थिति को स्पष्ट कीजिए।

६. मेइजी संविधान के अन्तर्गत विभिन्न कार्यपालिका संस्थाओं के संगठन और अधिकारों का वर्णन करते हुए उनमें मंत्रिपरिषद् की स्थिति की परीक्षा करिए।

७. 'मेइजी संविधान के अन्तर्गत स्थापित शक्ति पृथक्करण व्यवस्था प्रजातंत्र की नहीं वरन् निरकुंशता का उपकरण थी'। क्या आप इस कथन से सहमत हैं? तर्क सहित उत्तर दीजिए।

८. मेइजी संविधान के कार्यकरण का संक्षेप में वर्णन करिए और उसके उन दोषों को बतलाइए जिनके फलस्वरूप वह अन्ततोगत्वा हानिकारक सिद्ध हुआ।

३ | नया संविधान

"Today the parliamentary system, on the British pattern is the central feature of the Japanese government."

H. S. Quigley and J. E. Turner.

जुलाई सन् १९४५ में बर्लिन की बैठक में संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रुमैन और ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने चीन के राष्ट्रपति च्यांग काई शेक की स्वीकृति से पोट्सडम उद्घोषणा की। इस उद्घोषणा में उन शर्तों का वर्णन किया गया था जिनके आधार पर मित्रराष्ट्र द्वितीय विश्व युद्ध में जापान के समर्पण को स्वीकार करने को तैयार थे। इस उद्घोषणा में निम्नाङ्कित उपबन्ध थे :—

(१) जापान की सम्प्रभुता चार द्वीपों—होन्शु, होकैदो, क्युशु और शिकोकु—में सीमित कर दी जायेगी।

(२) जापान की सैन्य शक्तियों का पूर्ण निःशस्त्रीकरण कर दिया जायेगा।

(३) जापान की युद्ध करने की शक्ति को पूर्ण रूप से विनष्ट कर दिया जायेगा।

(४) सभी युद्ध अपराधियों को कठोर न्याय दिया जायेगा ।

(५) जापान में सदैव के लिए उन व्यक्तियों के प्रभाव और शक्ति को समाप्त कर दिया जायेगा जिन्होंने जनता को धोखा देकर उसे विश्व-विजय की दिशा में कुप्रेरित किया है।

(६) प्रजातान्त्रिक प्रवृत्तियों को पुनः सशक्त बनाने के लिए मार्ग के अवरोधों को दूर किया जायेगा ।

(७) भाषण, धर्म और विचार की स्वतंत्रता और मूल मानव अधिकारों को स्थापित किया जायेगा और,

(८) मित्र राष्ट्रों की अधिग्रहक सेनाएँ उस समय जापान से हटा ली जायेंगी जब ये उद्देश्य प्राप्त हो जायेंगे तथा जनता की स्वतंत्र रूप से प्रकट की गई इच्छा के अनुसार उत्तरदायी और शान्तिप्रिय सरकार स्थापित हो जायगी ।

६ अगस्त को हिरोशिमा पर अणुबम डाला गया और तीन दिन पश्चात् रूस ने भी जापान के पोट्सडम उद्घोषणा को स्वीकार करते हुए जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। १० अगस्त को जापान की सरकार ने संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार को सूचित किया कि यदि पोट्सडम घोषणा में सम्राट् के सम्प्रभु शासक रूप में विशेषाधिकारों पर अनिष्टकारी प्रभाव डालने वाली कोई बात नहीं है तो वह उसके आधार पर शान्ति स्थापित करने को तैयार है। अंत में १४ अगस्त को जापान सरकार ने बिना कोई आश्वासन पाये हुए ही पोट्सडम उद्घोषणा के उपबन्धों को बिना किसी शर्त के स्वीकार कर लिया और २ सितम्बर को युद्ध पोत मिसौरी पर औपचारिक समर्पण समारोह मनाया गया।

समर्पण के परिणामस्वरूप जापान में पोट्सडम उद्घोषणा को प्रवृत्त कराने के लिए मित्र राष्ट्रीय सैनिक शासन स्थापित हुआ। इस सैनिक शासन की तीन प्रमुख संस्थाएँ थीं : १. वाशिंगटन स्थित सुदूर पूर्व आयोग (The Far Eastern Commission) जिसके प्रारम्भिक सदस्य संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन,

रूस, चीन, फ्रांस, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड, नीदरलैंड, भारत और फिली-पाइन राज्य थे। ११ नवम्बर सन् १९४९ को पाकिस्तान और बर्मा भी इसके सदस्य हुए। २. मित्र राष्ट्रों का सर्वोच्च समादेशक (Supreme Commander of Allied Powers) जो जापान में मित्र राष्ट्रों का एकमात्र कार्यपालिका प्राधिकारी था। सर्वोच्च समादेशक पद पर संयुक्त राज्य अमेरिका के सेनापति जनरल मैकआर्थर थे जो सुदूर पूर्व में अमेरिका की समस्त स्थल, जल और वायु सेना के मुख्य सेनापति और संयुक्त राज्य की सुदूर पूर्व की स्थल सेना के समादेशक जनरल (Commanding General) भी थे। उनका एक बहु विभागीय कार्यालय था जो जापान के शासन की विभिन्न शाखाओं का पर्यवेक्षण करता था। ३—जापान हेतु मित्रराष्ट्रीय परिषद (Allied Council for Japan) जिसके सदस्य संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, चीन और रूस थे। यह परिषद सर्वोच्चक समादेश को परामर्श देती थी। अधिग्रहण तंत्र और समादेशक संगठन के पीछे मुख्य शक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका की ही थी। सुदूर पूर्व आयोग अपना कोई निदेश सर्वोच्च समादेशक को सीधे नहीं भेज सकता था। उनका सारा पत्र व्यवहार अमेरिका के राज्य सचिव (Secretary of State) और संयुक्त स्टाफ प्रधानों (Joint Chiefs of Staff) के माध्यम से होता था। सर्वोच्च समादेशक मित्रराष्ट्रीय परिषद को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति को प्रवृत्त करता था।

नव प्रजातंत्रीय राज्य के निर्माण के लिये उपयुक्त वातावरण की स्थापना के हेतु सर्वोच्च समादेशक ने संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार के निदेश पर शीघ्र ही जापान के शासन में सुधार करना प्रारम्भ किया। सर्व प्रथम, जापान के प्रधान सैनिक कार्यालय और युद्ध नौसेना तथा बृहत्तर पूर्वी एशिया मंत्रालय विघटित किए गये। सूचना मंडल सेन्सर करने के अधिकारों से वंचित किया गया। गृह मंत्रालय के बहुत से अधिकार समाप्त कर दिये गये और मंत्री पदच्युत कर दिये गये। मुद्राध्यक्ष (Lord Keeper of Privy Seal) का पद और कार्यालय का अन्त कर दिया गया। ४ अक्टूबर (सन् १९४५) को जापानी सरकार को निर्देश दिया गया कि वह उन सभी विधियों और नियमों को

समाप्त कर दे जो विचार, धर्म, संगठन और भाषण की स्वतंत्रता को परिसीमित करते हैं या जाति, राष्ट्रीयता, धर्म या राजनैतिक विचारधारा के आधार पर नागरिकों में भेद-भाव करते हैं। राजनैतिक बन्दियों को मुक्त करने, उपरोक्त नियंत्रणों को लागू करने वाली संस्थाओं को उन्मूलित करने और बहुत से पुलिस अधिकारियों को अपदस्थ करने की भी आज्ञा दी गयी।

६ नवम्बर को मित्सुई, मित्सुबिशी, यासुदा और सुमितोमो नामक व्यापारिक संघों को विघटित करने की जापानी योजना स्वीकार की गयी और जापान सरकार से अनुरोध किया गया कि वह अन्य औद्योगिक, वाणिज्य, आर्थिक, और कृषि संघों का विघटन करने की योजना प्रस्तुत करे तथा जापानवासियों को व्यक्तिगत अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघों में सम्मिलित होने से वर्जित करे। १५ दिसम्बर को सर्वोच्च समादेशक ने राज्य धर्म को उन्मूलित करने की घोषणा की और राज्य तथा धर्म को पूर्ण रूप से पृथक् करने की आज्ञा दी। इसके फलस्वरूप राज्य द्वारा पोषित या उससे अनुदान पाने वाले शिक्षालयों में धार्मिक शिक्षा निषिद्ध कर दी गयी। १ जनवरी सन् १९४६ को सम्राट् ने अपने नव वर्ष के सन्देश में अपने और अपने वंश के प्रति प्रचलित दैविकता की धारणा को अयथार्थ घोषित किया। ४ जनवरी को सर्वोच्च समादेशक ने दो अन्य आज्ञायें दीं। इनमें से एक के द्वारा उग्रराष्ट्रवादी और आंतकवादी संघ उन्मूलित कर दिए गये और उन सभी समितियों और राजनैतिक दलों को अवैध और निषिद्ध घोषित कर दिया गया जो अधिग्रहण के विरोधी थे या जिन्होंने जापान की आक्रमणकारी नीति का समर्थन किया था। दूसरी आज्ञा के द्वारा उन सभी व्यक्तियों को सावर्जनिक पदों से हटा दिया गया जिन्होंने सैनिक राष्ट्रवाद और आक्रमण के मत का प्रतिपादन किया था; जो उग्रराष्ट्रवादी, आतंकवादी, गुप्त देशभक्त समितियों, जिन्होंने जापान में हिंसावादी नीति का प्रसार किया था, या उनके अभिकरणों या सम्बद्ध संघों के प्रभावशाली सदस्य रहे थे और जो सम्राजीय शासन सहायता संघ, सम्राजीय शासन सहायता राजनैतिक संघ या महान जापान राजनैतिक संघ की कार्यवाही में प्रभावशाली रहे थे। इन आज्ञाओं के फलस्वरूप संसद के लगभग ९० प्रति शत सदस्य पुनर्निर्वाचन के

लिये अयोग्य घोषित हो गये और लगभग १२० राजनैतिक संघटन विघटित कर दिये गये। जापान के समाचार पत्रों के अनुसार लगभग एक लाख पचास हजार व्यक्ति इन आज्ञाओं से प्रभावित हुए। बाद के निर्देशों के द्वारा विवर्जित व्यक्तियों के तीसरी श्रेणी तक के सम्बन्धी भी सार्वजनिक पदों के लिये अयोग्य घोषित कर दिये गये। जिला तथा नगर समितियों ने सभी नागरिकों के पूर्व कार्यों की छानबीन की जिसके परिणामस्वरूप ८७८१ अधिकारी और १,९३,१८० साधारण नागरिक सार्वजनिक पदों को ग्रहण करने से अयोग्य हो गये।

एक ओर नव प्रजातंत्रीय राज्य के निर्माण के लिये उचित वातावरण बनाया जा रहा था और दूसरी ओर जनरल मैकआर्थर ने जापान के संविधान पर विचार करना आरम्भ किया। जापान के पिछली अर्द्ध शताब्दी के इतिहास से प्रकट था कि सम्राट की सम्प्रभुता के सिद्धान्त पर आधारित मेइजी संविधान के अन्तर्गत जापान में प्रजातंत्रीय सरकार का विकास सम्भव नहीं है। अतः उन्होंने अक्तूबर सन् १९४५ में ही जापान के तत्कालीन प्रधान मन्त्री शिदेहारा से यह इच्छा प्रकट की कि वह मेइजी संविधान को उसकी संशोधन प्रणाली के अनुसार उदार बनाने का प्रयत्न करें और इस सम्बन्ध में उन्होंने मेइजी संविधान में निम्नांकित १२ परिवर्तन करने का निदेश दिया :

(१) प्रतिनिधि सभा के अधिकारों में वृद्धि की जाय,
(२) संसदीय उत्तरदायित्व का सिद्धान्त स्थापित किया जाय,
(३) अभिजात सभा का रोध-अधिकार समाप्त किया जाय,
(४) अभिजात सभा को प्रजातंत्रीय बनाया जाय,
(५) सम्राट् के रोध-अधिकार का अन्त किया जाय,
(६) सम्राट् की अध्यादेश और आज्ञा द्वारा विधि निर्माण की शक्ति कम की जाय,
(७) प्रभावपूर्ण मूलाधिकारों की व्यवस्था की जाय,
(८) एक स्वतन्त्र न्यायपालिका स्थापित की जाय,

(९) सरकारी कर्मचारियों पर महाभियोग चलाने और उनके प्रत्यावाहन की व्यवस्था की जाय,

(१०) सरकार पर सेना के प्रभाव का अन्त किया जाय,

(११) अंतरंग परिषद (Privy Council) को उन्मूलित कर दिया जाय, और

(१२) लोक उपक्रम और लोक निर्णय के द्वारा संविधान के संशोधन की व्यवस्था की जाय।

जापान सरकार ने डा० जोजी मात्सुमोतो की अध्यक्षता में एक समिति की नियुक्ति की और उसको उपरोक्त सिद्धान्तों को अपनाते हुए एक संविधान का प्रारूप तैयार करने की आज्ञा दी। सम्प्रभुता के प्रश्न पर जापान सरकार और मात्सुमोतो समिति दोनों का यह विचार था कि उसे सम्राट में ही निहित माना जाय, जनता में नहीं। इसलिये जापान सरकार ने मात्सुमोतो समिति द्वारा प्रस्तावित संविधान के संशोधन का सारांश स्वीकार कर लिया और उसे अपनी व्याख्या सहित प्रथम फरवरी को मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च समादेशक के पास स्वीकृति के लिये भेजा। जनरल मैकआर्थर ने अपने कार्यालय को इस सारांश की विस्तृत अस्वीकृति को तैयार करने की आज्ञा दी और उन्होंने साथ ही सर्वोच्च समादेश के सरकार विभाग द्वारा अपने सिद्धान्तों पर आधारित संविधान का एक प्रारूप भी तैयार करा लिया। अतः जब १३ फरवरी को जापान सरकार के प्रतिनिधि मण्डल को इस सम्बन्ध में जनरल मैकआर्थर से साक्षात्कार करने की स्वीकृति मिली तो उसे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उसका प्रारूप सारांश अस्वीकृत हो गया है और उसे सर्वोच्च समादेशक के सरकार विभाग द्वारा तैयार किये एक पूर्णतया भिन्न प्रारूप को संसद द्वारा पास कराने की आज्ञा दी गई। डा० मात्सुमोतो और विदेश मन्त्री योशिदा ने जनरल मैकआर्थर को यह विश्वास कराने का प्रयत्न किया कि उनका सारांश जापान की स्थिति के अनुकूल है पर वे अपने प्रयत्न में असफल रहे। प्रधान मन्त्री शिदेहारा ने सर्वोच्च समादेशक के प्रारूप और सरकार के सारांश के मध्य का मार्ग

अपनाने की स्वीकृति देने का अनुरोध किया पर जनरल मैकआर्थर ने इस विषय पर बात तक करने से इन्कार कर दिया।

जापानी मंत्रिमंडल को इस प्रकार विवश होकर जनरल मैक आर्थर के निदेश को स्वीकार करना पड़ा। उसने उनके द्वारा दिये हुए संविधान के प्रारूप का जापानी भाषा में अनुवाद कराया और उसे सर्वोच्च समादेशक की स्वीकृति को भेजा। सर्वोच्च समादेशक ने कुछ साधारण परिवर्तन करके उस अनुवाद को स्वीकार कर लिया। ६ मार्च को इस स्वीकृत प्रारूप को प्रकाशित किया गया और १० मार्च को संसद का नया चुनाव कराया गया। इन निर्वाचनों में पूर्व-वर्णित ४ जनवरी की दोनों आज्ञाओं के अंतर्गत विवर्जित व्यक्ति, जिनकी संख्या २ लाख से भी अधिक थी और जिनमें पूर्व संसद के लगभग ९० प्रतिशक्ति व्यक्ति सम्मिलित थे, अभ्यर्थी नहीं बन सके। निर्वाचनों में ७२ प्रतिशत मत-दाताओं ने भाग लिया। इन मतदाताओं में ६६ प्रतिशत ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने जापान में प्रथम बार मत दिया था। इन ६६ प्रतिशत नवीन मतदाताओं में अधिकांश स्त्रियाँ थीं जिन्हें मताधिकार प्रथम बार प्रदान किया गया था, क्योंकि इसके पूर्व जापान में केवल पुरुष वयस्क मताधिकार ही प्रचलित था। १५ अप्रैल को संविधान के प्रारूप का बोलचाल की जापानी भाषा में अनुवाद प्रकाशित किया गया और २० जून को वह मंत्रिपरिषद द्वारा प्रतिनिधि सभा में उपस्थित किया गया जो लगभग ३½ मास के वाद-विवाद के पश्चात् दोनों सदनों द्वारा पारित हुआ।

इस नवीन संविधान के निर्माण में संवैधानिकता के दिखाने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया गया। ६ मार्च को संविधान का प्रारूप प्रकाशित होते समय सम्राट् ने एक आदेश प्रकाशित किया कि जापानवासियों की स्वतंत्र इच्छा के अनुसार संविधान निर्माण की व्यवस्था की जाय। उसी दिन प्रधानमंत्री शिदे-हारा ने घोषित किया कि सम्राट् की इच्छा के अनुसार सरकार ने संविधान के प्रारूप की रूपरेखा प्रकाशित की है। संसद में भी प्रत्येक पठन पर यह घोषित किया गया कि वह दो-तिहाई बहुमत से स्वीकार किया गया है। ३ नवम्बर को

पश्चाद् संसद का निर्वाचन कराया गया और इस प्रकार जापान की जनता को उस पर इच्छा प्रकट करने का अवसर दिया गया। नव निर्वाचित संसद ने उस पर पूर्ण रूप से विचार किया और २४ अगस्त को प्रतिनिधि सभा ने २० अनुच्छेद बढ़ाकर एक अनुच्छेद हटाकर तथा २२ अनुच्छेदों को संशोधित करके ८ के विरुद्ध ४२१ मतों द्वारा प्रारूप को स्वीकार किया। अभिजात सभा ने एक मास से अधिक समय के वाद-विवाद के पश्चात् कुछ छोटे संशोधन करके उसे २ के विरुद्ध २९८ मतों से पारित किया। अन्तिम रूप में प्रारूप प्रतिनिधि सभा द्वारा ५ के विरुद्ध ३४२ मतों से स्वीकार किया गया। इसके पश्चात् यह संशोधित प्रारूप अन्तरंग परिषद के सम्मुख गया जिसने पर्याप्त विचार के पश्चात् उसे २९ अक्टूबर को स्वीकार किया। इस प्रकार यह प्रकट होता है कि संविधान जनता की स्वतंत्रता से प्रकट की गई इच्छा के अनुसार निर्माण किया गया। पर जिस देश के २ लाख से अधिक व्यक्ति निर्वाचनों में अभ्यर्थी बनने से वर्जित कर दिए गये हों और जिसकी भूमि पर २ लाख से अधिक विजेता विदेशी सेनाएँ नियंत्रण स्थापित किए हुए हों क्या उसकी जनता की इच्छा निर्वाचनों या संसद कहीं पर भी किसी भी समय स्वतंत्रतापूर्वक प्रकट की जा सकती है ? नहीं, जापान की तत्कालीन स्थिति और वातावरण में इच्छा की स्वतंत्र अभिव्यक्ति प्रत्येक प्रकार से असम्भव थी। निर्वाचनों में जनता की इच्छा का प्रतिनिधित्व करने वाले अभ्यर्थी नहीं थे और संसद सदस्यों का ध्यान बार बार देश की राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति की ओर आकर्षित किया जाता रहा। द्वितीय और तृतीय पठन पर संसद में हुए मतदान की संख्या की घोषणा नहीं की गयी। सर्वोच्च समादेश के अधिकारियों ने मंत्रियों, संसद की समितियों और प्रमुख सदस्यों पर भी प्रभाव डाला। इस प्रकार संसद द्वारा किया विचार एक दिखावा मात्र था। जो संशोधन हुए वह शाब्दिक थे और अनुच्छेदों का योग और उनकी कमी सर्वोच्च समादेशक के बाद के निदेशों के पालन रूप में ही किये गये।

नवीन संविधान की विशेषताएँ

जैसा पहले कहा जा चुका है, जापान के नवीन संविधान के निर्माण का

उद्देश्य पूर्व शासन व्यवस्था से यथासम्भव बाह्य एकरूपता बनाये रखते हुए एक ऐसे शासन की रूपरेखा प्रदान करना था जिसमें प्रजातन्त्रीय व्यवस्था के आधुनिकतम आदर्शों का समावेश हो और जिससे सैनिकवाद का पुनः विकास न हो सके। इसलिए इसमें कुछ अभूतपूर्व उपबन्ध पाये जाते हैं जिससे यह कहा जाता है कि "जापान का १६४७ का संविधान आधुनिक संवैधानिक सरकार के इतिहास में सर्वाधिक कौतूहलपूर्ण मूलभूत विधियों में से एक है।"[१] संक्षेप में उसमें निम्नांकित विशेषताएँ पायी जाती हैं :—

१. **एक लघु और सरल संविधान**—नवीन संविधान एक लघु और सरल संविधान है। इसमें केवल ११ अध्याय हैं जिनमें कुल १०३ अनुच्छेद हैं। स्विट्जरलैण्ड के संविधान में १२३ अनुच्छेद और कनाडा के संविधान में १४७ अनुच्छेद हैं। जापान के पड़ोसी देश रूस के संविधान में भी १४६ अनुच्छेद हैं। पर यह संविधान दूसरे पड़ोसी देश चीन लोक गणतंत्र के संविधान से बड़ा है क्योंकि चीन के संविधान में केवल ३७ अनुच्छेद ही हैं। सम्भवतः जापान का नवीन संविधान संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान से भी बड़ा है। जापान का यह संविधान लघु होने के साथ सरल भी है। इसकी भाषा में दरबारीपन और सामन्तवाद नहीं पाया जाता। इस कारण यह आसानी से समझा भी जा सकता है। यह संविधान निश्चित और स्पष्ट भी है। केवल अनुछेद ६६ के दूसरे खंड २ के अर्थ के सम्बन्ध में ही भ्रम है। इसमें लिखा है कि प्रधान मंत्री और दूसरे राज्य मंत्री असैनिक होंगे। असैनिक शब्द के लिए जापानी भाषा में बुम्मिन (bummin) शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रो० लाइनवार्जर, द्जागं और वर्क्स ने इसका शाब्दिक अर्थ व्यवहार विषयी व्यक्ति (civil affairs persons) बताया है।[२] इस अर्थ के अनुसार जापान में युद्ध, रक्षा, सैन्य इत्यादि विषयों के मंत्री नहीं हो सकते। पर जापान

[१] "Japan's 1947 Constitution is one of the most interesting fundamental laws in the history of modern constitution government." John M. Maki, *Op. cit.*, p. 77.

[२] Linebarger and others. *For Eastern Governments and Politicas.* (1956) p. 478.

के प्रो० यानागी ज़ावा ने इसका अर्थ केवल असैनिक बताया है। मेइजी संविधान के तत्सम्बन्धी उपबन्ध और उसके परिणामों की दृष्टि से प्रो० यानागी ज़ावा का मत ठीक है पर अनुच्छेद ६ की दृष्टि से, जिसमें युद्ध सामग्री को न रखने की घोषणा की गयी है, प्रो० लाइनवार्जर इत्यादि का मत ठीक है। संविधान के वर्तमान कार्यकरण से दोनों मतों की ही पुष्टि होती है पर वास्तविक अर्थ का अधिकृत निर्णय अभी तक नहीं हो सका है।

२. विशाल प्रस्तावना—नवीन संविधान की प्रस्तावना मेइजी संविधान की भाँति विशाल है। इसमें संवैधानिक उपबन्धों के स्थान पर दार्शनिकता को स्थान दिया गया है। यह प्रस्तावना संयुक्त राज्य अमेरिका की स्वतंत्रता उद्घोषणा से प्रभावित है और उसके अमरीका के नागरिकों द्वारा निर्मित होने का एक प्रमाण है। सम्भवतः उस समय का कोई जापानी राष्ट्रीयता का व्यक्ति उन सिद्धान्तों को जिन्हें इसमें स्थान दिया गया है सोच या लिख नहीं सकता था और कुछ ही व्यक्ति उस समय उसके अर्थ को समझते होंगे। इस प्रस्तावना में प्रमुख रूप से ५ बातें कही गयी हैं। प्रथम, संविधान जनता के प्रतिनिधियों द्वारा बना है और सम्प्रभुता जनता में निवास करती है। द्वितीय, सरकार एक न्यास है जिसके लाभ जनता द्वारा उपभोग किए जाते हैं। तृतीय, सरकार की शक्ति जनता के प्रतिनिधियों द्वारा प्रयोग की जाती है। चतुर्थ, जापानवासी शान्ति और न्यायप्रिय हैं। पञ्चम, सभी राष्ट्रों को शान्ति, भय तथा अभावों से स्वतंत्र रहने का अधिकार है। यह अन्तिम वाक्य संयुक्त राज्य अमेरिका के दिवंगत राष्ट्रपति फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट के सन् १९४१ के चार स्वतंत्रताओं नामक भाषण से प्रभावित है। इस भाषण में, अपने देश की ७८ वीं कांग्रेस की बैठक का उद्घाटन करते हुए दिया था, रूजवेल्ट ने घोषित किया था "भविष्य के दिनों में जिन्हें हम सुरक्षित बनाना चाहते हैं, हम चार अनिवार्य मानवीय स्वतंत्रताओं पर न्यासित एक विश्व की प्रतीक्षा करते हैं। प्रथम, विश्व में प्रत्येक स्थान पर भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता है। द्वितीय, विश्व में प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक व्यक्ति की अपनी निजी ढंग से ईश्वर की उपासना

करने की स्वतंत्रता है। तृतीय, अभावों से स्वतंत्रता है······चौथी भय से स्वतंत्रता है।"

लोक-सम्प्रभुता—संविधान लोक-सम्प्रभुता के सिद्धान्त पर आधारित है। संविधान की प्रस्तावना में कहा गया है "हम जापानी जन···यह उद्घोषणा करते हैं कि सम्प्रभुता जनता में निवास करती है और इस संविधान को दृढ़ता से स्थापित करते हैं। अनुच्छेद प्रथम में इसी प्रकार कहा गया है कि "सम्राट् उस जनता की इच्छा से, जिसमें सम्प्रभु शक्ति निवास करती है, अपना स्थान प्राप्त करते हुए राज्य और. जनता की एकता का प्रतीक होगा।" प्रस्तावना और अनुबन्ध प्रथम तो जनता की केवल राजनैतिक सम्प्रभुता की ही घोषणा मात्र करते हैं पर अनुच्छेद ४३, ७६ (२) और (३) और ६६ जनता की वैधानिक सम्प्रभुता को प्रवृत्त करते हैं। अनुच्छेद ४३ कहता है कि दोनों सदन सारी जनता के प्रतिनिधि निर्वाचित सदस्यों से मिलकर बनेंगे। अनुच्छेद ७६ (२) और (३) के अनुसार नियुक्ति के बाद होने वाले प्रतिनिधि सभा के निर्वाचन में और उसके प्रति दस वर्ष के पश्चात् सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति का जनता द्वारा पुनरीक्षण किया जाता है और बहुसंख्यक मतदाताओं द्वारा किसी न्यायाधीश की पदच्युति का समर्थन करने पर न्यायाधीश पदच्युत कर दिया जायेगा। अनुच्छेद ६६ के अनुसार संविधान के संशोधन को जनता द्वारा एक विशेष परिपृच्छा में अनुमोदित होने पर प्रवृत्त किया जायगा। इस प्रकार जनता की सम्प्रभुता केवल घोषणात्मक ही नहीं वरन् सक्रिय भी है।

४. युद्ध की छाप—इस संविधान का अध्ययन करने से यह विदित होता है कि यह एक ऐसे भीषण युद्ध के बाद बना है जिसमें जापान की जनता को बड़ी हानि और कष्ट हुआ है। संविधान की प्रस्तावना के शब्द कि 'फिर कभी हम पर सरकार के कार्य से युद्ध की विभीषका न आयेगी' यह स्पष्ट रूप से प्रकट करते हैं कि इस संविधान के बनने के पूर्व जापानवासियों पर एक भीषण युद्ध विभीषिका आई थी और वह युद्ध जापान की सरकार के कार्य से प्रारम्भ हुआ था। इसी प्रकार यह शब्द कि "हम···शान्ति की आकांक्षा करते हैं" और "शान्ति स्थापित रखने और अत्याचार और दासत्व, संताप तथा असहि·

ष्णुता को पृथ्वी से सदैव के लिए दूर करने हेतु प्रयत्नशील अन्तर्राष्ट्रीय समाज में एक सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त करने की आकांक्षा करते हैं" भी यही आभास देते हैं कि युद्ध जापान ने ही प्रारम्भ किया था। आज की अन्तर्राष्ट्रीय समाज में सम्मान विजेताओं का होता है और पराजित राष्ट्र को, भले ही उसने रक्षात्मक युद्ध किया हो, असम्मानपूर्ण स्थान दिया जाता है। इस दृष्टि से उपरोक्त शब्दों से यह भी ध्वनित होता है कि इस युद्ध में जापान पराजित हुआ था।

५. आरोपित संविधान—संविधान में तीन ऐसी वस्तुएँ हैं जो यह प्रकट करती हैं कि जनता के नाम पर बना और स्थापित किया यह संविधान जनता या उसके प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित या स्थापित न होकर किसी अन्य शक्ति द्वारा जापानवासियों पर आरोपित किया गया है। इनमें प्रथम बात यह है कि इसमें वर्णित सिद्धान्त जैसे 'सरकार एक पवित्र न्यास है, जिसकी शक्ति जनता से प्राप्त है, जिसकी शक्तियाँ जनता के प्रतिनिधियों द्वारा प्रयोग की जाती हैं, जिसके लाभ जनता द्वारा उपयोग किए जाते हैं,' 'विश्व के सभी राष्ट्रों को शान्ति और भय तथा अभावों से स्वतंत्र रहने का अधिकार है' और 'राजनैतिक नैतिकता के नियम सार्वभौमिक हैं' तत्कालीन जापानी राजदर्शन इतिहास, परिपाटी और मान्यताओं के प्रतिकूल थे।[१] द्वितीय इसके कुछ वाक्य जैसे, 'फिर कभी हम पर सरकार के कार्य से युद्ध की विभीषिका न आयेगी'; 'हमने विश्व के शान्तिप्रिय राष्ट्रों के न्याय और सद्भावना पर भरोसा करते हुए अपनी सुरक्षा और स्थिति को परिरक्षित रखने का निश्चय किया है', और 'हम जापानी जन सम्पूर्ण शक्ति द्वारा इन उच्च आदर्शों की प्राप्ति हेतु अपने राष्ट्रीय सम्मान की प्राधीयित (pledge) करते हैं' जापान ऐसे राष्ट्र द्वारा स्वेच्छा से लिखना असम्भव था। तृतीय, वर्तमान शस्त्रीकरण के युग में युद्ध और युद्ध-प्रसाधनों के त्याग की घोषणा जो अनुच्छेद ९ में की गई है जापान द्वारा बिना किसी दबाव के करना संभव नहीं थी।

1 "It is filled with ideas and concepts almost completely foreing to Japanese history tradition and values." John M. Maki, *Op. cit.*, p. 77.

६. **अधिकारगत** (Titular) सम्राट्—नवीन संविधान के अंतर्गत सम्राट् केवल नामधारी व्यक्ति है। वह राज्य और जनता का प्रतीक है। उसकी स्थिति जनता की इच्छा पर आधारित है। संविधान में उसके अनेक कार्यों का वर्णन है जैसे, संविधान के संशोधनों, विधियों, मंत्रिपरिषद की आज्ञाओं और सन्धियों का प्राख्यापन करना; संसद का आह्वान करना; प्रतिनिधि सभा को विघटित करना; संसद के सदस्यों के निर्वाचन की उद्घोषणा करना; राज्य मंत्रियों तथा अन्य अधिकारियों की नियुक्ति और पदच्युति का प्रमाणीकरण करना, राजदूतों तथा मन्त्रियों के पूर्ण अधिकारों और परिचय-पत्रों का प्रमाणीकरण करना; राज्यविरोधी कार्यों के लिए साधारण या विशेष क्षमा, दंड लघुकरण और अधिकारों का पुनर्स्थापन करना; सम्मान प्रदत्त करना, अनुसमर्थन और अन्य राजकीय लेखों का प्रमाणीकरण करना; अन्य देशों के राजदूतों और मन्त्रियों का स्वागत करना इत्यादि। पर यह सभी कार्य उसे मन्त्रि परिषद की मंत्रणा और अनुमोदन से करना है। इनमें वह स्वविवेक से कार्य नहीं कर सकता है। संविधान द्वारा उसे एक भी अधिकार प्राप्त नहीं है। वह अधिकारगत है। अनुच्छेद चार में स्पष्ट लिखा है कि सरकार के सम्बन्ध में उसे कोई शक्ति न होगी।

७. मंत्रि परिषदात्मक कार्यपालिका—अनुच्छेद ६५ के अनुसार राज्य की कार्यपालिका शक्ति मन्त्रिपरिषद (Cabinet) में निहित है। इस प्रकार मन्त्रिपरिषद संवैधानिक और वास्तविक दोनों प्रकार से राज्य की कार्यपालिका शक्तियों से सम्पन्न है। अनुच्छेद ६६ की तृतीय कंडिका के अनुसार मन्त्रि परिषद अपनी कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में संसद के प्रति सामूहिक रीति से उत्तरदायी है। पर इस उत्तरदायित्व का अर्थ सम्भवतः यह नहीं है कि संसद मन्त्रिपरिषद को पदच्युत कर सकती है। मन्त्रिपरिषद को पदच्युत करने का अनन्य अधिकार प्रतिनिधि सभा को है। संविधान के अनुच्छेद ६६ के अनुसार "यदि प्रतिनिधि सभा एक अविश्वास संकल्प पारित करती है या एक विश्वास संकल्प अस्वीकार कर देती है, तो यदि प्रतिनिधि सभा दस दिन के अन्दर विघटित नहीं कर दी जाती तो मंत्रि-परिषद सामूहिक रूप में पद त्याग कर

देगी।" अनुच्छेद ७० के आधार पर मंत्रि-परिषद को प्रतिनिधि सभा के सदस्यों के महानिर्वाचन के पश्चात् संसद के प्रथम आह्वान पर सामूहिक रूप से पद-त्याग कर देना पड़ता है। इस प्रकार मंत्रि-परिषद की पदच्युति में पारिषद् सभा का कोई भाग नहीं है। अतः अनुच्छेद ६६ के अंतर्गत मन्त्रि-परिषदीय उत्तर-दायित्व का अर्थ केवल यह प्रतीत होता है कि दोनों सदन मंत्रि-परिषद के सदस्यों से उनकी कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग के सम्बन्ध में प्रश्न पूछ सकते हैं और उनके कार्यों की छानबीन कर सकते हैं। मंत्रि-परिषद के अधिकांश सदस्यों का संसद का सदस्य होना भी आवश्यक है।

संसद द्वारा किसी विधेयक या आय-व्यय लेखा की अस्वीकृति होने पर मंत्रि-परिषद को पद त्याग करने की आवश्यकता नहीं है। उसे पद त्याग करना तो केवल प्रतिनिधि सभा द्वारा औपचारिक रूप से विश्वास अभाव को प्रकट करने पर ही आवश्यक है। इसलिए प्रो० यानागा का मत है कि जापान की कार्य-पालिका संयुक्त राज्य अमेरिका की अध्यक्षात्मक पद्धति और ब्रिटेन की संसदात्मक पद्धति का एक विलक्षण मिश्रण है जिसमें प्रथम की अपेक्षा द्वितीय पद्धति की विशेषताएँ अधिक दिखाई पड़ती हैं। वास्तविकता यह प्रतीत होती है कि संविधान निर्माताओं ने संसद को विधेयकों और आय-व्यय लेखा पर स्वतं-त्रतापूर्वक मत देने तथा आशंकित बहुदल प्रथा के अत्यस्थायित्व (extreme instability) से मंत्रि-परिषद तथा संसद को बचाने के लिए ~~यह व्यवस्था~~ की है। पर मंत्रि-परिषद ने इन उपबन्धों का लाभ नहीं उठाया है और अपने कार्यकरण में वह पूर्णरूप से संसदात्मक मंत्रि-परिषदीय व्यवस्था का अनुसरण कर रही है।

८. द्विसदनीय व्यवस्थापिका—राज्य शक्ति का सर्वोच्च अवयव और राज्य की विधि-निर्माण का अनन्य अवयव संसद है। संसद में दो सदन हैं। निम्न सदन का नाम प्रतिनिधि सभा (The House of Representatives) है। उच्च सदन का नाम पारिषद् सभा (The House of Councillors) है। दोनों सदनों के सभी सदस्य जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने जाते हैं। प्रतिनिधि सभा की कार्यावधि चार वर्ष है पर उसे इस अवधि के पूर्व भी विघटित किया जा

सकता है। पारिषद सभा एक स्थायी सदन है पर उसके सदस्यों की कार्यावधि ६ वर्ष है और प्रति तीन वर्ष में उसके आधे सदस्यों का निर्वाचन होता है। कार्यपालिका दोनों सदनों के प्रति उत्तरदायी है। दोनों सदन मंत्रियों से प्रश्न पूछ सकते हैं और उनके कार्यों की छानबीन कर सकते हैं। दोनों सदन अपने सदस्यों की अर्हता निश्चित करते हैं। दोनों संदनों की गणपूर्ति कुल सदस्यों की संख्या की तिहाई है। दोनों सदन स्वयं अपने अध्यक्ष और अन्य अधिकारी निर्वाचित करते हैं।

९. **निम्नसदन का शक्त्याधिक्य**—दोनों सदनों के संगठन और अधिकारों की उपरोक्त समानता होने पर भी निम्न सदन, प्रतिनिधि सभा की शक्ति अधिक है। संसद के तीन प्रमुख कार्य हैं : प्रथम, वह विधेयकों तथा आय-व्यय लेखा को पास करती है। द्वितीय, वह प्रधान मंत्री को निर्वाचित करती है। तृतीय, वह मंत्रि-परिषद को पदच्युत करती है। तृतीय कार्य में पारिषद् सभा को कोई भाग नहीं दिया गया है। साधारण विधेयक यदि प्रतिनिधि सभा द्वारा पारित हो चुकने पर पारिषद् सभा द्वारा ६० दिन के अन्दर पारित नहीं कर दिया जाता है तो प्रतिनिधि सभा द्वारा उसे दो-तिहाई बहुमत द्वारा पारित कर देने पर वह दोनों सदनों द्वारा पारित मान लिया जाता है। आय व्यय लेखा पहले प्रतिनिधि सभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता है और उसके द्वारा पारित हो चुकने पर वह यदि पारिषद् सभा द्वारा ३० दिन के अन्दर पास नहीं कर दिया जाता तो वह प्रतिनिधि सभा द्वारा पास किये गये रूप में ही दोनों सदनों द्वारा पास मान लिया जाता है। प्रधानमंत्री के निर्वाचन में भी प्रतिनिधि सभा का ही हाथ अधिक है। प्रतिनिधि सभा द्वारा नामोदिष्टि कर देने पर यदि पारिषद् सभा उससे सहमत नहीं होती और संयुक्त समिति में भी इस पर समझौता नहीं हो पाता या पारिषद् सभा दस दिन तक नामोदिष्टि नहीं कर पाती तो प्रतिनिधि सभा का निश्चय ही संसद का निश्चय समझा जाता है। इसके अतिरिक्त प्रतिनिधि सभा के सदस्यों का महा निर्वाचन होने के पश्चात् मंत्रि-परिषद का पद त्याग कर देना आवश्यक है।

१०. **एकात्मक संविधान**—जापान का संविधान एकात्मक है। यद्यपि

देश मुख्य चार द्वीपों में विभक्त है पर इन द्वीपों को संघीय आधार पर द्वीपीय स्व-शासन का अधिकार प्राप्त नहीं है। प्रो० डायसी के अनुसार एक संघीय संविधान के तीन प्रमुख लक्षण होते हैं : प्रथम, संविधान का लिखित और कुपरिवर्तनशील होना; द्वितीय केन्द्र और इकाइयों की सरकारों में संविधान द्वारा ही राज्य अधिकारों का विभाजन होना; और तृतीय, संविधान की व्याख्या के लिए एक स्वतंत्र न्यायालय होना। जापान के संविधान में प्रथम और तृतीय लक्षण तो पाये जाते हैं पर द्वितीय लक्षण का पूर्ण अभाव है। संघात्मक संविधान में द्वितीय लक्षण की ही प्राथमिकता होती है, प्रथम और तृतीय लक्षण तो उसके केवल पूरक उपबन्ध होते हैं जिनका उद्देश्य अधिकार विभाजन को स्थिर रखना है। द्वितीय लक्षण का अभाव होने के कारण जापान का संविधान विशुद्ध रूप में एकात्मक है।

११. कुपरिवर्तनशील संविधान—जापान का संविधान कुपरिवर्तनशील है। इसके संशोधन के लिए एक असाधारण पद्धति निश्चित है। साधारण विधेयक पास करने के लिए दोनों सदनों की गणपूर्ति उनकी संपूर्ण सदस्य संख्या का एक-तिहाई है और ये तिहाई सदस्य अपने साधारण बहुमत से विधेयक पारित कर सकते हैं। पर संविधान संशोधन के लिए यह आवश्यक है कि उसके संशोधन के प्रस्ताव का उपक्रम संसद के प्रत्येक सदन के सम्पूर्ण सदस्यों के दो-तिहाई या अधिक के द्वारा पारित किया जाय और इसके पश्चात् वह जनता के अनुसमर्थन हेतु एक विशेष परिपृच्छा के लिए समर्पित किया जाय। वह प्रस्ताव उस पर दिये सम्पूर्ण मतों के बहुसंख्यक प्रतिज्ञानी मतों द्वारा पारित हो जाने पर ही प्राख्यापित किया जा सकता है। यह संशोधन पद्धति रूस, भारत और कभी-कभी संयुक्त राज्य अमेरिका भी के संविधानों को परिवर्तन की पद्धतियों से अधिक कुपरिवर्तनीय है। रूस का संविधान उसके दोनों सदनों में संशोधन प्रस्ताव पर दिए मतों के दो-तिहाई प्रतिज्ञानी मतों को प्राप्त कर लेने पर ही संशोधित हो जाता है। उसके लिए सम्पूर्ण सदस्यों के दो-तिहाई प्रतिज्ञानी मतों और जनता के अनुसमर्थन की आवश्यकता नहीं है। भारत के संविधान का अधिकांश भाग तो संसद द्वारा स्वयं ही अपने उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई

बहुमत और सम्पूर्ण सदस्यों के साधारण बहुमत से संशोधित किया जा सकता है और अन्य भागों के लिए उसके आधे राज्यों के विधान मंडलों का साधारण बहुमत से पारित संकल्पों द्वारा अनुसमर्थन ही आवश्यक है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के संशोधन का प्रस्ताव संघीय व्यवस्थापिका के सदनों द्वारा केवल उपस्थित सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से ही पारित होना चाहिए। संघीय देश होने के कारण उसका तीन-चौथाई राज्यों की व्यवस्थापिका का अनुसमर्थन आवश्यक है जो परिस्थिति अनुसार मतदाताओं के बहुमत और अल्पमत दोनों का ही हो सकता है।

१२. **संविधान की उच्चता**—अनुच्छेद ६८ यह घोषित करता है कि यह संविधान देश की सर्वोच्च विधि है और कोई भी विधि, अध्यादेश, सम्राटीय आज्ञप्ति, या सरकार का अन्य कार्य या उसका भाग जो उसके उपबन्धों के प्रतिकूल होगा वैधानिक शक्ति या वैधता न रक्खेगा। इस अनुच्छेद ने संविधान के महत्व और उसकी कुपरिवर्तनशीलता दोनों को ही बढ़ा दिया है। अब इसके प्रतिकूल विधि का निर्माण करके अनौपचारिक रीति से परिवर्तित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार संविधान कुपरिवर्तनशील ही नहीं है वरन कुनम्य भी है।

१३. **महत्वपूर्ण न्यायपालिका**—नवीन संविधान में न्यायपालिका को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है। सम्पूर्ण न्यायपालिका शक्ति एक सर्वोच्च न्यायालय और विधि द्वारा स्थापित अन्य न्यायालयों में निहित है। न तो कोई असाधारण न्यायालय स्थापित किया जा सकता है और न किसी कार्यपालिका अधिकरण या अन्य अवयव को अन्तिम न्यायिक शक्ति प्रदान की जा सकती है। न्यायपालिका कार्यपालिका विभाग से स्वतंत्र है। न्यायालयों की प्रक्रिया, न्यायवादियों, न्यायालयों के आंतरिक अनुशासन और न्यायायिक विषयों के प्रशासन का अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को ही दिया गया है। राजकीय अभियोक्ता भी सर्वोच्च न्यायालय की नियम निर्माण शक्ति के अन्तर्गत हैं। किसी कार्यपालिका अधिकरण या अवयव के द्वारा किसी भी न्यायाधीश के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही नहीं की जा सकती। किसी भी न्यायाधीश

को अधिकृत न्यायालय द्वारा मानसिक या शारीरिक रूप से अक्षम घोषित होने की स्थिति के अतिरिक्त बिना सार्वजनिक महाभियोग के पदच्युत नहीं किया जा सकता। न्यायाधीशों का वेतन भी उनके कार्यकाल में कम नहीं किया जा सकता। सर्वोच्च न्यायालय को कार्यपालिका द्वारा अवाञ्छनीय न्यायाधीशों से संवेष्ठित करने से बचाने के लिए जनता को परिपृच्छा द्वारा उनको अपदस्थ करने का अधिकार दिया गया है। न्यायालयों को विधियों, आज्ञाओं, नियमों या अन्य अधिकारी कार्यों की संवैधानिकता निश्चय करने का अधिकार है और इस प्रकार उसे संविधान के प्रतिकूल विधियों, अध्यादेशों, सम्राटीय आज्ञप्तियों तथा अन्य सरकारी कार्यों को वैधानिक शक्ति से रिक्त और वैधताविहीन घोषित करने का अधिकार दिया गया है। इस रूप में न्यायालय संविधान के संरक्षक और व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका शक्तियों के नियंत्रक हैं। वह इस अधिकार से जनता के मूलाधिकारों की रक्षा भी कर सकते हैं।

१४. लोक अधिकार और कर्त्तव्य—संविधान के अध्याय ३ में लोक अधिकारों और कर्त्तव्यों का वर्णन है। यह संविधान का सबसे बड़ा अध्याय है और इसमें ३१ अनुच्छेद हैं। यह अध्याय संविधान पर संयुक्त राज्य अमेरिका के आदर्शों को सर्वाधिक स्पष्ट रूप में प्रतिबिम्बित करता है। वास्तव में इस संविधान में वर्णित जापानवासियों के अत्याज्य विशेषाधिकार संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान और उसके संशोधनों में वर्णित मूलाधिकारों से अधिक हैं। इन अधिकारों में जीवन; स्वतंत्रता; प्रसन्नता की प्राप्ति; समानता; सार्वजनिक अधिकारियों के निर्वाचन; वयस्क मतदान; मतदान गुप्तता; अधिकारियों के अवैधानिक कार्यों से होने वाली क्षति को पूरा कराने; विचार और विश्वास की स्वतंत्रता; धार्मिक स्वतंत्रता; एकत्र होने; संघ बनाने और विभिन्न प्रकार से विचारों की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता; निवास स्थान को चुनने और उसे परिवर्तित करने; विदेश जाने और राष्ट्रीयता को परिवर्तन करने; शिक्षा सम्बन्धी स्वतंत्रता; अपनी सहमति से विवाह करने; पूर्ण और संस्कृत जीवन के न्यूनतम स्तर को रखने; सामर्थ्य के अनुसार समान शिक्षा पाने; कार्य करने; श्रमिकों को संगठित होने और सामूहिक रूप से सौदा करने; सम्पत्ति के स्वामित्व को प्राप्त

करने, उसे रखने, और उसके सार्वजनिक कार्य के लिए लिये जाने पर उचित प्रतिकर पाने इत्यादि के अधिकार सम्मिलित हैं। शायद ही किसी देश के संविधान में वर्णित अधिकारों की सूची इतनी लम्बी हो। यद्यपि अधिकारों के अपवाद और परसीमन हैं पर वे उतने नहीं हैं जितने कि भारतीय संविधान में वर्णित अधिकारों के हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के अधिकारों के अपवाद व परिसीमन संविधान में वर्णित नहीं हैं पर वह न्यायालय द्वारा निर्धारित कर दिए गए हैं और समग्र रूप में जापान के संविधान में वर्णित अधिकार संयुक्त राज्य के संविधान में वर्णित अधिकार से अधिक व्यापक हैं। संविधान में कर्त्तव्यों का भी वर्णन है पर इन कर्त्तव्यों में कोई भी विशेष अधिकारवादी या आदर्शवादी नहीं है। सर्व प्रथम वर्णित कर्त्तव्य अधिकारों की रक्षा, उनका दुरुपयोग न करना और उन्हें लोक कल्याण में प्रयोग करना है। अनुच्छेद २६ (२) में अपने परिरक्षण के लड़कों और लड़कियों को निःशुल्क शिक्षा दिलाना प्रत्येक व्यक्ति का आभार बताया गया है। इस प्रकार कर्त्तव्य केवल चार ही हैं।

१५. **स्थानीय सरकारों की स्वायत्तता**—नवीन संविधान की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि इसमें स्थानीय सरकार के सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। अनुच्छेद ३२ में यह घोषित किया गया है कि स्थानीय सत्ताओं के संगठन और प्रवर्तन सम्बन्धी नियम स्थानीय स्वायत्तता के सिद्धान्त पर निश्चित किए जायेंगे। संविधान में आगे यह भी कहा गया है कि सभी स्थानीय सत्ताओं के मुख्य कार्यपालिका अधिकारी, उनकी सभाओं के सदस्य और विधि द्वारा निश्चित अन्य अधिकारी जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किए जायेंगे। स्थानीय सत्ताओं को अपनी सम्पत्ति, विषयों और प्रशासन का प्रबन्ध करने और विधि के अन्तर्गत उनके सम्बन्ध में विनियम बनाने का अधिकार होगा। कोई विशेष विधि जो केवल एक ही स्थानीय सत्ता पर प्रयोज्य हो संसद द्वारा उस सत्ता के मतदाताओं के बहुमत की सम्मति के बिना अधिनियमित नहीं की जा सकती है।

१६. **युद्ध का त्याग**—नवीन संविधान की एक अभूतपूर्व विशेषता उसके

अनुच्छेद ९ में पायी जाती है।[1] इसमें जापानवासी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निर्णय करने में शक्ति के प्रयोग या उसकी धमकी और राष्ट्र के सम्प्रभु अधिकार के रूप में युद्ध के त्याग की घोषणा करते हैं और यह संकल्प करते हैं कि उपरोक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिये स्थल, जल और वायु सेनाएँ तथा अन्य युद्ध शक्ति-सामग्री नहीं रखी जायेगी। संविधान प्रवृत्त होने के पश्चात् के जापान के इतिहास को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जापान ने इस अनुच्छेद को विवशता में स्वीकार किया होगा। और इसमें भी सन्देह है कि जापान इस अनुच्छेद का अधिक समय तक पालन करेगा। तर्कपूर्ण व्याख्या के आधार पर इसे बहुत कुछ अभी ही समाप्त कर दिया गया है। संविधान में इस अनुच्छेद का समावेश सुदूर पूर्व की राजनीति में जापान की शक्ति तत्व को समाप्त करने के उद्देश्य से किया गया था। उस समय यह धारणा फैली थी कि सुदूर पूर्व की शान्ति को जापान के सैनिकवाद ने ही नष्ट किया है। पर रूस और संयुक्त राज्य के सम्बन्ध बिगड़ जाने, और विशेषकर, चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना से संयुक्त राज्य को इस अनुच्छेद पर पुनर्विचार करना पड़ा। फलतः सर्वोच्च समादेश के प्रधान जनरल मैकआर्थर ने जापानवासियों को दिए अपने सन् १९५० के नव वर्षीय सन्देश में यह कहा कि जापान ने राष्ट्रीय प्रतिरक्षा के लिए अपने शस्त्रीकरण करने के अधिकार का त्याग नहीं किया है। सर्वोच्च समादेश के सरकारी विभाग के प्रधान जनरल ह्विटने (Whitney) ने इसकी व्याख्या करते हुए प्रतिरक्षा के उद्देश्य से की गयी सैनिक सन्धि की वैधानिकता का भी समर्थन किया। स्वभावतः जापान के प्रधान मन्त्री योशीदा ने अपने २४ जनवरी के वक्तव्य में प्रतिरक्षात्मक शस्त्रीकरण के दृष्टिकोण का समर्थन किया और शीघ्र ही इस दिशा में प्रयत्न प्रारम्भ हो गये। कोरिया के युद्ध के समय यह कार्य अधिक शीघ्रता से किया गया और सितम्बर १९५१ में संयुक्तराज्य से एक सुरक्षा सन्धि भी हो गयी। आधुनिक समय में आक्रामक और प्रतिरक्षात्मक

---

1 "The renunciation of war, set forth in the famous article 9 is undoubtedly the most dramatic provision of the constitution." John M. Maki, *Op. cit.*, p. 81.

शस्त्रास्त्रों में अन्तर नहीं है। इसलिए जापान ने सन् १६५६ तक ढाई लाख से अधिक सैनिकों की स्थल, जल और वायुसेना को आत्म प्रतिरक्षा-बल (Self-defence Force) के नाम से सङ्गठित कर लिया था। इस प्रकार "संविधान के अनुच्छेद ६ की द्वितीय कंडिका परिस्थिति की वास्तविकताओं के समानुरूपित नहीं होती"[१] और उसकी प्रथम कंडिका का क्या भाग्य होगा, यह भविष्य ही बताएगा।

इटली गणतंत्र के १ जनवरी सन् १६४८ के संविधान के अनुच्छेद ११ में घोषित किया गया है कि "इटली, युद्ध की दूसरे राष्ट्रों की स्वतन्त्रताओं के विरुद्ध अभ्याक्रमण और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने के साधन के रूप में, भर्त्सना करता है और यह दूसरे राज्यों के साथ समानता की स्थिति पर अपनी सम्प्रभुता पर ऐसे परिसीमन को सहमत है जो राष्ट्रों के मध्य शान्ति और न्याय प्रतिभूत करने की उपयुक्त पद्धति के लिए आवश्यक हो।"[२] पर यह केवल घोषणा मात्र है इसका प्रभाव नहीं के बराबर है क्योंकि इसमें सेना को रखने और उसके प्रतिरक्षात्मक प्रयोग पर कोई निषेध नहीं है और युद्ध के पूर्व सीमा पर ऐसी स्थिति पैदा करना एक अत्यन्त सरल कार्य है जिससे वास्तविक आक्रामक को निश्चयपूर्वक बताया ही न जा सके। इटली की मन्त्रिपरिषद में एक विधिवत सुरक्षा विभाग है और उसकी सुगठित सेनाएँ हैं।

मेइजी संविधान और नवीन संविधान में तुलना

मेइजी संविधान और नवीन संविधान में प्रत्येक दृष्टि से विशाल अन्तर

[१] "the second paragraph of Article 9 of the Constitution no longer conformed with the realities of the situation." Sir Esler Dening—*Japan*, 1960.

[२] Italy condemns war as an instrument of aggression against the liberties of other peoples and as a means for settling international centroversies; it agrees on conditions of equality with other states, to such limitations of sovereignty as may be necessary for a system calculated to ensure peace and justice between Nations......"Article 11 of the Constitution of Italian Republic.

है। मेइजी संविधान जापानवासियों ने, जो पुनर्स्थापन के नेता थे, स्वतन्त्रता-पूर्वक बनाया था। उस समय जनता में भी राजनैतिक जागरूकता न थी। इसलिए संविधान सम्राट् का एक अनुदान था। उसमें राजतंत्र और सामन्ततंत्र पर बल था। मेइजी पुनर्स्थापन अपने सच्चे अर्थ में एक प्रजातांत्रिक सुधार न था और उसके अन्तर्गत किए गए परिवर्तन में पूर्व पद्धति एक बड़ी मात्रा में बनी रही। संविधान स्वयं ही प्रशा के संविधान पर जो उस समय का विशिष्ट संवैधानिक राजतंत्री संविधान था आधारित था। वर्तमान संविधान संयुक्त राज्य अमेरिका के निवासियों द्वारा प्रारूपित किया गया और उसमें ब्रिटिश-अमरीकी आदर्शों का उनके वास्तविक रूप में समावेश किया गया है। स्वभावतः वह जनता की सम्प्रभुता की घोषणा करता है और जनता के नाम पर ही स्थापित किया गया है।

यद्यपि दोनों संविधान ही अधिक लम्बे नहीं हैं पर मेइजी संविधान अपने समय के प्रमुख संविधानों में सबसे छोटा संविधान था। उसमें केवल सात अध्याय और ७६ अनुच्छेद थे। वह संविधान संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान से छोटा था। वर्तमान संविधान उस संविधान से बड़ा है। इसमें ११ अध्याय और १०३ अनुच्छेद हैं। सम्भवतः यह संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान से भी कुछ बड़ा है। दोनों संविधानों की भाषा और स्पष्टता में भी अन्तर है। मेइजी संविधान की भाषा में दरबारीपन, सामन्तवाद और दुरूहता थी। वर्तमान संविधान की भाषा इन दोषों से मुक्त है। उसमें सरलता है। यह संविधान मेइजी संविधान की अपेक्षा स्पष्ट भी है। मेइजी संविधान में अनेक स्थल अस्पष्ट थे। उदाहरणार्थ उसमें प्रधान मंत्री और मन्त्रिपरिषद का वर्णन ही न था। उनके उत्तरदायित्व को लिखा गया था पर यह नहीं बतलाया गया था कि वह उत्तरदायित्व किसके प्रति है? मंत्रियों की नियुक्ति की पद्धति क्या होगी? वर्तमान संविधान में ऐसे दोषों का अभाव है और एक-आध त्रुटियाँ जो हैं वह इतनी सूक्ष्म हैं कि साधारणतया उनका ज्ञान नहीं होता।

दोनों संविधानों के आदर्शों में अन्तर है। प्राचीन संविधान सम्राट् की वंशानुगत सम्प्रभुता के सिद्धान्त पर आधारित था। लोक कल्याण, प्रजा की

सम्पन्नता, उसके नैतिक और बौद्धिक गुणों आदि का विकास और उसकी सम्पत्ति और अधिकारों की रक्षा का ध्यान सम्राट् की उदारता मात्र थी। वर्तमान संविधान प्रजा की सम्प्रभुता के सिद्धान्त पर आधारित है। वह सरकार को एक ऐसा न्यास बताता है जिसके अधिकार प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा प्रयोग किए जाते हैं और जिसके लाभ जनता द्वारा उपभोग किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त यह संविधान विश्वशान्ति, सहिष्णुता, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग आदि उच्च आदर्शों के प्रति सम्मान प्रकट करता है और युद्ध का राष्ट्र के सम्प्रभु अधिकार तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को तय करने के साधन के रूप में प्रयोग न करने तथा इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए जल, थल और वायु सेनाओं और युद्ध के अन्य प्रसाधनों को न रखने की भी घोषणा करता है। अपनी रक्षा के लिए वह देश को विश्व के शान्तिप्रिय राष्ट्रों की न्याय और सद्भावना पर आश्रित बताता है।

दोनों संविधानों में सबसे महत्वपूर्ण अन्तर उनके सम्राटों की स्थिति में है। मेइजी संविधान के अन्तर्गत सम्राट् वंशानुगत सम्प्रभुता से युक्त और राज्य का प्रधान था। वह संसद् की सम्मति से व्यवस्थापिका शक्ति का प्रयोग करता था। वह विधियों को स्वीकृति देता था। उसे अध्यादेश जारी करने का अधिकार था। वह मंत्रिपरिषद् की मंत्रणा से कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग करता था। न्याय उसके नाम से होता था। वह देव पुत्र (Tenno = Heavenly Lord) था। वर्तमान संविधान में भी वह देवपुत्र (Tenno) की संज्ञा से विभूषित है। पर उसके अधिकार समाप्त हो गये हैं। अब व्यवस्थापिका शक्ति अनन्य रूप से संसद में निहित है; कार्यपालिका शक्ति मंत्रिमंडल में निहित है और सम्पूर्ण न्यायपालिका शक्ति सर्वोच्च न्यायालय और विधि द्वारा स्थापित निम्न न्यायालयों में निहित है। इस प्रकार से वर्तमान संविधान में कार्यात्मक शक्ति पृथक्करण है। सम्राट् केवल राज्य और जनता की एकता का प्रतीक है। उसकी स्थिति सम्प्रभुता युक्त जनता की इच्छा पर निर्भर है और वह अपने सारे कार्य मंत्रिपरिषद की मंत्रणा और अनुमोदन से करता है। मेइजी संविधान के अन्तर्गत वह व्यक्तिगत रूप में विश्व का सर्वाधिक सम्पन्न व्यक्ति था पर अब उसकी सारी

सम्पत्ति राज्याधिकार में है। उसके पास कोई विशेष निजी सम्पत्ति अवशिष्ट नहीं है।

दोनों संविधानों में वर्णित जनता के मूल अधिकारों में भी अन्तर है। मेइजी संविधान के अधिकार संख्या में कम, विधि द्वारा अधिक परिसीमनीय और न्यायपालिका द्वारा अप्रवृत्तीय थे। वे प्रजा के अधिकार थे। वर्तमान संविधान में वर्णित अधिकार संख्या में अधिक, विधि द्वारा कम परिसीमनीय और न्यायपालिका द्वारा प्रवृत्तीय है। ये जनता के अधिकार हैं।

दोनों संविधानों में मन्त्रिपरिषद के स्थान में भी महान् अन्तर है। मेइजी संविधान के अन्तर्गत कार्यपालिका शक्ति सम्राट में निहित थी। उसमें मन्त्रि-परिषद का स्थान ही न था। केवल एक अनुच्छेद में यह लिखा था सम्बन्धित मन्त्री सम्राट् को अपनी राय देंगे और उसके लिए उत्तरदायी होंगे। सम्राट् के सभी अध्यादेशों और आज्ञप्तियों पर जो राज्य के सम्बन्ध में होंगी एक राज्य-मन्त्री के प्रति-हस्ताक्षर होंगे। उसमें प्रधानमन्त्री, अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति और उनके शासनाधिकारों का भी वर्णन न था। वर्तमान संविधान के अन्तर्गत मन्त्रिपरिषद कार्यपालिका अधिकारों से युक्त है। प्रधान मन्त्री उसका प्रधान होता है। प्रधान मन्त्री संसद द्वारा नामोद्दिष्ट किया जाता है और वह अपने सहयोगियों को नियुक्त और पदच्युत करता है। इसमें सभी मन्त्रियों का असैनिक होना आवश्यक है। यह संसद के प्रति उत्तरदायी है और प्रतिनिधि सभा इसे अविश्वास का प्रस्ताव पास करके पदच्युत कर सकती है। सभी विधियों और मन्त्रि-परिषद की आज्ञाओं पर सक्षम मन्त्री हस्ताक्षर करता है और प्रधान मन्त्री प्रति-हस्ताक्षर करता है। सामान्य प्रशासन कार्यों के साथ ही मन्त्रिपरिषद विधियों का प्रशासन, विदेश विषयों का प्रबन्ध, सन्धि निश्चय, लोक सेवा का प्रशासन, बजट की तैयारी और उसकी संसद के समक्ष प्रस्तुति, संविधान के कार्या-न्वन के लिए मन्त्रिपरिषदीय आज्ञाओं का अधिनियम, और सामान्य क्षमा, विशेष क्षमा, दण्ड लघुकरण, प्रविलम्बन और अधिकारों का पुनर्स्थापन करती है।

मेइजी संविधान के अन्तर्गत सम्राट् को मन्त्रणा देने के लिए मन्त्रिपरिषद के

अतिरिक्त अंतरग परिषद, वरिष्ट परिषद, मुद्राध्यक्ष, सम्राट परिवार मंत्री, सम्राटीय सम्मेलन आदि कई संस्थाएँ और व्यक्ति थे। उस समय सैनिक सर्वोच्च समादेश का भी महत्व था। पर अब यह संस्थाएँ और व्यक्ति समाप्त कर दिए गये हैं। सर्वोच्च समादेश का भी अन्त हो गया है। इस प्रकार प्रधानमन्त्री और मन्त्रिपरिषद ने सच्चे संवैधानिक राजतंत्रीय प्रजातंत्र शासन की मन्त्रिपरिषद का उचित स्थान प्राप्त कर लिया है।

दोनों संविधानों की संसदों के सङ्गठन और अधिकारों का अन्तर भी साधारण नहीं है। मेइजी संविधान के अन्तर्गत संसद केवल विचारविमर्शीय सभा थी। उसका कार्यपालिका की नियुक्ति और पदच्युत्ति में कोई संवैधानिक अधिकार न था। यद्यपि संसद में दो सदन उस समय भी थे पर उस समय का उच्च सदन सामन्तवाद और पूँजीवाद का गढ़ था। उसका नाम ही अभिजात सदन (House of Peers) था। दोनों सदनों के अधिकार भी समान थे। इस प्रकार अभिजात सदन को निम्न सदन पर रोध-अधिकार प्राप्त था। संसद् पर सम्राट् को भी रोध-अधिकार था और वह स्वयं अध्यादेश के रूप में विधि निर्माण कर सकता था। वर्तमान संविधान के अन्तर्गत संसद अनन्य विधायकी अधिकार से युक्त है। उसका कार्यपालिका पर भी पूर्ण नियंत्रण है। दोनों सदन जनता के प्रतिनिधि हैं और निम्न सदन की स्थिति ऊँची है। अब द्वितीय सदन को उस पर रोध-अधिकार नहीं है। संसद के ऊपर भी अब कोई अधिकारी रोध अधिकार नहीं रखता है। इस प्रकार अब संसद ने भी एक प्रजातंत्र देश की व्यवस्थापिका का स्थान ग्रहण कर लिया है।

वर्तमान संविधान द्वारा किए गये महत्वपूर्ण परिवर्तनों में न्यापालिका की स्थिति का परिवर्तन भी एक है। मेइजी संविधान के अन्तर्गत गत जापान में दो प्रकार के न्यायालय थे। प्रथम, साधारण न्यायालय, जिनका सङ्गठन विधि द्वारा निश्चित होता था, जो सम्राट् के नाम पर न्याय करते थे, केवल व्यवहारिक (Civil) और दण्डीय (Criminal) वादों पर क्षेत्राधिकार रखते थे। प्रशासकीय कर्मचारियों के कथित अवैधानिक कार्यों द्वारा अधिकारों के अतिक्रमण सम्बन्धी वादों पर साधारण न्यायालयों द्वारा विचार नहीं किया

जा सकता था। ये वाद प्रशासकीय क्षेत्राधिकार न्यायालय के क्षेत्राधिकार में थे। साधारण न्यायालयों को संविधान की व्याख्या करने और उनकी संवैधानिकता के न्यायिक पुनरीक्षण का भी अधिकार न था। इस प्रकार मूलाधिकार भी कार्यपालिका की सद्भावना पर आश्रित थे। वर्तमान संविधान के अन्तर्गत प्रशासकीय न्यायालयों का अन्त कर दिया गया है। सारी न्यायपालिका शक्ति सर्वोच्च न्यायालय और विधि द्वारा स्थापित अन्य न्यायालयों के अधीन है। कोई कार्यपालिका विभाग अब अन्तिम न्यायशक्ति का प्रयोग नहीं कर सकता। अब विशेष न्यायालय स्थापित नहीं किये जा सकते। पहले न्यायपालिका कार्यपालिका विभाग के अधीन थी। पर अब वह कार्यपालिका से स्वतन्त्र है। सर्वोच्च न्यायालय जनता के प्रति उत्तरदायी है। न्यायालयों को अब संवैधानिकता के न्यायिक पुनरीक्षण का अधिकार भी दे दिया गया है। इस प्रकार वह संविधान के संरक्षक हो गये हैं और मूलाधिकारों को अतिक्रमण से बचाकर प्रवृत्त कर सकते हैं।

मेइजी संविधान में स्थानीय सत्ताओं का कोई वर्णन न था। स्थानीय इकाइयाँ मूल रूप में केन्द्रीय सरकार के प्रशासकीय क्षेत्र मात्र थे। उनकी कार्यपालिका जो कि केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त की जाती थी, सारे प्रमुख अधिकारों का प्रयोग करती थी। उनकी प्रतिनिधि-सभाएँ केवल विचारविमर्शी संस्थाएँ थीं। पर वर्तमान संविधान के अन्तर्गत स्थानीय सत्ताओं का सङ्गठन-स्थानीय स्वायत्तता के सिद्धान्त पर होना आवश्यक है। उनके मुख्य कार्यपालिका अधिकारी और उनकी सभाएँ जनता द्वारा चुनी जाती हैं। केन्द्रीय सरकार बिना सम्बन्धित स्थानीय जनता की सहमति के कोई ऐसी विधि का निर्माण नहीं कर सकती जो केवल एक ही स्थानीय सत्ता पर लागू हो।

यद्यपि मेइजी संविधान के अन्तर्गत भी अनुच्छेद ७६ में यह घोषित किया गया था कि जो विधियाँ, विनियम, अध्यादेश इत्यादि उस संविधान के प्रतिकूल न होंगे, प्रवृत्त बने रहेंगे। इसका अभिप्राय यह था कि संविधान सर्वोच्च था और उसके प्रतिकूल विधियाँ, विनियम, अध्यादेश अवैधानिक और अशक्त थे। पर इस प्रतिकूलता का निर्णय करने के लिए कोई स्वतन्त्र संस्था न थी। इस

अभाव के कारण अनुच्छेद २६ का कोई महत्व न रह गया था। समय-समय पर असंवैधानिक विधियाँ बनाई गयीं, आज्ञाएँ दी गई और मूलाधिकारों का अतिक्रमण किया गया। वर्तमान संविधान अपने दसवें अध्याय में यह घोषणा करता है कि संविधान राष्ट्र की सर्वोच्च विधि है। उसके प्रतिकूल किसी विधि, अध्यादेश, सम्राटीय आज्ञप्ति या सरकार के अन्य कार्य की वैधानिक शक्ति या वैधानिकता न होगी। सम्राट्, राज्यों, मन्त्रियों, संसद सदस्यों, न्यायाधीशों और अन्य सार्वजनिक अधिकारियों का यह आभार घोषित किया गया है कि वह उसका आदर करें। संविधान की सर्वोच्चता की केवल घोषणा ही नहीं की गयी है वरन् उसे प्रवृत्त करने के लिए अनुच्छेद ८१ द्वारा सर्वोच्च-न्यायालय को प्रत्येक विधि, आज्ञा, विनियम या अधिकारी कार्य की संवैधानिकता का विनिश्चय करने का सर्वोच्च अधिकार दिया गया है।

दोनों संविधानों की संशोधन प्रणाली में भी अन्तर था। मेइजी संविधान के संशोधन का उपक्रम सम्राट् के अधीन था। और सम्राट् के प्रस्ताव की संसद द्वारा उसके दो-तिहाई सदस्यों की उपस्थिति में उनकी दो-तिहाई बहुमत द्वारा स्वीकृति हो जाने पर संविधान संशोधित हो जाता। वर्तमान संविधान का संशोधन संसद द्वारा दो-तिहाई सदस्यों की उपस्थिति में दो-तिहाई बहुमत द्वारा स्वीकृत होने पर उपक्रमित होगा और प्रस्ताव का एक विशेष परिपृच्छा में मत-दाताओं के बहुमत द्वारा अनुमोदित होने पर पास माना जायेगा।

सारांश में यह कहा जा सकता है कि मेइजी संविधान राजतन्त्रीय तथा सामन्तवादी था और वर्तमान संविधान उत्कट रूप में प्रजातन्त्रीय है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. वर्तमान संविधान किन रूपों में १८८६ के संविधान से भिन्न है?

२. जापान के नवीन संविधान के मुख्य लक्षणों की व्याख्या करिए।

३. जापान के प्रचलित संविधान पर विदेशी प्रभाव की व्याख्या करिए?

४. क्या यह कहना सत्य है कि नवीन संविधान जापान के राष्ट्रीय लक्षणों के अनुरूप नहीं है? अपने मत के पक्ष में कारण भी दीजिए।

५. 'आज जापान की सरकार की मूल विशेषता ब्रिटिश प्रतिमान की संसदीय व्यवस्था है' (क्विग्ली और टर्नर) इस कथन की समीक्षा करिए।

६. मेइजी संविधान और नवीन संविधान किन रूपों में समान और किन रूपों में भिन्न है, विस्तारपूर्वक समझाइये।

७. जापान का नवीन संविधान किस प्रकार निर्मित हुआ और तत्कालीन परिस्थितियों की छाप उस पर कहाँ-कहाँ दृष्टिगोचर होती है।

सम्राट् | ४

" If the constitutional doctrine of ministerial responsibility means anything at all, the King would have to sign his own death-warrant, if it was presented to him for signature by a minister commanding a majority in Parliament" *Lord E sher to George V of England.*

आधुनिक प्रजातंत्र शासन पद्धति के विकास के प्रारम्भिक दिनों में वंशानुगत राजा की स्थिति उसके सर्वथा विपरीत मानी जाती थी। पर प्रजातंत्रीय पद्धतियों का विकास हो जाने पर उनमें कुछ दोष दिखायी पड़े। अध्यक्षात्मक कार्यपालिका वाले राज्यों में शक्ति पृथक्करण की विलम्ब डालने वाली कठिनाइयों, एक ही व्यक्ति के राष्ट्रव्यापी निर्वाचन से उत्पन्न होने वाली हलचल, राष्ट्रपति के ऐसे निर्वाचन के परिणाम की अवसर आधीनता, कार्य-पालिका और व्यवस्थापिका का पृथक्-पृथक् दलों की हो जाने और उससे उत्पन्न होने वाले गतिरोध की आशंका, और अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली वाले दक्षिणी अमेरिका के राज्यों में क्रान्तियों और उनके द्वारा स्थापित अधिनायक-वाद के बोल बाला के फलस्वरूप संविधान निर्माताओं में मन्त्रि-परिषदीय शासन

प्रणाली के प्रति आकर्षण बढ़ गया कहा जाता है। पर मंत्रि-परिषदीय शासन प्रणाली के अंतर्गत मुख्य कार्यपालिका की समस्या सामने आती है। प्रधान मंत्री जो मंत्रि-परिषदीय शासन व्यवस्था के अन्तर्गत सर्वोच्च शक्ति वाला अधिकारी होता है दल के आधार पर नियुक्त होता है, दल के आधार पर कार्य करता है और दल के आधार पर पदच्युत होता है। अपने दलगत लक्षण के कारण वह अपने प्रति राष्ट्रनिष्ठा को उत्पन्न नहीं कर पाता है। साथ ही उसका समय-समय पर परिवर्तन हुआ करता है और उसकी स्थिति सदैव अनिश्चित रहती है। इसलिए उसके ऊपर एक ऐसे अधिकारी की आवश्यकता समझी जाती है जो इन परिवर्तनों पर एकता का आवरण डाले रखे। इसके अतिरिक्त प्रधान मन्त्री को संसदीय, मंत्रि-परिषदीय और दलीय कार्यों के लिए समय चाहिए। इन सब कार्यों में इतना अधिक समय जाता है कि उसके प्रशासकीय कार्यों की उपेक्षा होती है। उपरोक्त कार्यों के साथ ही कुछ अन्य समारोही और सांस्कारिक कार्य होते हैं। अन्य राज्यों के प्रधानों का स्वागत करना पड़ता है, विदेशों से आये राजदूतों के परिचय-पत्र स्वीकार करना पड़ता है, प्रीत भोज देना पड़ता है, विदेशों से मैत्री सम्बन्ध दृढ़ करने के लिए उन देशों की यात्राएँ करनी पड़ती हैं, विभिन्न प्रकार की समितियों, संघों, गोष्ठियों आदि का उद्‌घाटन करना पड़ता है। यदि ये सारे कार्य प्रधान मंत्री ही करे तो वह अपने आवश्यक् कर्त्तव्यों की भी पूर्ति न कर सकेगा। इन सब कार्यों को यदि किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा कराया जा सके तो प्रधान मंत्री अपने समय को आवश्यक कार्यों में दे सकेगा। उपरोक्त कारणों से सभी मंत्रिपरिषदीय सरकार वाले देशों में एक पृथक् राज्य प्रधान होता है।

मंत्रि-परिषदात्मक सरकार के सिद्धान्तों के अनुसार सरकार की शक्तियों की वास्तविक अधिकारिणी प्रधानमंत्री की अधीनता में संगठित मंत्रि-परिषद होती है और राज्य का प्रधान, वह चाहे वंशानुगत हो या निर्वाचित, केवल एक नाम मात्र का सत्ताधारी और ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो किसी दल या समूह के प्रति निष्ठा न रखता हो। इस कारण ऐसा प्रतीत होता है कि यह पद्धति

संवैधानिक राजतंत्र वाले राज्यों में ही भली प्रकार चलायी जा सकती है क्योंकि निर्वाचन की आवश्यकता से मुक्त होने के कारण एक वंशानुगत राजा ही निर्दलीय व्यक्ति रह सकता है। उसे सिद्धान्त रूप में कितने भी अधिकार क्यों न दिए जायँ पर दलीय बल के अभाव के कारण वह उनको व्यवहार रूप में प्रयोग नहीं कर सकता और वास्तव में वह एक नाम-मात्र का अधिकारी ही रहेगा। ऐसी ही स्थिति में वह राज्य-प्रधान कर्त्तव्यों को निर्लेप और निष्पक्ष भाव से पूरा कर सकता है और राष्ट्रीय सम्मान को भी प्राप्त कर सकता है। मन्त्रिपरिषदात्मक कार्य-पालिका की उत्पत्ति भी राजतंत्रीय शासन प्रणाली के ही अन्तर्गत हुई है वह और संवैधानिक राजतंत्र पद्धति के अन्तर्गत ही अब भी सर्वोत्तम रूप में कार्य कर रही है।

एक निर्वाचित राज्य-प्रधान अपने निर्वाचन के कारण सम्मानपूर्ण हो जाता है और साथ ही वह प्रतिनिधि स्वरूप भी ग्रहण कर लेता है। निर्वाचन होने से दलीय सम्बन्ध अवश्य ही होंगे। इसलिए एक राष्ट्रपति की निर्वाचन पद्धति किसी भी प्रकार की हो, उसका दलअनुगामी होना आवश्यक है। निर्वाचन के लिए यह भी आवश्यक है राष्ट्रपति के पद के अभ्यर्थी की लोकप्रियता और व्यक्तित्व भी हो और साथ ही उसका दल राज्य के प्रमुख राजनैतिक दलों में से एक हो। ऐसा व्यक्ति स्वमहत्वाकांक्षा से प्रशासन की गतिविधि और मंत्रि-परिषद् के गठन और विघटन पर भी प्रभाव डालने की चेष्टा कर सकता है और कभी-कभी उसकी चेष्टा सफल भी हो सकती है। इसके अतिरिक्त राज्य-प्रधान की पदावधि नियमित होती है। वह निश्चित समय तक अपने पद पर रहता है। प्रधान मंत्री का कार्यकाल मंत्रि-परिषद के सहयोग, दल की एकता और निम्न सदन के समर्थन पर आश्रित रहता है। वह किसी समय पर पदच्युत किया जा सकता है और उसके स्थान पर भिन्न दल का व्यक्ति नया प्रधान मंत्री हो सकता है। इसलिए यह भी हो सकता है कि राष्ट्रपति एक दल का हो और प्रधान-मंत्री उससे भिन्न दल का हो। ऐसी परिस्थिति में राष्ट्रपति अपने दल के व्यक्ति को प्रधान मंत्री बनाने और सत्तारूढ़ दल को बदनाम कराने का प्रयत्न कर सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि ऐसे कार्यों से मंत्रिपरिषदात्मक शासन प्रणाली के

सुचारु संचालन में बाधा पड़ेगी। फ्रांस के शासन-क्रम में वहाँ के राष्ट्रपति ने इसी प्रकार अनेक बार बाधा डाली है।

उपरोक्त कारणों से अनेक देशों में यह धारणा उत्पन्न हो गयी है कि मंत्रि-परिषदात्मक शासन व्यवस्था के सुचारु रूप से संचालन के लिए एक वंशानुगत राज्य प्रधान होना आवश्यक है और वंशानुगत राजा प्रजातंत्रीय शासन पद्धति का एक आवश्यक उपकरण है। पर अब प्रश्न यह है कि वंशानुगत राज्य प्रधान को कौन-कौन से विशेषाधिकार प्राप्त होना चाहिए? कुछ लोग यह उत्तर देंगे कि सर्वप्रथम राज्य-प्रधान को असाधारण परिस्थितियों में प्रधान मंत्री को नियुक्त करने का अधिकार होना चाहिए और उसकी नियुक्ति के सम्बन्ध में जनमत जानने के लिए निर्वाचन करा लेना चाहिए। इस विशेषाधिकार को इस दृष्टि से उचित कहा जा सकता है कि असाधारण परिस्थितियों में दलगत राजनीति से ऊपर उठा व्यक्ति राष्ट्र हित और समय को देख कर उचित व्यक्ति नियुक्त कर सकता है और निर्वाचन उसके अधिकार दुरुपयोग को नियंत्रित करता है। पर असाधारण परिस्थिति कौन समझेगा? क्या राज्य प्रधान इसमें अपनी व्यक्तिगत सद्भावना और कुभावना से प्रभावित न होगा? क्या वह स्वनियुक्त व्यक्ति को निर्वाचन में जिताने का प्रयत्न न करेगा? क्या निर्वाचन का परिणाम राज्य प्रधान और नियुक्त व्यक्ति की शासन शक्ति से प्रभावित न होगा? इंग्लैंड में जार्ज तृतीय और मेइजी संविधान के अन्तर्गत कुलीन वर्ग सम्राट् के माध्यम से क्या ऐसा करके ही प्रजातंत्र का गला नहीं घोटते थे? इस विशेषाधिकार का अर्थ यही हुआ कि राज्य प्रधान जब चाहे एक मंत्रि-परिषद को हटाकर दूसरी मंत्रि-परिषद नियुक्त कर सकता है और उसके समर्थन में प्रचार कर सकता है। सम्भवतः इस निष्कर्ष को कोई स्वीकार न करेगा। वास्तव में मंत्रि परिषद की नियुक्ति सदैव राज्य प्रधान के हस्तक्षेप से मुक्त होनी चाहिए।

अब, क्या राज्य प्रधान को व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधेयक का किसी भी आधार पर उसे संविधान के प्रतिकूल या अल्पसंख्यकों के लिए हानिकारक या सार्वजनिक हित के विरुद्ध समझने पर रोध करने (veto) का अधिकार

होना चाहिए। पर वंशानुगत राज्य प्रधान की स्थिति न तो किसी विधेयक की वैधानिकता जानने के ही लिए उपयुक्त है और न सार्वजनिक हित को ही समझने के ही लिए। अल्पसंख्यकों का रक्षक बन कर वह दलगत राजनीति में फँसने, निहित हित के तत्वों का पोषण करने और प्रतिक्रियावादिता का अपराधी कहलाएगा। वाल्टर बैगट ने इसीलिए लिखा है कि "उसे अपने मृत्यु अधिपत्र पर भी हस्ताक्षर कर देना चाहिए यदि दोनों सदन उसे निर्विरोध रूप से उसके समक्ष भेजते हैं।"[1]

तब, क्या राज्य प्रधान को मन्त्री द्वारा माँगे गये निम्न सदन के विघटन को अस्वीकार करने का विशेषाधिकार होना चाहिए? विघटन की माँग को अस्वीकार करना या मन्त्रि परिषद द्वारा न चाहने पर विघटन करना भी अनुचित होगा क्योंकि इससे राज्य प्रधान पर दलों के मध्य भेद भाव करने का लाञ्छन लगेगा और यदि विरोधी मन्त्रि-परिषद पुनः विजयी होती है तो राज्य-प्रधान की स्थिति संकटपूर्ण हो जायगी। विघटन प्रायः मन्त्रि-परिषद की मंत्रणा पर किए जाते हैं। यदि राज्य-प्रधान मंत्रि-परिषद की मंत्रणा पर कार्य नहीं करता तो उसका कार्य किसकी मंत्रणा पर आधारित होगा? और उसके लिए कौन उत्तरदायी होगा?

फिर, क्या राज्य प्रधान को असाधारण परिस्थितियों में मंत्रि परिषद को पदच्युत करने का विशेषाधिकार होना चाहिए? ऐसा करने पर भी राज्य-प्रधान दलगत राजनीति में पड़ेगा और यदि नव नियुक्त मंत्रि-परिषद का दल निर्वाचन में पराजित होता है तो वह राज्य-प्रधान की ही पराजय मानी जायेगी। ऐसी स्थिति राज्य-प्रधान के भविष्य को ही संकटग्रस्त कर देगी। इससे शासन में भी अव्यवस्था उत्पन्न हो सकती है।

यदि राज्य प्रधान को किसी भी परिस्थिति में प्रधान-मन्त्री को नियुक्त करने, विधेयकों का रोध करने, निम्न सदन का विघटन करने या विघटन की

---

[1] "She must sign her own death warrant if the two houses unanimously sent it up to her." Walter Bagehot : *The English Constitution* (World Classics) p. 51.

माँग को अस्वीकार करने, और मंत्रिपरिषद् को पदच्युत करने का विशेषाधिकार देना उचित नहीं कहा जा सकता तो फिर अन्य विषयों में उसके विशेषाधिकार का प्रयोग ही कैसे हो सकता है ? प्रो० मैकाइवर तो वंशानुगत राज्य प्रधान के राजनैतिक निर्णयों में हस्तक्षेप को ही प्रजातंत्र शासन व्यवस्था के विपरीत मानते हैं। उनका कहना है "केवल जब राजतंत्र इस प्रकार परिसीमित कर दिया जाता है कि राजा राजनैतिक निर्णयों में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप नहीं करता, और यह निर्णय सम्पूर्ण जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा किए जाते हैं, हम प्रजातंत्र पर पहुँचते हैं।"[१] वैगट ने एक संवैधानिक राजतंत्र में राज्य प्रधान के अधिकारों का वर्णन करते हुए लिखा है "विषय को संक्षेप में वर्णन करते हुए, हमारे समान संवैधानिक राजतंत्र के अन्तर्गत सम्प्रभु के तीन अधिकार हैं—परामर्श लिए जाने का अधिकार, प्रोत्साहित करने का अधिकार और चेतावनी देने का अधिकार। और एक महान विवेक और सूक्ष्मदर्शन वाला राजा अन्य नहीं चाहेगा, वह यह देखेगा कि अन्य का न होना उसे इन्हें पूरे प्रभाव से प्रयोग करने में समर्थ बनाएगा। वह अपने मंत्री से कहेगा "इन कार्यवाहियों का उत्तरदायित्व तुम पर है। जो कुछ तुम सर्वोत्तम सोचोगे वही करना होगा। जो कुछ तुम सर्वोत्तम सोचोगे उसे मेरा पूर्ण और प्रभावमय समर्थन मिलेगा। लेकिन तुम यह देखोगे कि इस कारण से जो तुम करना प्रस्तावित करते हो बुरा है; इस कारण और उस कारण से जो तुम प्रस्तावित नहीं करते श्रेष्ठतर है। मैं विरोध नहीं करता, मेरा कर्त्तव्य विरोध न करने का है, पर देखो मैं चेतावनी दे रहा हूँ।"[२] प्रजातंत्रीय देश के वंशानुगत राज्य-प्रधान की यही स्थिति होना

---

१ "Only when the monarchy is so limited that the monarch does not directly interfere in political decisions and those decisions are made by the elected representatives of the whole people do we arrive at democracy." R. M. MacIver. *The Web of Government*, 1947, p. 155.

२ To state the matter shortly, the sovereign has, under a constitutional monarchy such as ours, three rights—the right to be consulted, the right to encourage, the right to warn. And a king

चाहिए "और सम्भवतः अधिकांश स्थितियों में एक संवैधानिक राजा की सर्वाधिक चतुरता अपने को भली भाँति विचार की हुई निष्क्रियता में दिखाई देगी।[१]

मेइजी पुनर्स्थापन के पूर्व जापान के सम्राट् की स्थिति—जापान का राजवंश वर्तमान काल के राजवंशों में प्राचीनतम समझा जाता है। जापान के इतिहासकारों का मत है कि उनके सम्राट् का वंश विश्व सभ्यता के प्रस्तर काल से जापान का शासन कर रहा है। जिम्मू तेन्नो जिसका राज्यारोहण वर्ष सन् ६६० ईसा पूर्व कहा जाता है इस वंश का प्रथम सम्राट् माना जाता है। प्राचीन युग में जापानवासी अनेक पितृप्रधान गोत्रों में संगठित थे। सम्राट् का गोत्र भी इन अनेक गोत्रों में से एक था। यद्यपि वह सदैव इन सभी गोत्रों का नामधारी शासक था पर उसका वास्तविक प्रभाव उसके गोत्र की शक्ति पर आश्रित था। जब उसके गोत्र की शक्ति बढ़ जाती थी तो अन्य गोत्रों पर उसका नियंत्रण भी बढ़ जाता था और जब उसके गोत्र की शक्ति क्षीण हो जाती थी तो अन्य गोत्रों पर उसका नियंत्रण भी शिथिल हो जाता था।

कालान्तर में सम्राटीय गोत्र की शक्ति इतनी कम हो गयी कि अन्य गोत्रों में सर्वाधिक शक्तिशाली गोत्र का प्रधान शोगुं के पद से सम्राट् के नाम पर शासन करने लगा। इस पद्धति का प्रारम्भ सन् ११८६ में हुआ। विभिन्न सम्राटों ने समय-समय पर अपनी शक्ति को पुनर्ग्रहण करने का असफल प्रयत्न किया और प्रत्येक ऐसा प्रयत्न सम्राट् की शक्ति को और अधिक कम करने का

of great sense and sagacity would want no others. He would find that his having no others would enable him to use these with singular effect. He would say to his minister: 'The Responsibility of these measures is upon you. Whatever you think best must be done. Whatever you think best shall have my full and effective support. *But* you will observe that for this reason and that reason what you propose to do is bad; for this reason and that reason what you do not propose is better. I do not oppose, it is my duty not to oppose; but observe that I *warn*." Bagehot; *Op. cit.* p. 67.

[१] "Probably in most cases the greatest wisdom of a constitutional king would show itself in well considered inaction. Bagehot; *Op. cit.* p, 63.

उपालम्भ बन गया। धीरे-धीरे सम्राट् के दरबार की शक्ति का दिखावा भी समाप्त हो गया। उसकी जागीरें भी ले ली गयीं। उसके दरबार के व्यय के लिए शोगुं द्वारा एक निश्चित धनराशि निश्चित कर दी गयी। वह धन भी इतना कम था कि एक मूर्ति पर चढ़ाया गया प्रसाद प्रतीत होता था। उससे न तो कोई सार्वजनिक उद्देश्य पूरा हो सकता था और न कोई परिवार सम्मान-पूर्ण ढंग से रह ही सकता था। वह साल भर में केवल १,५०,०० बुशल धान पाता था और समय-समय पर कुछ भेंटें मिल जाती थीं जबकि शोगुं ४ सौ लाख बुशल धान की धनराशि व्यय करता था। फिर भी शोगुं सम्राट् के नाम पर ही शासन करता था और सम्राट् ही वैधानिक अधिकारी और सारी सत्ता का स्रोत माना जाता था। सिद्धान्त में, सभी विधियाँ और अध्यादेश भी उसकी ही दैविक इच्छा से उत्पन्न माने जाते थे। पर सम्राट् के पवित्र शरीर के प्रति दिखाया गया सम्मान एक मूर्ति के प्रति दिखाये गये निस्सार प्रदर्शन की भाँति होता था।

मेइजी संविधान के अन्तर्गत सम्राट् की स्थिति—मेइजी संविधान के अन्तर्गत सम्राट् की स्थिति पूर्ण रूप से निरंकुश (autocratic) थी। संविधान स्वयं सम्राट् द्वारा जनता को एक उपहार था। सम्राट् सम्प्रभु था। सम्प्रभुता को उसने अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार में पाया था। सम्राट् पवित्र और अनतिक्रमणीय था। वह सम्राज्य का प्रधान था और संसद की सहमति से विधायकी शक्ति का प्रयोग करता था। वह विधियों को स्वीकृत करता था और उनके प्राख्यापन की आज्ञा देता था। वह संसद को आहूत करता था, उसका उद्घाटन करता था, उसका सत्रावसान करता था और प्रतिनिधि सभा का विघटन करता था। आवश्यकता के समय विधि के स्थान पर वह अध्यादेश प्रवृत्त कर सकता था। इनके अतिरिक्त विधियों को प्रवृत्त करने, शान्ति रक्षा और सार्वजनिक आपदाओं को रोकने के लिए विधियों में परिवर्तन न करने वाले अध्यादेश प्राख्यापित कर सकता था। वही प्रशासन की विभिन्न शाखाओं का संगठन निश्चित करता था, सैनिक और असैनिक अधिकारियों का वेतन निर्धारित करता था और उनको नियुक्त तथा पदच्युत करता था। उसे स्थल और जल

सेना का सर्वोच्च समादेश प्राप्त था। वही उसका संगठन और शान्तिकालीन स्थिति निश्चित करता था। वही युद्ध घोषित करता था, शान्ति करता था और सन्धि करता था। वही सैन्यवेष्ठन स्थिति निश्चित करता था। वह सम्मान का स्रोत था और अभिजातीय पद, ओहदे, उपाधि तथा अन्य सम्मान चिह्न प्रदान करता था। वह न्याय का भी स्रोत था और वह अपराध को क्षमा कर सकता था, दंड कम कर सकता था, दंड स्थगित कर सकता था और सामान्य क्षमा प्रदान कर सकता था। संसद् के एक सदन में उसके द्वारा अभिजात पद पाये हुए व्यक्तियों का बाहुल्य था। मंत्री सम्राट् द्वारा नियुक्त किए जाते थे और उसी के प्रति उत्तरदायी थे। संविधान की व्याख्या उसके द्वारा मनोनीत व्यक्तियों द्वारा संगठित अन्तरंग परिषद करती थी। मूलाधिकारों की व्याख्या और शासन के विरुद्ध उनकी प्रवृत्त प्रशासकीय अधिकारियों के हाथ में थी। संविधान के संशोधन के उपक्रम पर भी उसका अधिकार था। संसद उत्तराधिकार विधि आदि में परिवर्तन न कर सकती थी।

सम्राट् की धार्मिक स्थिति—सम्राट् की उपरोक्त निरंकुश संवैधानिक स्थिति की पुष्टि धर्म द्वारा की जाती थी। जापान में उस समय तीन प्रकार की पूर्वज पूजाएँ प्रचलित थीं और उनका सामूहिक नाम शिन्तो या दैवी पंथ था। सर्व प्रथम घरेलू पंथ था जिसमें परिवार के पूर्वजों की पूजा की जाती थी, इसके पश्चात् बिरादरी पंथ जिसमें गोत्र पूर्वजों की उपासना होती थी, और अंत में राज्य पंथ था जिसमें सम्राट् के पूर्वजों की आराधना होती थी। राज्य पंथ को सम्राटीय पंथ और राजकीय शिन्तो भी कहा जाता था। राज्य पंथ की दृष्टि से सभी सम्राटीय पूर्वजों की पूजा होना चाहिए थी, पर सम्राट् को दैविकतापूर्ण समझे जाने के कारण वह शिन्तो धर्म का केन्द्र बिन्दु बन गया था। प्रत्येक सत्तारूढ़ व्यक्ति सम्राट् की दैविकता पर अधिक से अधिक बल देता था और इस बल देने का एक मात्र कारण उससे अपने अधिकार की वृद्धि करना था। सम्राट् पर इस दैविकता का सबसे अधिक आरोपण १६३० के पश्चात् सत्तारूढ़ होने वाले सैनिक वर्ग ने किया। इस समय विद्यार्थियों को सिखाया जाता था :—

सम्राट सभी निष्ठाओं का केन्द्र है, क्योंकि वह दैवी है ;
वह दैवी है, क्योंकि उसका पूर्वज अमातेरासु ओमीकामी है;
देवताओं ने जापान बनाया—वह भी दैवी है ;
इसमें पहले देव रहे—इससे सब जापानी दैवी हैं ;
जापान, जापानी सर्वोपरि है, क्योंकि दैवी हैं ;
सम्राट सब राजाओं, शासकों से ऊँचा है, क्योंकि दैवी है ;
उसे इसलिए सारे विश्व पर शासन करना चाहिए ।

सम्राट की वास्तविक स्थिति—संवैधानिक रूप, धार्मिक दृष्टि और बाह्य प्रदर्शन में सम्राट निरंकुश था पर वास्तव में उसकी निरंकुश सत्ता का प्रयोग वह स्वयं नहीं करता था । संविधान का निर्माण भी उसने नहीं किया था । मेइजी पुनर्स्थान स्वयं वस्तुतः एक आडम्बर था । वास्तविक बात यह थी कि पुनरूत्थापन के पूर्व शासन शक्ति तोकुगावा गोत्र के हाथ में थी । अनेकानेक कारणों से इस गोत्र की शक्ति क्षीण हो गयी और इस गोत्र के प्रतिद्वन्द्वियों—सत्सुमा चोशु तोशा और हिजेन गोत्र वालों—की शक्ति बढ़ गयी । उन्होंने राजसत्ता को तोकुगावा गोत्र से छीनने के लिए पुनर्स्थापन का रूप अपनाया और मेइजी सम्राट के नाम से क्रान्ति करके राजसत्ता पर अपना अधिकार कर लिया । सम्राट के दरबार का सम्मान बढ़ाया गया, उसको मिलने वाली धन राशि और सम्पत्ति भी बढ़ा दी गयी, समारोही कार्यों में उसका भाग बढ़ा दिया गया, पर वास्तविक सत्ता उसके हाथ में नहीं गयी । इस सत्ता को सत्सुमा चोशु तोशा और हिंजेन गोत्रवालों ने अपने हाथ में रखा । प्रथम प्रधान मंत्री चोशु वंश का नेता राजकुमार इतो हिरोबुमि हुआ । उसी ने मेइजी संविधान की रचना की । सत्ता का प्रयोग करने के लिए संविधान में एक अन्तरंग परिषद् की व्यवस्था की गयी । । सम्राट द्वारा सत्सुमा और चोशु गोत्रों के ही व्यक्ति इसके सदस्य बने । द्वितीय सदन का संगठन भी अभिजातीय आधार पर किया गया और उसमें भी इन्हीं गोत्रों के व्यक्ति और उनके समर्थकों ने सम्राट द्वारा विभिन्न प्रकार की उपाधियाँ पाकर अपना अधिकार कर लिया । सेना और भृत्य वर्ग

का संगठन हुआ और उनके सभी महत्वपूर्ण पदों पर यही लोग आरूढ़ हुए। प्रारम्भिक मंत्रिपरिषदों पर भी इन्हीं गोत्रों के व्यक्तियों का अधिकार रहा। सम्राट गृह मंत्रालय भी जिस पर मन्त्रिपरिषदीय क्षेत्राधिकार न था, इन्हीं लोगों के हाथ में था। बाद में एक संविधान-बाह्य वरिष्ट परिषद का संगठन किया गया और उसमें भी इन्हीं गोत्रों के नेताओं ने सदस्यता पायी। इस प्रकार सम्राट् पूर्वरूप में ही एक नाम मात्र का ही शासक बना रहा और उसकी निरंकुश शक्ति का प्रयोग अन्तरंग परिषद, वरिष्ट परिषद, सम्राट् गृहमन्त्रालय, अभिजात सभा, सेना का सर्वोच्च समादेश और भृत्य वर्ग के अधिकारी करते रहे। मंत्रि परिषद पर भी इन्हीं संस्थाओं के व्यक्ति अपना प्रभाव स्थापित किए रहे। शक्ति निरन्तर सत्सुमा और चोशु गोत्रों के ही हाथ में नहीं रही। धीरे-धीरे उसके प्रयोग का गोत्रीय रूप समाप्त हो गया। राजनैतिक दल उत्पन्न हुए और उनके माध्यम से धनिक वर्ग ने सत्ता पर अधिकार किया। उसके बाद सैनिक वर्ग सत्तारूढ़ हुआ। पर सम्राट् निरन्तर मूर्तिवत् ही बना रहा और उसकी निरंकुश शक्ति, धार्मिक स्थिति तथा दैविकता के प्रभाव को इतर शक्तियाँ अपने हित साधन में प्रयोग करती रहीं। सम्राट् आज्ञा देता था और घोषणाएँ करता था, पर यह आज्ञाएँ और घोषणाएँ शक्तिशाली गुट के प्रवक्ता के रूप में दी और की जाती थीं। सम्राट् का व्यक्तिगत प्रभाव शून्य मात्र था। वह एक मूर्ति था जिसकी वास्तविक सत्ताधारी पूजा करते थे और प्रदर्शनार्थ सम्मान करते थे जिससे सर्व साधारण अधिकाधिक निष्ठा अर्पण करें जिसका वे स्वयं उपभोग कर सकें।

नवीन संविधान में सम्राट्—नये संविधान की प्राख्यापक आज्ञा में सम्राट् घोषित करता है। "मुझे हर्ष है कि नव जापान के निर्माण के लिए जापान की जनता की इच्छानुसार नींव रख दी गयी है, मैं एदत् द्वारा सम्राटीय जापानी संविधान के संशोधनों को जो उक्त संविधान के अनुच्छेद ७३ के अनुसार अंतरंग परिषद के परामर्श और सम्राज्यीय संसद के निर्णय से किए गए हैं स्वीकार और प्राख्यापित करता हूँ।" इस प्रकार संविधान प्राख्यापक घोषणा अब भी सम्राट् की उच्च स्थिति को स्वीकार करती है।

संविधान की प्रस्तावना अब सम्राट् की सम्प्रभुता और सम्राट् द्वारा संविधान के उपहार के स्थान पर जनता की सम्प्रभुता और उसके प्रतिनिधियों द्वारा संविधान के निर्माण की घोषणा करती है।

यद्यपि मेइजी संविधान की भाँति नये संविधान के प्रथम अध्याय में ही सम्राट् का वर्णन है पर सम्राट् की वैधानिक स्थिति में आमूल परिवर्तन हो गया है। उसमें कहा गया है कि सम्राट् उस जनता की इच्छा से, जिसमें सम्प्रभु शक्ति निवास करती है, अपना स्थान प्राप्त करते हुए राज्य और जनता की एकता का प्रतीक है। उसका सिंहासन वंशानुगत है और उसका उत्तराधिकार सम्राट् गृह विधि के अनुसार होगा। राज्य के विषयों में सम्राट् के सभी कार्यों के लिए मंत्रि-पारिषद के परामर्श और स्वीकृति की आवश्यकता होगी और मंत्रि-परिषद ही उनके लिए उत्तरदायी होगी। सम्राट् राज्य के विषयों में केवल वह कार्य करेगा जिनका इस संविधान में उपबन्ध किया गया है। कभी उसे सरकार के सम्बन्ध में अधिकार न होगा। विधि के अनुसार सम्राट् राज्य के विषयों में अपने कार्यों का सम्पादन हस्तान्तरित कर सकता है। सम्राट् संसद द्वारा की नामोदिष्टि के अनुसार प्रधान मन्त्री नियुक्त करता है। वह मन्त्रि-पारिषद द्वारा की नामोदिष्टि के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश नियुक्त करता है। वह मन्त्रिपरिषद की मन्त्रणा और अनुमति से संविधान के संशोधनों, विधियों, मन्त्रि-परिषद की आज्ञाओं और सन्धियों को प्राख्यापित करता है; और संसद का आह्वान, प्रतिनिधि सभा का विघटन तथा संसद के सदस्यों के निर्वाचन की उदघोषणा करता है। वह विधि के अनुसार राज्य के मन्त्रियों तथा अन्य अधिकारियों की नियुक्ति और पदच्युति का अनुसमर्थन करता है। राजदूतों तथा मंत्रियों के पूर्ण अधिकारों और परिचय पत्रों को प्रमाणित करता है। वह राज्य विरोधी अपराधों के लिए सामान्य या विशेष सर्व क्षमा, दंड लघुकरण, प्रविलम्बन और अधिकारों का पुनर्स्थापन करता था। वह सम्मान प्रदान करता है। विधि के अनुसार अनुसमर्थन और अन्य राजनयी लेखों को प्रमाणित करता है। अन्य देशों के राजदूतों और मंत्रियों का स्वागत करता

है। इनके अतिरिक्त वह अन्य बहुत से सांस्कृतिक एवं समारोही कृत्यों का भी सम्पादन करता है।

मेइजी संविधान के अन्तर्गत सम्राट् गृह मंत्रालय को सम्राट् के परिवार की सम्पत्ति से अति विशाल आय होती थी। इसी आय से सम्राट् के परिवार और दरबार के सारे व्यय किए जाते थे। इसलिए इन व्ययों के सम्बन्ध में संसद और मंत्रि-परिषद की राय नहीं ली जाती थी। संसद प्रतिवर्ष राज्य के बजट की प्रथम मद में सम्राट् परिवार के लिए केवल एक प्रतीकात्मक धन राशि स्वीकार करती थी। वर्तमान संविधान के अन्तर्गत परिस्थिति पूर्ण रूप से परिवर्तित हो गयी है। सम्राट् परिवार की सम्पत्ति का अधिकांश भाग राज्य द्वारा ले लिया गया है। अब सम्राट् परिवार कोई चन्दा या भेंट संसद की स्वीकृति के बिना न तो ले सकता और न दे ही सकता है। सम्राट् परिवार के सारे व्ययों के लिए अब धन भी संसद द्वारा स्वीकृत किया जाता है। अब उसे संसद की बिना स्वीकृति के साधारण मूल्य की वस्तुएँ ही क्रय-विक्रय करने और विदेशियों से भेंटें लेने और उन्हें भेंटें देने का अधिकार था। प्राकृतिक आपदाओं से पीड़ित व्यक्तियों, विद्वत संस्थाओं और सांस्कृतिक एंव पूर्त संस्थाओं को परिवार के विभिन्न व्यक्तियों द्वारा अधिक से अधिक दी जा सकने वाली धन राशि भी विधि द्वारा निर्धारित है। सम्राट् और परिवार को दिए जाने वाले उपहारों का कार्य भी पूर्ण रूप से नियंत्रित है। युवराज के विवाह के अवसर पर संसद ने संसद अधिकारियों, मंत्रि परिषद, न्यायालयों और स्थानीय सरकार के निकायों के व्यक्तियों, सम्राट् परिवार के सम्बन्धियों और प्रवासी जापानियों को युवराज और उसकी पत्नी को भेंट देने की विशेष छूट दी थी।

अब उत्तराधिकार, सम्राट् परिवार में मानेजाने वाले व्यक्ति, राजप और सम्राट् परिवार के साधारण और आर्थिक प्रबन्ध के बारे में भी संसद ही विधि निर्माण करती है। सम्राटीय गृह विधि १६४७ के अनुसार इस समय सम्राट् के पश्चात् क्रमशः उसके ज्येष्ठ पुत्र, ज्येष्ठ पुत्र के ज्येष्ठ पुत्र, सम्राट् के ज्येष्ठ पुत्र की अन्य पुल्लिंग सन्तति, सम्राट् के द्वितीय पुत्र और उसकी पुल्लिंग सन्तति,

सम्राट् की अन्य पुल्लिंग सन्तति, सम्राट् के भाई और उसकी पुल्लिंग सन्तति और सम्राट् के चाचा और उनकी पुल्लिंग सन्तति को उत्तराधिकार प्राप्त है।

इसी विधि द्वारा सम्राट् के गृह के प्रबन्ध के लिए सदस्यों की एक सम्राटीय परिवार परिषद् संगठित की गई है। इसमें सम्राट् परिवार द्वारा अपने में से निर्वाचित दो व्यक्ति, प्रतिनिधि सभा और पारिषद सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष, प्रधान-मंत्री, सम्राटीय गृह कार्यालय का प्रधान, सर्वोच्च न्यायालय का मुख्य न्यायाधीश और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों द्वारा निर्वाचित एक अन्य न्यायाधीश सम्मिलित हैं। प्रधान मंत्री इसका अध्यक्ष होता है। परिषद् की गणपूर्ति ६ सदस्यों की है और महत्वपूर्ण विषयों पर उपस्थिति सदस्यों के दो-तिहाई के बहुमत से और अन्य विषयों पर साधारण बहुमत से निर्णय लिया जाता है।

सम्राटीय गृह आर्थिक विधि १४६७ के द्वारा परिवार के विभिन्न सदस्यों को मिलने वाली धन राशि का अनुपात निश्चय कर दिया गया है और वित्तीय प्रबन्ध के लिए ८ सदस्यों की सम्राटीय गृह अर्थ परिषद संगठित कर दी गयी है। इसमें प्रतिनिधि सभा और परिषद सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष, प्रधान मंत्री, वित्त मंत्री, सम्राटीय गृह कार्यालय का प्रधान और लेखा परीक्षा परिषद का अध्यक्ष सदस्य होते हैं।

सम्राट् के गृह के प्रबन्ध के लिए विभिन्न कर्मचारियों के नाम, कार्य और संख्या भी संसद द्वारा सम्राटीय गृह कार्यालय विधि १९४७ द्वारा निश्चित कर दी गयी है। यह कार्यालय प्रधान मंत्री के क्षेत्राधिकार में है।

संविधान के प्रवृत्त होने के पूर्व सम्राट् ने सन् १९४६ के नव वर्ष के सन्देश में यह भी घोषित कर दिया था कि सम्राट् और जनता के सम्बन्ध पारस्परिक न्यास और प्रेम पर स्थिर हैं वह केवल किंवदन्तियों और कल्पित कथाओं पर आश्रित नहीं हैं। वे इन झूठे विचारों पर कि सम्राट् दैवी है और जापानी लोग संसार की अन्य प्रजातियों से उच्च तथा विश्व का शासन करने के भाग्य वाले हैं, आधारित नहीं हैं। इस प्रकार सम्राट् ने स्वयं अपनी दैविकता सम्बन्धी प्रचलित धारणा का खण्डन कर दिया है।

इन परिवर्तनों के साथ-साथ सम्राट् की प्रकृति में भी परिवर्तन हो गया है। नये संविधान द्वारा उत्पन्न जनता की प्रजातान्त्रिक चेतना के फलस्वरूप सम्राट् की स्थिति अब अतर्क्य नहीं रही है। अब सम्राट् संस्था और उसके व्यक्तिगत आचार-विचार पर स्वतंत्र रूप से चर्चा की जाने लगी है। अब उसके कार्यों की चर्चा भी निर्भयता से की जाती है। यह कार्य पहले संभव नहीं था। सम्राट् का अब मानवीयकरण भी हो गया है। युद्ध के पूर्व सम्राट् के चित्र नहीं छापे जाते थे। उसके बाहर निकलने पर लोग ऊँचे स्थान से उसे देख नहीं सकते थे। सामने भी उन्हें अपना शिर झुका लेना पड़ता था। पर अब सम्राट् कृषि क्षेत्रों, कारखानों और विद्यालयों में जाता है। वह क्रीड़ा और चित्रपट भी देखता है। समाचार पत्र और पत्रिकाएँ सम्राट् और उसके परिवार के दैनिक जीवन के सम्बन्ध में कहानियाँ और चित्र छापते हैं। उसका जीवन स्तर भी अत्यन्त साधारण हो गया है। सम्भवतः यह जनता की आर्थिक स्थिति के प्रतीक के स्वरूप सम्राट् ने स्वयं किया है और देश की आर्थिक उन्नति होने पर उसका जीवन स्तर भी ऊँचा उठेगा।

सम्राट् की वर्तमान स्थिति—सम्राट् अब भी जापान का सर्वाधिक सम्मानित व्यक्ति है। यद्यपि वर्तमान संविधान के अन्तर्गत उसके अधिकार लगभग समाप्त कर दिए गये हैं। उसके द्वारा किए जाने वाले कार्यों की संख्या भी कम हो गयी है। उसके दैवी होने का विश्वास भी समाप्त करने का प्रयत्न किया गया है। उसके सम्बन्ध की रहस्यवादिता हटाने का भी प्रयास किया गया है। पर इन कार्यों से सम्राट् का सम्मान किसी प्रकार कम नहीं हुआ है। इसके प्रमुख दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि सम्राट् ने एक दीर्घ काल से अपने अधिकारों का प्रयोग स्वयं कभी नहीं किया था। मेइजी पुनर्स्थापन के पूर्व यह अधिकार शोगुं प्रयोग करता था और उसके पश्चात् उनका प्रयोग अन्तरंग परिषद, वरिष्ट परिषद, सेना का सर्वोच्च आदेशक और मंत्रि-परिषद करने लगी। मंत्रिपरिषद जब सम्राट् के प्रति उत्तरदायी थी उस समय वह सम्राट् नहीं वरन् अन्य प्रभावपूर्ण व्यक्तियों और संस्था की आज्ञापालन करती थी। कालान्तर में वह भी

संसद के प्रति उत्तरदायी होगी। धीरे-धीरे सम्राट् ने संसद द्वारा पारित विधेयकों का रोध (veto) करना भी बन्द कर दिया। जब वह रोध करता था उस समय भी उसमें उसकी इच्छा का अंश मात्र भी न होता था। मेइजी काल के प्रारम्भिक वर्षों में ही शिक्षा के विकास के कारण उसकी दैविकता में भी जनता का विश्वास बहुत कम रह गया था। उसके सम्बन्ध की रहस्यवादिता भी बहुत थोड़े लोगों के लिए रहस्यमयी थी। शिन्तो राजधर्म अवश्य था पर वह अधिकांश जनता का धर्म न था। बहुसंख्यक जनता तो बौद्ध धर्म मानती थी। जापान की जनता के जीवन पर धर्म का प्रभाव भी इतना गहरा कभी नहीं रहा जितना भारत की जनता पर रहा है। इन कारणों से वर्तमान प्रयासों के पूर्व भी सम्राट के प्रति सार्वजनिक दृष्टिकोण लगभग वैसा ही था जैसा कि अब है। सम्राट् के सम्मान के कम न होने का द्वितीय कारण उसकी ऐतिहासिकता है। प्राचीन काल से सम्राट् का सम्मान साम्राज्य के प्रतीक, राज्य के अवयव, एक संस्था और नैतिक व आध्यात्मिक व्यक्ति के रूप में होता रहा है और इन रूपों में उसका अस्तित्व अब भी पूर्ववत् बना हुआ है।

साम्राज्य का प्रतीक—सम्राट् अति प्राचीन काल से राष्ट्र के इतिहास, उसकी संस्कृति, उसकी सफलता और उसकी एकता का प्रतीक समझा जाता रहा है। वर्तमान संविधान भी उसे राष्ट्र और जनता की एकता का प्रतीक होने की घोषणा करता है। जापान में आदि काल से एक ही राजवंश राज्य कर रहा है। संसार का कोई देश इस बात में जापान की समता नहीं कर सकता। जापान के वर्तमान सम्राट् अपने वंश के १२४वें सम्राट् हैं। जापान के सम्राट् का वंश उतना ही पुराना समझा जाता है जितना पुराना जापान का साम्राज्य समझा जाता है। इस प्रकार दोनों की स्थिति ऐतिहासिक है। आज जापान का कोई वंश सम्राट् के वंश से अधिक प्राचीन नहीं है। इस दृष्टि से भी जापान के सम्राट् के वंश की स्थिति अद्वितीय है। जापानवासी इसीलिए अपने सम्राट् का सम्मान इंगलैण्डवासियों द्वारा उनकी सम्राज्ञी या सम्राट् के प्रति किए जाने वाले सम्मान से अधिक करते हैं और "वर्तमान

उसमें कोई दिखावा या सजावट नहीं होती पर उसका भावुकता और राज्य-भक्ति की दृष्टि से बड़ा प्रभाव पड़ता है।

सम्राट् राज्य का अवयव—जापानवासी प्राचीन काल से सम्राट् को राज्य का एक महत्वपूर्ण अवयव मानते रहे हैं। बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ दशाब्द में जापान में उग्र राष्ट्रवादी सैनिक तत्वों के सत्तारूढ़ हो जाने पर उन्होंने जापानवासियों की सम्राट् के प्रति निष्ठा को अपने कुत्सित लक्ष्यों की सिद्धि के उद्देश्य से अपना बलिदान करने हेतु उभाड़ने के लिए फासीवादी सिद्धान्त 'सम्राट् ही राज्य है' (The Emperor is the State) का प्रचार करना प्रारम्भ किया। टोकियो सम्राटीय विश्वविद्यालय के संवैधानिक विधि विभाग के अध्यक्ष प्रो० उएसूगी ने सत्तारूढ़ गुट को प्रसन्न करने के उद्देश्य से उनके सिद्धान्त के समर्थन में सम्राट् के दैविक अधिकार सिद्धान्त का तर्क देना प्रारम्भ किया। शिक्षित जापानवासियों ने कभी भी सम्राट् की दैविकता को स्वीकार नहीं किया था। इसलिए प्रो० उएसूगी के तर्क का उत्तर सम्राटीय विश्वविद्यालय टोकयो के ही तुलनात्मक और प्रशासनात्मक विधि विभाग के अध्यक्ष डा० मिनोबे तत्सुकिची ने दिया। उन्होंने कई ग्रन्थ लिखे थे। वह सम्राट् को राज्य का एक अवयव के रूप में मानते थे जो निरंकुश दैविक शक्ति से नहीं वरन् राष्ट्र के सर्वोच्च प्रतिनिधि के रूप में शासन करता था। उग्र राष्ट्रवादियों ने डा० मिनोबे को देशद्रोही घोषित किया। उनके दबाव के कारण सन् १९३५ में ओकादा सरकार को भी घोषणा करनी पड़ी कि सम्प्रभुता सम्राट् में निवास करती है और सम्राट् का राज्यावयव सिद्धान्त देश की राजनैतिक विचारधारा के विपरीत है। डा० मिनोबे ने अपनी विद्वत्ता, उच्चकोटि के ग्रन्थों की रचना तथा राष्ट्रसेवा के लिए प्राप्त अपनी अभिजात सभा की सदस्यता भी त्याग दी। द्वितीय विश्वयुद्ध के काल में सम्राट् को वस्तुस्थिति का ज्ञान भी न होने दिया गया। फिर भी सम्राट् ने देशवासियों को युद्ध की विभीषिका से मुक्ति दिलाने के लिए समर्पण की घोषणा का अप्रिय भार स्वयं अपने ऊपर लिया। अन्त में सन् १९४६ के नव वर्ष दिन पर उसने स्वयं उग्र राष्ट्रवादियों द्वारा प्रतिपादित सम्राट के दैविक सिद्धान्त व रहस्यमयता का खण्डन करके सम्राट के राज्यावयव

सिद्धान्त का समर्थन किया। इस वृत्तान्त से यह स्पष्ट है कि सम्राट् को प्राचीन समय से राज्यावयव ही माना जाता था। उसके दैविक सिद्धान्त का प्रतिपादन तो प्रतिक्रियावादी स्वार्थी तत्वों ने किया था। साधारण जनता उसे स्वीकार नहीं करती थी पर प्रतिक्रियावादियों के आतंकवाद के कारण वह अपना मुँह न खोल सकी। वर्तमान संविधान ने उसकी दैविकता और सम्प्रभुता का खण्डन करके सैनिकवादियों द्वारा प्रतिपादित विचारधारा का अन्त करके केवल पूर्व-स्थिति को पुनः स्थापित कर दिया है।

सम्राट् एक संस्था के रूप में—प्राचीन काल से सम्राट् राज्य का सांस्कारिक प्रधान रहा है और राज्य के सांस्कारिक कृत्य ही सम्पादन करता रहा है। लगभग १०वीं शताब्दी से उसने स्वयं शासन नहीं किया है। उसके कार्य तो दरबार के समारोह करने और सम्मान प्रदान करने तक सीमित रहे हैं। उसे सरकार के वास्तविक विषयों में उलझने का अवसर नहीं मिला। उसने स्वयं कभी कोई राजनैतिक महत्व का न तो कोई कार्य ही किया और न उसने कोई भूल ही की। इसलिए जनता ने न तो कभी उससे भय किया और न कभी उसका विरोध ही किया। वह तो केवल राष्ट्र के स्थायित्व और निरं-तरता का प्रतीक रहा है। तोकुगावा शोगुनत के समय में तो वह व्यक्ति और संस्था दोनों रूपों में आच्छादित हो गया था। पुनर्जागरण ने जनता को सम्राट की पहचान करायी और उसके प्रति सम्मान की भावना उत्पन्न की। सन् १८८६ के संविधान के अन्तर्गत उसे निरकुंश शक्ति प्रदान की गयी। पर उसका प्रयोग उसने अपने उपक्रम से कभी नहीं किया। फलतः वह किसी भलाई या बुराई के लिए कभी उत्तरदायी नहीं हुआ। यह उत्तरदायित्व उसके मन्त्रियों का था। यह स्थिति कभी किसी से छिपी नहीं रही कि वह राज्य का प्रधान है सरकार का नहीं, वह राजत्व करता है लेकिन शासन नहीं करता है। उसने दलगत राजनीति और वाद-विवाद में कभी कोई भाग नहीं लिया और न कभी किसी का पक्षपाती हुआ। निष्पक्षता के कारण उसने सदा सम्मान पाया। सरकार में उसका जो कुछ भाग था वह यह था कि सरकार के कार्यों के संम्बन्ध में उसे सूचित किया जाता था और उस समय वह उस पर अपना दृष्टिकोण प्रकट

कर सकता था। उस दृष्टिकोण से सम्बन्धित संस्थाएँ प्रोत्साहन भी पा सकती थीं और चेतावनी भी ले सकती थीं। इसके अतिरिक्त वह विचारों और निर्देशों का विनमय केन्द्र था और सभी कार्य उसके ही नाम से किए जाते थे। इसलिए सर्वसाधारण को कभी-कभी उसका उत्तरदायित्व स्पष्ट नहीं होता था। इससे उसके प्रभाव का दुरुपयोग करने का प्रयत्न किया जाता था। सम्राट् की शक्ति दैवी कहे जाने के कारण सिद्धान्त रूप में वह निरंकुश कही जा सकती थी और निहित हित उसका अतिक्रमण करके उससे निजी उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयत्न करते थे। प्राचीन संविधान के अन्तर्गत अंतरङ्ग परिषद, वरिष्ट परिषद, मन्त्रि परिषद, सम्राटीय गृह मन्त्रालय, सेना का सर्वोच्च समादेश आदि कई संस्थाएँ थीं। इनमें अधिकारों का प्रयोग कोई संस्था करती थी, नाम सम्राट् का प्रयोग किया जाता था, पर उत्तरदायित्व किसी दूसरी संस्था का होता था। उस समय निर्णय अंतरङ्ग परिषद, वरिष्ट परिषद, सम्राटीय गृह मन्त्रालय, सेना का सर्वोच्च समादेश लेते थे, आज्ञा सम्राट् के नाम से निकलती थी, हस्ताक्षर किसी मन्त्री के होते थे और मन्त्री ही उनके लिए उत्तरदायी होते थे।

वर्तमान संविधान के अन्तर्गत सम्राट् को मन्त्रणा देने वाली संस्थाओं की बाहुल्यता समाप्त कर दी गयी है। अंतरङ्ग परिषद, वरिष्ट परिषद, सेना का सर्वोच्च समादेश उन्मूलित कर दिये गये हैं। सम्राटीय गृह मंत्रालय सम्राटीय गृह कार्यालय में परिवर्तित करके मन्त्रिपरिषद के अंतर्गत कर दिया गया है। अब सम्राट् को मन्त्रणा देने वाली एक मात्र संस्था मन्त्रिपरिषद है। मंत्रणात्मक शक्ति पर मन्त्रि परिषद का अनन्य अधिकार स्थापित हो जाने से सम्राट् को वह गरिमा मिली है जो सन् १८६७ का पुनर्स्थापन देना चाहता था पर देने में असफल सिद्ध हुआ था। सम्राट् के कुछ अधिकार ले लिए गये हैं पर वह अधिकार ऐसे हैं जिन्हें न कभी सम्राट् ने प्रयोग किया था और जिन्हें न कभी एक वंशानुगत राज्य प्रधान स्वयं प्रयोग ही कर सकता था। एक वंशानुगत राज्य प्रधान वैगट के परामर्श देने का अधिकार, प्रोत्साहन देने का अधिकार और चेतावनी देने का अधिकार ही स्वयं प्रयोग कर सकता। जापान का सम्राट् भी अब इस स्थिति में है। "वह एक निर्णायक या पंच या प्रतिसंतुलक के रूप में

कार्य नहीं करता पर स्वतः एक सामञ्जस्यकर्त्ता और ऐक्य स्थापक है......वह अपने को मध्यस्थ के रूप में वस्तुतः बिना फँसाए अवसर के अनुसार भर्त्सना करने, प्रोत्साहित करने या चेतावनी देने की स्थिति में है।"[1] एक वंशानुगत राज्य प्रधान राजत्व कर सकता है पर शासन नहीं कर सकता। जापान के राज्य प्रधान की भी यही स्थिति है।" नवीन संविधान के अन्तर्गत, सम्राट् पूर्ण स्पष्टता से राजत्व करता है पर शासन नहीं करता।"[2] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि "मेइजी द्वारा अपने और अपने उत्तराधिकारियों पर आरोपित रिक्त निरंकुशता से वञ्चित होकर सिंहासन सीमित पर वास्तविक शक्तियों का भाजन बन गया है।"[3]

मेइजी संविधान में सम्राट् को राज्य का प्रधान कहा गया था (अनु० ४)। वर्तमान संविधान में इस प्रकार का कोई उपबन्ध नहीं है। साथ ही यह लिख दिया गया है कि उसे सरकार के सम्बन्ध में कोई शक्ति न होगी। उसके कार्य भी कम कर दिए गये हैं। इसलिए संवैधानिक विधि के बहुत से विद्वानों का मत है कि सम्राट् अब जापान राज्य का प्रधान नहीं है। कुछ विद्वान यह भी कहते हैं कि जापान अब एक वंशानुगत सम्राट् से सम्बद्ध एक गणतन्त्र है। पर संविधान में किसी सम्राट्, राजा या राष्ट्रपति को राज्य का प्रधान बताना आवश्यक नहीं। भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधानों में भी

---

1. "He does not function as a referee or umpire or a counterpoise but is automatically a harmonizer and unifier...... He is in position to give admonition, encouragement or warning as the occasion arises without actually involving himself as a mediator." C. Yanaga: *Japanese People and Politics.* (1956) p. 137.

2. "Under the new constitution, the Emperor quite clearly reigns but does not rule." Nobutake Ike: *Japanese Politics*, 1957, p. 67.

3. "Deprived of the empty autocracy ascribed to himself and his successors by Meiji, the throne became the repository of limited but genuine powers." Quigley & Turner : *The New Japan.* 1956, p. 203.

राष्ट्रपतियों को राज्य का प्रधान नहीं कहा गया है पर भारत के राष्ट्रपति को राज्य का प्रधान और अमेरिका के राष्ट्रपति को राज्य और सरकार दोनों का प्रधान कहा जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जापान का वर्तमान संविधान तैयार कराते समय जनरल मैकार्थर सम्राट् को राज्य के प्रधान के रूप में रखकर राजतन्त्र को बनाये रखने के पक्ष में थे। उसकी तत्सम्बन्धी टिप्पणियों में भी सम्राट् को राज्य का प्रधान (At the head of the State) कहा गया था और प्रारूप लेखकों में से एक ने कहा है कि सम्राट् को राज्य का प्रतीक कहने में उनका अभिप्राय उसे राज्य का प्रधान मानने से वर्जित करने का न था। यही नहीं परामर्शदाताओं की बाहुल्यता समाप्त हो जाने से सम्राट् अब अपनी प्रतीकात्मक स्थिति से ऊँचा उठ गया है और "विरोधाभास के रूप में, नये संविधान में परिभाषित प्रतीक के अनुरूप कई शताब्दियों से रहा हुआ सिंहासन उसके साथ ही प्रतीक से अधिक हो गया है। इस प्रकार प्रवृत्त करने ही पर अनुच्छेद १ व्यवहारातीत हो गया।[1] यद्यपि संविधान यह कहता है कि सम्राट् को सरकार के सम्बन्ध में कोई शक्ति नहीं होगी। पर वह प्रधान मन्त्री, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश आदि को नियुक्त करता है, विधियों और आज्ञाओं को प्रवृत्त करता है, संसद् को आहूत करता है और प्रतिनिधि सभा विघटित करता है। यद्यपि सम्राट् इन कार्यों को मन्त्रि परिषद् की मंत्रणा और अनुसमर्थन से करता है तो भी वह सरकार सम्बन्धी ही अधिकार रहते हैं। एक संवैधानिक राज्य प्रधान इससे अधिक शक्तियाँ प्रयोग नहीं कर सकता। "राज्य प्रधान को पक्षपात के ऊपर, निर्णय करने की शक्ति के बिना और वैधानिक रूप से प्रमाणित कार्य क्षेत्र वाला होना चाहिए।"[2]

---

1 "Paradoxically, the throne become more than the symbol which it had been for many centuries coincidently with its definition as such in the new Constitution." *Ibid*, p. 202.

2 "The head of the state must be above partisanship, without power to decide, but with a legally defined sphere of action." *Ibid*, p. 203.

जापान के सम्राट् की तुलना इङ्गलैंड के राज्य प्रधान से की जा सकती है। ब्रिटेन में संविधान अलिखित होने से उसके वास्तविक अधिकारों को पूर्णतया निश्चित रूप से बताना कठिन है। अनुदार दल से सम्बन्ध रखने वाले लेखकों जैसे प्रो० ए० बी० कीथ और आइव्हर जेनिंग्स ने कुछ अवसरों पर इङ्गलैंड के राज्य प्रधान के निर्णयात्मक अधिकारों का समर्थन किया है पर रैमज़ेम्योर और एच० जे० लास्की का मत पूर्णतया भिन्न है। प्रो० लास्की ने लिखा है "वह मन्त्रियों से उनके मार्ग के अविवेक पर विस्तार से विवाद कर सकता है, वह उनके द्वारा लाये जाने वाले गम्भीर खतरों को चित्रित कर सकता है। लेकिन, एक बार उनके द्वारा उसे दी जाने वाली मंत्रणा के सम्बन्ध में उनके निश्चय कर लेने पर उसका संवैधानिक कर्त्तव्य उसे स्वीकार करना है……राजा के सार्वजनिक कार्य एक स्वचालित चरित्र के होना चाहिए; सार्वजनिक दृष्टि में उसे अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा स्वीकार करना होगा। व्यक्तिगत रूप में, निसन्देह, वह मन्त्रणा और प्रोत्साहन और चेतावनी के उन अधिकारों का पूर्ण रूप से प्रयोग कर सकता है जिनके लिए उसकी सर्वोच्च स्थिति उसे पूर्ण विचार का आश्वासन दिलाती है। वह उनके आगे नहीं जा सकता है।"[1] अधिकांश विद्वान प्रो० लास्की के मत का ही समर्थन करते है। प्रो० ऑग (Ogg) और जिन्क (Zink) ने लिखा है "राजा कोई अपकृत्य नहीं कर सकता, क्योंकि उसके द्वारा या उसके नाम से किए कार्य किसी मन्त्री या सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल पर अभियोज्य होते हैं। पर इसका अर्थ

1. "He can expatiate to ministers on the unwisdom of their course; he can picture the grave risks they are running, But, once they have made up their minds upon the advice they propose to tender to him, his constitutional duty is to accept it... The King's public acts must be of an automatic character; he must, in the public view, accept the advice of his ministers. In private, no doubt, he can use to the full those rights of advice and encouragement and warning for which his supreme position assures him full consideration. He cannot go beyond them."

Parliamentary Government in England, 1959, p. p. 429-430.

यह निकलता है कि राजा स्वेच्छा की प्रकृति और वैधानिक प्रभाव का सुकृत्य या अपकृत्य कुछ नहीं कर सकता।"[1] ब्रिटिश सरकार के मत में भी "सम्राज्ञी......राजतत्व करती है पर शासन नहीं करती।"[2] सम्राज्ञी को परामर्श देने का अधिकार, प्रोत्साहित करने का अधिकार और चेतावनी देने का अधिकार है पर रोध अधिकार अव्यवहार्य हो गया है।"[3] इस प्रकार नियमानुसार ब्रिटिश राज्य प्रधान कामन्स सभा के प्रति उत्तरदायी मन्त्रि परिषद की मन्त्रणा पर ही अपने राज्य या सरकार सम्बन्धी समस्त कार्य करता है। स्वेच्छा से तो वह अपना विवाह भी नहीं कर सकता "संवैधानिक रूप में, युद्धोत्तर सम्राट् ने ब्रिटिश राजमुकुट के समान कार्यांश धारण कर रखा है।[4]

नैतिक और अध्यात्मिक व्यक्ति—जापान के इतिहास में सम्राट् की स्थिति एक नैतिक और आध्यात्मिक व्यक्ति के रूप में सदैव ही उच्चतम रही है। उसे यह स्थिति उसकी प्राचीनता और धार्मिकता ने प्रदान की है। नये संविधान पर वाद-विवाद करते हुए प्रतिनिधि सभा के सदस्य सुजुकी योशिओ ने कहा था, "जापानवासियों की सम्राट् के कुटुम्ब के प्रति भावना सभी कानूनों के ऊपर है और उनका (सम्राट् के प्रति सम्मान) शक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, वरन् (वह) विशुद्ध नैतिक और भावुक है। उनका सम्राट् के प्रति सम्मान व प्रेम इससे किंचित मात्र भी प्रभावित नहीं होता कि वह प्रशासनात्मक

---

1. "The king can do no wrong" because the acts done by him or in his name are chargeable to a minister or to the ministry as a whole. This tends, however, to mean that the king can do nothing, right or wrong, of a discretionary nature and having legal effect." F. A. Ogg & H, Zink : *Modern Foreign Government.* 1951. p. 61.

2. The British Parliament. (B. I. S.), 1959, p. 1

3. The British Parliament. (B. I. S), 1962. p. 2

4. "Constitutionally, the post-war Emperor assumed a role similar to that of the British Crown." Linebarger and others; *Far Eastern Governments and Politics*, 1956, p. 504.

अधिकार रखता है या नहीं।"[1] डा० कानामोरी तोकुजिरो ने, जो उस समय एक मन्त्री थे, नये संविधान की व्याख्या करते हुए कहा था, "जापान में सम्राट् और जनता एक है। सारी जनता उन आध्यात्मिक बन्धनों द्वारा सम्राट् से सम्बद्ध है जिनकी जड़ें उनके हृदयों की तली में गहराई से लगी हैं और यही एकता राज्य की स्थिति की नींव बनी है।"[2] सम्राट् के इसी प्रभाव के कारण अमेरिका के सर्वोच्च समादेशक ने सम्राट् को बनाए रखा था। प्रारम्भ में वह जानते थे कि उसके द्वारा वह जापान में इच्छित परिवर्तन करा सकते हैं और बाद में उन्होंने देखा कि सम्राट् ही साम्यवादियों द्वारा किये जाने वाले उग्र क्रान्तिकारी प्रचार का प्रभाव रोक सकता है। सम्राट अब भी अपनी धार्मिक स्थिति पूर्ववत् बनाए है। उसकी उपाधि अब भी पूर्ववत् तेन्नो हेइका (Tenno Heika)—स्वर्गिक प्रभु है। वह अब भी शिन्तो धर्म के कार्यों में पूर्ववत् पारम्परिक वेषभूषा में सम्मिलित होता है। उसकी प्रधान पुरोहित की स्थिति पूर्ण रूप से हटी नहीं है। साम्राज्य पताका का चिह्न अब भी पूर्ववत् पौराणिक प्रतीक है। सम्राट् अब भी 'इसे' समाधि के पूर्ववत् दर्शन करता है। यद्यपि वैधानिक रूप में शिन्तो अब राज्य धर्म नहीं है पर सरकार द्वारा धार्मिक संगठनों को अनुदान अब भी दिया जाता है और शिन्तो धर्मावलम्बियों की संख्या भी निरन्तर बढ़ रही है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. एक प्रजातन्त्र देश में वंशानुगत राज्य प्रधान की क्या स्थिति होनी

---

1. "The notion of the Japanese people toward the Imperial House transcends all laws and their respect has nothing to do with power but is purely moralistic and emotional. Their respect and affection toward the Emperor is not affected in the least by whether he has administrative power or not." *Suzuki Yoshio.*

2. "in Japan the Emperor and the people are one, the whole people being bound together through the spritual ties with the Emperor which are deep-rooted in the bottom of their hearts, and this union constitutes the foundation of the existence of the state."

Dr. Kanamori Tokujiro.

चाहिए ? जापान के सम्राट् की स्थिति को क्या हम इस रूप में आदर्श कह सकते हैं ?

२. जापान के वर्तमान संविधान के अन्तर्गत सम्राट् की स्थिति, कार्यों और शक्तियों की परीक्षा करिए।

३. 'यदि मन्त्रीय उत्तरदायित्व के संवैधानिक सिद्धान्त का कोई अर्थ है तो राजा को अपने ही मृत्यु अधिपत्र पर यदि वह उसके सामने संसद में बहुमत रखने वाले एक मन्त्री द्वारा हस्ताक्षर हेतु प्रस्तुत किया जाता है, हस्ताक्षर करना होगा' (लार्ड इशर) इस सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए सम्राट् की स्थिति की विवेचना करिए।

४. जापान के नवीन संविधान के अन्तर्गत सम्राट् की वास्तविक स्थिति में कौन-कौन परिवर्तन हो गए हैं ? विस्तारपूर्वक समझाइए।

५. 'वर्तमान काल की जापानी राजनीति की अवशिष्ट शक्तियों में सम्राटीय वंश के प्रति जनता की भक्ति सर्वाधिक शक्तिशाली है' (क्विग्ली और टर्नर) इस कथन की समीक्षा करिए।

६. 'मेइजी द्वारा अपने और अपने उत्तराधिकारियों पर आरोपित रिक्त निरंकुशता से वञ्चित सम्राट् सीमित पर वास्तविक शक्तियों का भाजन बन गया है।' (क्विग्ली और टर्नर) इस कथन की व्याख्या करिए और सम्राट् की वास्तविक शक्तियों का वर्णन करिए।

७. 'संवैधानिक रूप में, युद्धोत्तर सम्राट् ने ब्रिटिश मुकुट के समान स्थिति ग्रहण कर ली है' (लाइनवार्जर तथा अन्य)। इस कथन की व्याख्या करिए।

८. यह कहना कहाँ तक ठीक है कि जापान वास्तव में एक गणतन्त्र है जिसके साथ एक वंशानुगत सम्राट् सम्बद्ध है ?

●

मंत्रिपरिषद | ५

"There is no security that an hereditary king will be competent to choose a good chief minister, and thousands of such kings have chosen millions of bad ministers." *Walter Bagehot.*

सरकार में मन्त्रि-परिषद प्रशासकीय विभागों के प्रधानों द्वारा विशिष्ट रूप से सङ्गठित एक परिषद होती है जो प्रशासन तथा नीति सम्बन्धी विषयों पर राज्य प्रधान को परामर्श देती है। प्रजातन्त्र देशों की मन्त्रि-परिषदों को मुख्य तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, अध्यक्षीय मन्त्रि परिषदें, जो संयुक्त राज्य अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका महाद्वीप के अन्य देशों मैक्सिको और एशिया में फिलीपाइन राज्य की सरकारों में पायी जाती हैं। द्वितीय, संसदीय मन्त्रि परिषदें, जो ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया, कनाडा, भारत, लङ्का, जापान आदि में पाई जाती हैं। तृतीय, मण्डलात्मक मन्त्रि-परिषद, जो केवल स्विट्ज़रलैण्ड में पायी जाती है।

अध्यक्षीय परिषद का प्रधान एक अध्यक्ष होता है जो अपने कार्यकाल, मुख्य अधिकारों आदि के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र होता है और

वह स्वयं व्यवस्थापिका की अवधि या सत्रावसान आदि पर नियन्त्रण नहीं रखता। इस प्रकार अध्यक्ष और व्यवस्थापिका में संविधान द्वारा शक्ति पृथक्करण होता है और अध्यक्ष जनता द्वारा प्रत्यक्ष, या अप्रत्यक्ष रीति से एक विशेष निर्वाचक मंडल द्वारा, निश्चित कार्यकाल के लिये निर्वाचित होता है और उसके पुनर्निर्वाचन पर भी प्रतिबन्ध होता है। प्रायः वह दो कार्यकालों से अधिक के लिए निर्वाचित नहीं हो सकता है। व्यवस्थापिका उसे निश्चित अपराधों पर केवल विशेष महाभियोग प्रक्रिया द्वारा ही पदच्युत कर सकती है। उसे अविश्वास प्रस्तावों, निन्दक प्रस्तावों (Censure motions), आयव्यक या महत्वपूर्ण विधेयकों आदि की अस्वीकृत द्वारा अपदस्थ नहीं किया जा सकता। इसलिए व्यवस्थापिका की दल स्थिति और गुटबन्दी तथा उसमें होने वाले समय-समय के परिवर्तनों का अध्यक्ष की स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता और वह अपने निर्धारित कार्यकाल तक अपने पद पर रहता है। अध्यक्ष भी व्यवस्थापिका के किसी सदन का न तो विघटन ही कर सकता है और न सत्रावसान ही कर सकता है। इसलिए व्यवस्थापिका अपने अधिवेशन स्वयं निश्चित करती है। उसके निर्वाचन भी निश्चित समयों पर होते हैं। अतः अध्यक्ष व्यवस्थापिका पर दबाव नहीं डाल सकता और दलीय नियन्त्रण भी कठोर नहीं हो पाता। ऐसी परिस्थिति में व्यवस्थापिका अपने कार्यों में अपेक्षाकृत स्वतन्त्रता से कार्य करती हैं। वह जनता के विचारों से अधिक प्रभावित होती रहती है और ऐसी व्यवस्था में कठोर दलीय अनुशासन के दोष अधिक परिलक्षित नहीं होते।

अध्यक्ष स्वयं मन्त्रिपरिषद का प्रधान होता है। उसके परामर्शदाता उसके मन्त्री (minister) नहीं सचिव होते हैं। अध्यक्ष स्वयं उनकी बैठक द्वारा विचार किए जाने वाले विषयों को निश्चित करता है, बैठक का आह्वान करता है, और उसकी अध्यक्षता करता है। बैठक गुप्त होती है। उसकी कार्यवाही का कोई आलेख नहीं रखा जाता। परामर्शदाता अपना विचार प्रकट करते हैं, साधारणतया किसी विषय पर उनका वोट नहीं लिया जाता और यदि अध्यक्ष ऐसा कराये भी तो वह उसके परिणाम को मानने के लिए बाध्य नहीं होता।

अध्यक्ष अपने परामर्शदाताओं को स्वेच्छा से नियुक्त करता है और स्वेच्छा से अपदस्थ करता है। उनकी नियुक्ति और पदच्युति उसकी स्थिति को प्रभावित नहीं करती है। परामर्शदाता अध्यक्ष के प्रति ही उत्तरदायी होते हैं। वह न तो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं और न उसके सदस्य ही हो सकते हैं। व्यवस्थापिका अविश्वास या निन्दा प्रस्ताव द्वारा या उनके विभागीय आयव्ययक या विधेयक को अस्वीकार करके उन्हें पदच्युत नहीं कर सकती है। वह व्यवस्थापिका के नियन्त्रण में नहीं होते। व्यवस्थापिका उनसे यह भी नहीं पूछ सकती के उन्होंने किसी विषय पर अध्यक्ष को क्या परामर्श दिया है? सारी कार्यपालिका का उत्तरदायित्व अध्यक्ष में पूर्ण रूप से केन्द्रित होता है। वह राज्य और शासन दोनों का ही वास्तविक प्रधान होता है। उसके परामर्शदाता केवल प्रशासन कार्यों को ही करते हैं। वह न संसद की बैठक में उपस्थित होते हैं, न दलों की कार्यवाही में भाग लेते हैं और न उन्हें निर्वाचन क्षेत्रों में भ्रमण और प्रचार कार्य करना पड़ता है। उनका पद उनकी दलीय स्थिति पर नहीं वरन् उनकी प्रशासन क्षमता तथा राष्ट्रपति के साथ नीतिविषयक विचार एकता पर आधारित रहता है। इसलिए वह राजनीतिज्ञ नहीं होते। प्रायः प्रशासक, वकील और प्रोफेसर वर्ग के व्यक्ति इन पदों पर नियुक्त होते हैं। जिन देशों में स्थानीय विभेदों या अन्य कारणों से बहुदल प्रथा हो उनमें भी इस प्रकार की मन्त्रिपरिषदें सफलतापूर्वक कार्य कर सकती हैं।

संसदीय मन्त्रिपरिषदों का प्रधान एक प्रधानमन्त्री होता है जो व्यवस्थापिका की नामोदिष्टि पर राज्य प्रधान द्वारा नियुक्त होता है। कुछ देशों में व्यवस्थापिका द्वारा नामोदिष्टि का उपबन्ध संविधान में लिखा होता है। उनमें राज्य-प्रधान को उसकी नियुक्ति में स्वविवेक प्रयोग करने का अवसर नहीं मिलता और व्यवस्थापिका के दोनों सदन या केवल निम्न सदन उसे औपचारिक रूप में निर्वाचित करता है। पर अधिकांश देशों में यह उपबन्ध संविधान में वर्णित नहीं है। केवल अभिसमय से ही ऐसा किया जाता है। इसलिए व्यवस्थापिका प्रधानमन्त्री की नामोदिष्टि औपचारिक रूप से नहीं करती। राज्य प्रधान निम्न सदन में बहुमत वाले राजनैतिक दल के नेता को प्रधानमन्त्री नियुक्त

करता है। किसी दल का सदन में स्पष्ट बहुमत न होने पर या बहुमत दल के नेताओं में प्रधानमन्त्री के पद के लिए प्रतिद्वन्द्विता होने पर राज्य प्रधान को उसकी नियुक्ति करते समय सीमित स्वविवेक प्रयोग करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। यदि राज्य का प्रधान वंशानुगत राजा हुआ तो दल सम्बन्ध न होने के कारण वह ऐसे अवसरों पर भी किसी उचित प्रक्रिया को निर्लेप रूप में अनुसरण करता है। पर राज्य का प्रधान निर्वाचित अध्यक्ष होने पर पूर्व दलीय सम्बन्धों तथा शक्ति लिप्सा की स्वाभाविक मानवीय प्रवृत्ति के कारण उसके द्वारा कपटोपायों तथा स्वेच्छाचारिता के प्रयोग की आशंका अधिक रहती है।

प्रधानमन्त्री अपने सहयोगी मन्त्रियों का चुनाव करता है। कहीं-कहीं उनकी नियुक्ति औपचारिक रूप में केवल राज्य-प्रधान द्वारा ही होती है। ऐसी स्थिति में राज्य-प्रधान को प्रधानमन्त्री के निर्णय को प्रभावित करने का अवसर मिल जाता है। पर जिन राज्यों में सहयोगी मन्त्रियों की नियुक्ति भी प्रधानमन्त्री द्वारा की जाती है वहाँ राज्य के प्रधान का प्रभाव पड़ने का अवसर नहीं होता है। प्रधानमन्त्री द्वारा सहयोगी मन्त्रियों का चुनाव एक जटिल कार्य होता है। उसको अपने दल के विभिन्न वर्गों, हितों और गुटों को सन्तुष्ट करना पड़ता है। विभिन्न क्षेत्र भी अपना प्रतिनिधित्व माँगते हैं। मन्त्रिमंडल की एकता और स्थायित्व बहुत कुछ इसी संकलन पर आधारित होता है। यदि सदन में एक दल को पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता तो सहयोगियों का संकलन और भी कठिन कार्य होता है। स्थायित्व प्राप्त करने के लिए प्रधानमन्त्री को दूसरे दल के साथ मिल कर संयुक्त सरकार बनाना पड़ता है और दूसरे दल अपने सहयोग के मूल्य में निश्चित संख्या में तथा विशेष पदों की माँग करते हैं। एक दल का भी बहुमत होने पर कुछ व्यक्ति इतना अधिक प्रभाव रखते हैं कि उन्हें प्रधानमन्त्री को अनिच्छा से ही उनके द्वारा चाहे हुए पद देने पड़ते हैं।

संसदीय मन्त्रिमंडल का कार्यकाल भी निश्चित नहीं होता। संसद उनको अविश्वास या निन्दा प्रस्ताव द्वारा या उसके आयव्ययक या अन्य महत्वपूर्ण विधेयक अस्वीकार करके पदच्युत कर सकती है। असन्तुष्ट वर्ग या नेता और

विरोधी दल सदैव संसद के इस अधिकार का लाभ उठाने का प्रयत्न किया करते हैं। इसलिए मन्त्रिपरिषद को अपने दल पर कठोर अनुशासन लागू करना पड़ता है। मन्त्रिपरिषद को भी अधिकांश संसदीय प्रणाली की सरकार वाले राज्यों में संसद के निम्न सदन का विघटन करके पुनर्निर्वाचन कराने का अधिकार होता है। इसलिए संसद का अधिकतम कार्यकाल निश्चित होने पर भी उसके निर्वाचन निश्चित समयों पर नहीं होते और मन्त्रिपरिषद का अधिकतम कार्यकाल संसद के कार्यकाल पर ही निर्भर रहता है।

मन्त्रिपरिषद के सदस्यों को अपना बहुत-सा समय संसद की बैठकों, दलीय कार्यवाही और निर्वाचन क्षेत्रों से सम्पर्क स्थापित रखने में देना पड़ता है। इसलिए वह अपने प्रशासनात्मक कार्यों में पर्याप्त समय नहीं दे पाते। उनकी नियुक्ति भी उनकी योग्यता और प्रशासन क्षमता के आधार पर न होकर उनकी दलीय स्थिति के आधार पर होती है। इसलिए मन्त्री प्रशासन कार्यों की अपेक्षा दलीय कार्यों को अधिक महत्व देते हैं। मन्त्रिपरिषद की भी स्थिति संसद में उसके दल की स्थिति पर निर्भर करती है। जिन देशों में द्विदल प्रणाली है उनमें मन्त्रिपरिषद अधिक शक्तिशाली होती है और बहुदल प्रणाली वाले देशों की मन्त्रिपरिषदों की स्थिति अपेक्षाकृत दुर्बल होती है। द्विदल प्रणाली में निर्वाचक स्वयं निश्चित करते हैं कि किस दल की सरकार बने। पर बहुदल प्रणाली में मन्त्रिपरिषद का निर्माण निर्वाचनोपरान्त होने वाले दलीय कपटोपायों पर आधारित रहता है। इसलिए जनता की इच्छा का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

संसदीय मन्त्रिपरिषद की व्यवस्था में मन्त्रिपरिषद के सदस्य संसद के सदस्य होते हैं। उसकी कार्यवाही में भाग लेते, उसका नेतृत्व करते और उस पर नियंत्रण रखते हैं। मन्त्रिपरिषद सामूहिक रूप से यह प्रयत्न करती है कि उसकी इच्छा के विरुद्ध न तो कोई विधेयक ही पास हो और न आयव्ययक में ही कोई वृद्धि या कमी की जाये। इसलिये विधायकी शक्ति भी मन्त्रिपरिषद में ही केन्द्रित हो जाती है। संसदीय मन्त्रिपरिषद प्रणाली के सिद्धान्तों के अनुसार संसद मन्त्रिपरिषद का नियंत्रण करती है पर कठोर दल अनुशासन और

मन्त्रिपरिषद् के संसद का विघटन करने के अधिकार के कारण वस्तुतः मन्त्रि-परिषद् संसद का नियंत्रण करती है और संसद के सारे अधिकार मन्त्रिपरिषद की इच्छानुसार प्रयोग होने लगते हैं। संसद का मुख्य कार्य मन्त्रिपरिषद को बनाना और उसे समर्थन देना होता है जिसमें भी वह स्वतन्त्र नहीं होती।

मंडलात्मक मन्त्रिपरिषद की स्थिति अध्यक्षात्मक और संसदीय मन्त्रि-परिषद् की स्थिति से भिन्न होती है। इसमें मन्त्रिपरिषद के सदस्य संसद द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं। उनका तथा संसद दोनों का कार्यकाल निश्चित होता है। संसद न तो मन्त्रिपरिषद को पदच्युत कर सकती है और न मन्त्रिपरिषद संसद को विघटित कर सकती है। मन्त्रिपरिषद के सदस्य संसद के सदस्य नहीं होते पर सदनों की बैठकों में उपस्थित होते हैं और मत देने के अतिरिक्त अन्य सभी कार्यवाहियों में भाग लेते हैं। मन्त्रिपरिषद का कोई प्रधानमन्त्री नहीं होता। कार्यवाही के संचालन के लिए सदस्य स्वयं एक अध्यक्ष चुन लेते हैं जिसका कार्यकाल एक वर्ष होता है। दूसरे वर्ष दूसरा सदस्य अध्यक्ष होता है। इस प्रकार अध्यक्ष पद सभी सदस्यों को नामाक्षर क्रम से बारी-बारी से मिलता है।

जापान की द्वितीय विश्व युद्ध पूर्व की मन्त्रिपरिषद्—जापान में मन्त्रि-परिषद् की सर्व प्रथम स्थापना दिसम्बर सन् १८८५ के सम्राटीय आदेश द्वारा हुई। मेइजी संविधान प्रवृत्त होने पर उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया। संविधान में मन्त्रियों का उपबन्ध था पर मन्त्रिपरिषद् का कोई वर्णन नहीं था। संविधान की प्रवृत्ति के दस मास पश्चात् पुनः एक सम्राटीय अध्यादेश द्वारा पूर्व मन्त्रिपरिषद् सम्बन्धी नियमों में परिवर्तन किया गया। इस प्रकार संयुक्त राज्य अमेरिका की भाँति जापान की मन्त्रि-परिषदीय पद्धति संविधानबाह्य थी। ब्रिटेन में स्वयं मन्त्रिपरिषद शब्द का प्रथम प्रयोग सन् १९०० में कामन्स सभा के सूचना-पत्र में किया गया और उसका दूसरा प्रयोग मिनिस्टर्स आफ क्राउन एक्ट में सन् १९३७ में किया गया। वहाँ अब तक मन्त्रि-परिषद वैधानिक स्थिति नहीं रखती है।

प्राचीन संविधान के अन्तर्गत मन्त्री सम्राट् के परामर्शदाता थे। वे अपना

परामर्श उसे व्यक्तिगत रूप में देते थे। उनका उत्तरदायित्व सामूहिक न होकर व्यक्तिगत था और वह उत्तरदायित्व यद्यपि सिद्धान्त रूप में सम्राट् के प्रति था पर व्यवहार रूप में वह शनैःशनै-संसद के प्रति हो गया। पर बहुदल प्रथा, भ्रष्टाचार, प्रशासकीय दबाव के कारण संसद मन्त्रियों पर नियंत्रण नहीं कर पाती थी और बहुधा मन्त्री संसद के बहुमत दल के सदस्य भी नहीं होते थे। प्रधानमन्त्री उसको नियंत्रण करने वाला प्रधान न था। वह उसके विभिन्न गुटों का मध्यस्थ मात्र था। सम्राट् वरिष्ट परिषद, मुद्राध्यक्ष (Lord keeper of the Privy Seal), सम्राट् परिवार मन्त्री तथा अन्य व्यक्तियों के परामर्श से प्रधानमन्त्री की नियुक्ति करता था। बहुधा प्रधानमन्त्री निम्न सदन के बहुमत दल का नेता भी न होता था। प्रधानमन्त्री विभिन्न दलों के गुटों, धनिक वर्ग तथा सेना की इच्छाओं को ध्यान में रखते हुए अन्य मन्त्रियों को नियुक्त करता था। युद्ध तथा जल सेना मन्त्री केवल लेफ्टीनेन्ट जनरल और वाइस एडमाइरल तथा इनसे उच्च पदों के सक्रिय सेवा के अधिकारी ही हो सकते थे। इन पदों पर नियुक्ति करते समय प्रधानमन्त्री सम्बन्धित सेना के उच्च अधिकारी संघ से परामर्श लेता था और वह संघ कभी-कभी अपने प्रतिनिधि की नामोदिष्टि न करके मन्त्रिपरिषद का संगठन करना असम्भव बना देते थे। ऐसी स्थिति में विवश होकर प्रधानमन्त्री को अपनी नामोदिष्टि अस्वीकार कर देनी पड़ती थी। कभी-कभी नियुक्ति के पश्चात् ये संघ अपने मन्त्रियों का प्रत्यावाहन करके मन्त्रिपरिषद को त्याग-पत्र देने को विवश कर देते थे। अंतरग परिषद और अभिजात सभा से संघर्ष हो जाने पर भी प्रधानमन्त्री को पद त्याग करना पड़ता था। निम्न सदन में कटु आलोचना होने पर और कभी-कभी आन्तरिक फूट पड़ जाने से भी मन्त्रि-परिषद को पद त्याग करना होता था। इन कारणों से मन्त्रि-परिषद की स्थिति अत्यन्त दुर्बल थी। अंतरंग परिषद, वरिष्ट परिषद, अभिजात सभा और सेना में शक्ति के विभाजन, और दलों की अधिकता के कारण मन्त्रि-परिषद कभी भी सरकार में अपना उचित स्थान ग्रहण न कर सकी और मन्त्री अपने विभागों के प्रशासकीय प्रधान ही बने रहे।

वर्तमान संविधान के अन्तर्गत मंत्रिपरिषद्—वर्तमान संविधान के

अन्तर्गत जापान की मंत्रिपरिषद की प्रकृति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हो गया था। मेइजी संविधान के अन्तर्गत मंत्रिपरिषद का कोई संवैधानिक स्थान न था। प्रत्येक मंत्री अपने विभाग का प्रशासनात्मक प्रधान और तद्सम्बन्धी विषयों में सम्राट् का परामर्शदाता था। कार्यपालिका शक्ति सम्राट् में निहित थी जिसका प्रयोग करते समय वह न केवल मंत्रियों से वरन् उसके अतिरिक्त अन्तरंग परिषद, सम्राट् परिवार मंत्री, वरिष्ट परिषद, सैनिक प्रधान कार्यालय और सम्राटीय सम्मेलन से परामर्श लेता था। इस प्रकार परामर्शदाताओं में भी मंत्रिपरिषद का स्थान गौण था। मंत्री अपने परामर्श के लिए सम्राट् के प्रति ही उत्तरदायी थे; परन्तु बाद की एक सम्राटीय आज्ञप्ति द्वारा वे प्रतिनिधि सभा के प्रति उत्तरदायी हो गया। पर प्रतिनिधि सभा स्वयं एक शक्तिहीन व्यस्थापिका सदन था जिसकी शक्ति को अभिजात सभा सन्तुलित करती थी। सम्राट् स्वयं सम्प्रभुता निहित था और संविधान के संशोधन के उपक्रम का अधिकार भी उसके आधीन था।

वर्तमान संविधान के अन्तर्गत इन सभी स्थितियों में परिवर्तन कर दिया गया है। मंत्रिपरिषद स्वयं संविधान पर आधारित निकाय है। मंत्री केवल अपने विभागों का प्रशासनात्मक प्रधान ही नहीं है वरन् सम्राट् द्वारा किए जाने को उल्लिखित कार्यों के सम्बन्ध वे सामूहिक रूप से अनन्य और निर्णायक 'परामर्शदाता' है। सम्राट् उनके परामर्श के विपरीत या उसके बिना स्वेच्छा से कोई कार्य नहीं कर सकता। कार्यपालिका शक्ति भी सम्राट् के स्थान पर अब मंत्रि-परिषद में निहित है। सम्राट् को परामर्श देने वाली अन्य संस्थाओं जैसे अन्तरंग परिषद, वरिष्ट परिषद, सम्राटीय सम्मेलन आदि का उन्मूलन कर दिया गया है। सम्राटीय गृह मंत्री अब मंत्रिपरिषद का अंग है। सैन्य विभाग की स्वतंत्रता का अन्त कर दिया गया है। कोई भी सैनिक कर्मचारी कभी भी मंत्रि-पद पर आसीन नहीं हो सकता। मंत्रि-परिषद अपने कार्यों के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी है। संसद के दोनों सदन जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। पर उसके अधिकारों में प्रतिनिधि सभा का स्थान प्रमुख है। जनता स्वयं अब संप्रभुतासिक्त है। सम्राट् अब केवल उसकी एकता का प्रतीक है। संविधान के संशोधन पर भी

अब सम्राट् का कोई अधिकार नहीं है। वह अब संशोधनों का औपचारिक प्रारूयापक रह गया है। जनता को अब स्वयं संशोधनों का अनुसमर्थन करने का अधिकार प्राप्त हो गया है।

मंत्रिपरिषद् का संगठन—संविधान के अनुच्छेद ६६ के अनुसार एक प्रधान मंत्री और विधि द्वारा उपबन्धित अन्य राज्य मंत्री होते हैं। प्रधानमंत्री उसका प्रधान होता है। राज्य मंत्रियों में कुछ मंत्री संविभागीय और कुछ असंविभागीय होते हैं। वर्तमान समय में १२ संविभाग हैं: (१) विदेशी विषय, (२) वित्त, (३) शिक्षा, (४) न्याय, (५) स्वास्थ्य और कल्याण, (६) कृषि व बन, (७) व्यापार और उद्योग, (८) यातायात, (९) डाक, (१०) श्रम, (११) निर्माण और (१२) प्रतिरक्षा अभिकरण। कभी-कभी एक मंत्री को एक से अधिक संविभाग दे दिए जाते हैं जबकि अन्य बहुत से मन्त्री असंविभागीय बने रहते हैं। जुलाई सन् १९६० में संगठित इकेदा मन्त्रिपरिषद में में कुल २२ मंत्री थे, जिनमें १० मंत्रियों में उपरोक्त १२ संविभाग विभाजित थे जबकि १२ मंत्री असंविभागीय थे। कुछ समय पश्चात् इस संख्या में परिवर्तन कर दिया गया और मार्च सन् १९६२ में कुल १७ मन्त्री थे जिनमें प्रधानमंत्री सहित १२ मन्त्री संविभागीय थे तथा शेष ५ मन्त्री असंविभागीय थे। असंविभागीय मंत्रियों में से एक को कभी-कभी उपप्रधानमंत्री के रूप में नामोदिष्ट कर दिया जाता है। मंत्रालयों के अतिरिक्त बहुत से मंडल (Boards) और निदेशालय (Directorates) होते हैं। इनका महत्व भी मंत्रालयों के समान ही माना जाता है। बहुत से असंविभागीय मंत्री इन मंडलों और निदेशालयों के प्रधान होते हैं। प्रत्येक मंत्री की सहायता के लिए तीन उप मंत्री (Vice-ministers) होते हैं। इनमें से एक प्रशासकीय कार्य में सहायता देता है। यह प्रायः भृत्य वर्ग का अधिकारी होता है पर यह स्थायी नहीं होता। अन्य दो संसदीय कार्य के सहायक होते हैं और इनमें से एक एक सदन से और दूसरा दूसरे सदन से सम्बद्ध होता है। संसदीय-उपमन्त्रियों के लिए अपने सदन का सदस्य होना आवश्यक है। सभी उपमंत्री मंत्रि-परिषद के साथ ही पद त्याग करते हैं। पद सोपान की दृष्टि से

प्रधान मंत्री के पश्चात् उपप्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषदीय निदेशालय का निदेशक (यदि वह मंत्रिपद का ही है), राज्य मंत्री और उपमंत्री आते हैं। उपमंत्रियों में प्रशासकीय उपमंत्रियों का महत्व संसदीय उपमंत्रियों से अधिक माना जाता है।

नियुक्ति—मंत्रिपरिषद की नियुक्ति प्रक्रिया दो भागों में विभाजित की जा सकती है : प्रथम प्रधानमंत्री की नियुक्ति, और द्वितीय, राज्य मंत्रियों की नियुक्ति।

प्रधानमंत्री की नियुक्ति—संविधान के अनुच्छेद ६७ में कहा गया है कि प्रधानमंत्री संसद सदस्यों में से संसद के एक प्रस्ताव द्वारा नामोदिष्ट किया जायेगा। उसका असैनिक होना आवश्यक है। यदि प्रतिनिधि सभा और पारिषद् सभा में इस सम्बन्ध में मतभेद हो और विधि द्वारा उपबन्धित संयुक्त समिति द्वारा भी समझौता नहीं हो पाता, या पारिषद् सभा प्रतिनिधि सभा द्वारा नामोदिष्टि कर देने के पश्चात् अपने अधिवेशन के १० दिनों में भी नामोदिष्टि करने में असफल होती है, तो प्रतिनिधि सभा का निर्णय ही अन्तिम माना जायेगा। नामोदिष्ट व्यक्ति को सम्राट् औपचारिक रूप से नियुक्त करता है। प्रत्येक सदन नामोदिष्टि निर्वाचन द्वारा करता है। जो सदस्य दोनों सदनों में अपेक्षाकृत बहुसंख्यक मत प्राप्त करता है वही व्यक्ति उस सदन के प्रस्ताव द्वारा नामोदिष्ट माना जाता है। दोनों सदनों में नामोदिष्टि के सम्बन्ध में प्रथम मतभेद फर्वरी सन् १९४६ में कातायामा द्वारा प्रधानमंत्री का पदत्याग कर देने पर हुआ। प्रतिनिधि सभा ने अशीदा हितोशी को नामोदिष्ट किया पर पारिषद् सभा में योशीदा ने दो मत अधिक पाये। अन्त में संयुक्त समिति में अशीदा ही नामोदिष्ट हुआ।

प्रधानमंत्री के निर्वाचन के सम्बन्ध में तीन आलोचनाएँ की जाती हैं। सर्व प्रथम, प्रधानमंत्री का सम्राट् के द्वारा मनोनयन होने के स्थान पर निर्वाचन होने से कभी-कभी बहुमत दल के लोकप्रिय नेता के स्थान पर कपटोपायों में निपुण व्यक्ति प्रधानमंत्री चुन जाता है। साथ ही ऐसे कार्यों से दल में इतनी फूट पड़ जाती है कि बाद में मंत्रिपरिषद एक होकर कार्य नहीं कर पाती और इससे सरकार में स्थायित्व और शक्ति दोनों ही कम हो जाती हैं।

द्वितीय, जिस अधिकारी को केवल प्रतिनिधि सभा पदच्युत कर सकती है उसके निर्वाचन में पारिषद् सभा द्वारा भाग लेना ठीक नहीं। तृतीय, जो अधिकारी राज्य की महत्वपूर्ण शक्तियाँ प्रयोग करता है और प्रतिनिधि सभा को भंग कर सकता है उसे साधारण अपेक्षाकृत बहुसंख्यक मतों से निर्वाचित करना ठीक नहीं। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि जनता के सर्वोच्च अधिकारी की नियुक्ति में जनता का कोई भाग नहीं है। इस त्रुटि को दूर करने के लिए प्रधानमंत्री के जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन की सलाह दी जाती है।

यह अन्तिम आलोचना और सुझाव उचित प्रतीत नहीं होता। प्रधान-मंत्री का स्वयं संसद सदस्य होना आवश्यक है। संसद के सभी सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं। प्रधानमंत्री एक सदस्य के रूप में एक निर्वाचन क्षेत्र की जनता द्वारा निर्वाचित होता है और बाद में प्रधानमंत्री के रूप में जनता के ही प्रतिनिधि उसे चुनते हैं। जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन होने पर प्रतिनिधि सभा का अविश्वास प्रस्ताव अधिकार स्थितिसंगत न रहेगा और उसके न रहने पर गति रोध होने का भय रहेगा। जापान की परम्पराओं में शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त का आंशिक आरोपण वान्छनीय नहीं प्रतीत होता है। प्रथम आलोचना में भी बल प्रतीत नहीं होता। जहाँ भी वंशानुगत राज्य-प्रधान प्रधानमंत्री की नियुक्ति करता है या तो वह निम्न सदन की नामोदिष्टि पर, चाहे वह औपचारिक हो या अनौपचारिक, ही करता है और यदि वह उसमें स्वयं विवेक का प्रयोग करता है तो उसे बुरा माना जाता है। क्योंकि स्वयं विवेक प्रयोग करते समय आशंका इसी बात की अधिक है कि राज्य-प्रधान उचित अनुचित और लोकप्रियता तथा लोकाप्रियता के स्थान पर स्वप्रियता और स्वाप्रियता को अधिक महत्व देगा। शासन के ऊपर राज्य-प्रधान का प्रभाव प्रधानमंत्री के व्यक्तित्व पर निर्भर होने के कारण इसका अवसर अपेक्षाकृत अत्यधिक है कि वह निम्न व्यक्तित्व के व्यक्ति को प्रधानमंत्री पद के लिए मनोनीत करे। दूसरी और तीसरी आलोचनाएँ उचित प्रतीत होती हैं। संसदीय मंत्रिपरिषद निम्न सदन द्वारा ही पदच्युत की जाती है। अतः उसके निर्वाचन में उच्च सदन का भाग स्थितिसंगत नहीं प्रतीत होता। साथ

ही इससे एक अन्य दोष यह उत्पन्न हो जाता है कि प्रधानमंत्री पद के पदाभिलाषी को द्वितीय सदन पर भी अपना दलीय नियंत्रण स्थापित करना पड़ता है। यही कारण है कि पारिषद् सभा में एक निर्दलीय सदन प्राप्त करने की उच्च आशा और अनुकूल पृष्ठ भूमिक परम्परा होने पर भी वह दल निष्ठा में निम्न सदन से भिन्न स्थिति में नहीं है। इस पद्धति की अप्रयोगिकता का पूरा अनुभव इसलिए भी नहीं हो सका है कि जापान में अब तक बहुदल प्रथा रही है। इस कारण सरकार निर्माणक संयुक्त संगठन की दोनों सदनों में लगभग समान स्थिति रही है। पर यदि किसी समय एक सदन में एकदल का और दूसरे सदन में दूसरे दल का बहुमत हो गया तो पारिषद् सभा केवल विलम्बात्मक सदन ही रह जायेगा और नामोदिष्टि प्रतिनिधि सभा द्वारा ही होगी। यह भी उचित प्रतीत होता है कि प्रधानमंत्री की नामोदिष्टि साधारण बहुमत के स्थान पर पूर्ण बहुमत से हो। पूर्ण बहुमत की व्यवस्था तो अब भी करनी पड़ती है, क्योंकि इसके अभाव में मंत्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास हो जायेगा। पर वतर्मान काल के बहुमत के पीछे विघटन भय का साधन अधिक मात्रा में कार्य करता है। पर पूर्व-निर्वाचन बहुमत प्राप्ति की आवश्यकता भय के स्थान पर सहयोग की वृद्धि करेगी, चाहे वह सहयोग क्रय किया हुआ ही क्यों न हो। जापान में क्रयित सहयोग अब भी प्रर्याप्त मात्रा में हैं। मंत्रिपरिषद की विशालता, सरकारी शिष्ट मंडलों की अधिकता, संसद सदस्यों का अन्य विभिन्न लाभ के पदों पर कार्य करना इस क्रयांश के ही परिचायक हैं। नामोदिष्टि के लिए पूर्ण बहुमत की आवश्यकता से दलों की गुटबन्दी हतोत्साहित होगी और दलों में स्थायी एकता की अभिवृद्धि होगी।

राज्य-मन्त्रियों की नियुक्ति—प्रधानमंत्री के अतिरिक्त अन्य मंत्रियों को जापान में राज्यमंत्री (minister of state) कहा जाता है। राज्य मन्त्रियों की नियुक्ति प्रधानमन्त्री स्वयं करता है और सम्राट् उनकी नियुक्ति को प्रमाणित (attest) करता है। संविधान राज्य मन्त्रियों की संख्या निर्धारित नहीं करता। एक संसदीय विधि द्वारा उनकी अधिकतम संख्या १६ निश्चित कर दी गयी थी पर अब वह सीमा समाप्त कर दी गयी है। मन्त्रियों की नियुक्ति पर भी प्रधान-

मन्त्री के समान ही कुछ प्रतिबन्ध है। सभी मन्त्रियों का असैनिक होना आवश्यक है। साथ ही मन्त्रियों की कुल संख्या के आधे से अधिक संसद सदस्यों में से चुना जाना चाहिए। राजनैतिक आवश्यकताओं के कारण प्रारम्भ से ही असंसदीय मन्त्रियों की संख्या अत्यन्त कम रही है और बाद में तो कुछ मन्त्रि-परिषदों में एक भी बाहरी व्यक्ति सम्मिलित नहीं किया गया। इसी प्रकार पारिषद् सभा को भी मन्त्रि-परिषद में अत्यन्त ही कम प्रतिनिधित्व मिलता रहा है और बाद की कुछ मन्त्रि-परिषदों में उसे भी एक भी स्थान नहीं दिया गया। इकेदा मन्त्रिमण्डल के १७ मन्त्रियों में ३ व्यक्ति पारिषद् सभा के और शेष प्रतिनिधि सभा के सदस्य थे। मन्त्रियों की नियुक्ति एक अत्यन्त जटिल कार्य होती है। नियुक्त प्रधानमन्त्री के दल का प्रतिनिधि सभा में बहुमत हो न हो, जापान के राजनैतिक दलों की आन्तरिक गुटबन्दी के कारण उसे दल के विभिन्न क्षेत्रीय और आर्थिक हितों तथा विश्वासपात्र अनुयायियों को प्रसन्न करना पड़ता है, चुनाव में धन सम्बन्धी सहायता देने वाले पूँजीपतियों को सन्तुष्ट करना पड़ता है, और ऐसे व्यक्तियों को भी स्थान देना पड़ता है जिन्हें सम्मिलित न करने पर वह दल में संकट उत्पन्न कर सकते हैं। जापान की राजनीति पर धन का प्रभाव अधिक होने के कारण इन सभी प्रभावों में पूँजीपतियों जैसे बैङ्कों, कारखानों और मिलों के मालिकों का प्रभाव सबसे अधिक होता है और कभी-कभी कुल मन्त्रिपरिषदीय स्थानों में तिहाई से अधिक स्थान ऐसे व्यक्तियों के प्रतिनिधि ही ले जाते हैं। कोई-कोई व्यक्ति तो किसी संविभाग विशेष के देने के वचन पर ही मन्त्रि परिषद में सम्मिलित होता है।

सभी प्राप्त सूचनाओं के अनुसार वर्तमान सम्राट ने कभी मन्त्रियों की नियुक्ति में हस्तक्षेप या उन्हें प्रभावित करने का प्रयत्न नहीं किया है और न संविधान के वर्तमान उपबन्धों के अन्तर्गत इसके लिए कोई अवसर ही प्रतीत होता है। पर कुछ लोगों का मत है कि सम्राट् नियुक्तियाँ प्रमाणित करने के समय पर ऐसा करने का अवसर पा जाता है।

मन्त्रिपरिषद का कार्यकाल—संविधान द्वारा मन्त्रिपरिषद का कार्यकाल निश्चित नहीं है पर प्रतिनिधि सभा के प्रत्येक महानिर्वाचन के पश्चात्

प्रथम अधिवेशन में उसका त्याग पत्र देना आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि एक मन्त्रिपरिषद का अधिकतम कार्यकाल चार वर्ष के लगभग हो सकता है। पर उसकी पुनर्नियुक्ति पर कोई परिसीमन नहीं है और एक मन्त्रिपरिषद उस समय तक पदासीन रह सकती है जब तक कि उसे प्रतिनिधि सभा और जनता का विश्वास प्राप्त है। संविधान के अनुच्छेद ६६ में उपबन्धित है कि जब प्रतिनिधि सभा एक अविश्वास का प्रस्ताव पास करती है या एक विश्वास का प्रस्ताव अस्वीकार करती है तो, यदि दस दिनों के अन्दर ही प्रतिनिधि सभा भंग नहीं कर दी जाती, मन्त्रिपरिषद सामूहिक रूप से त्याग पत्र दे देगी। पर जब तक नया प्रधान-मन्त्री नहीं नियुक्त होता, मन्त्रिपरिषद कार्य करती रहती है और यदि वही व्यक्ति पुनः प्रधानमन्त्री नियुक्त कर दिया जाता है तो वह अपने सह-योगियों को पुनः नियुक्त कर सकता है। मन्त्रिपरिषद में एकता न होने पर भी वह अधिक दिन तक कार्य नहीं चला सकती और उसे पद त्याग करना ही पड़ता है।

संविधान के अनुसार प्रतिनिधि सभा द्वारा अविश्वास प्रस्ताव पास करने पर या विश्वास प्रस्ताव अस्वीकार करने पर ही मन्त्रिपरिषद को प्रतिनिधि सभा भंग करना या अपना पद त्याग करना आवश्यक है। इससे स्पष्ट है कि सरकार द्वारा प्रस्तावित विधेयक या बजट की अस्वीकृति या बजट में माँगी गयी धनराशि में संसद द्वारा कटौती करने पर मन्त्रिपरिषद को पद त्याग करना आवश्यक नहीं है। पर संसद द्वारा मन्त्रिपरिषद के प्रमुख विधेयक अस्वीकार हो जाने पर मन्त्रिपरिषद अधिक समय तक कार्य-भार वहन नहीं कर सकती है। अस्वीकृति स्वयं ही विश्वास के अभाव का ही लक्षण है। इसलिए संविधान द्वारा आवश्यक न होने पर भी मन्त्रिपरिषद अपने विधेयकों और बजट की अस्वीकृति पर पद त्याग कर देती है। पर जापान में बजट में माँगी गयी धनराशि में परिवर्तन कर देने पर मन्त्रिपरिषद पद त्याग नहीं करती।

जापान में भारत की भाँति सामूहिक उत्तरदायित्व (Collective responsibility) सिद्धान्त लागू है। इसलिए प्रधानमन्त्री की मृत्यु हो जाने, उसके द्वारा पद त्याग कर देने से, या किसी अन्य कारण से प्रधानमन्त्री का

पद रिक्त हो जाने पर मन्त्रिपरिषद को सामूहिक रूप से त्याग पत्र देना होता है (अनुच्छेद ७०)। फिर भी नये प्रधानमन्त्री के निर्वाचन और सम्राट् द्वारा उसकी औपचारिक नियुक्ति तक वह उप-प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में कार्य संचालन करती रहती है। त्याग-पत्र की स्थिति में संसद द्वारा नये प्रधानमन्त्री की नामोदिष्टि हो जाने पर नामोदिष्ट व्यक्ति द्वारा अनौपचारिक रूप में अपनी मन्त्रिपरिषद का संगठन कर लेने पर बाह्यगामी प्रधानमन्त्री अपनी मन्त्रिपरिषद की अन्तिम बैठक करता है और सम्राट् को नये प्रधानमन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में मंत्रणा देता है। सम्राट् द्वारा नयी मन्त्रिपरिषद की नियुक्ति के अनुसमर्थन के समय पूर्ववर्ती और नवीन दोनों मन्त्रिपरिषदों के व्यक्ति एकत्र होते हैं।

प्रधानमन्त्री अपने त्याग-पत्र की सूचना संसद के दोनों सदनों को देता है। उसे इस तथ्य की सूचना सम्राट् को देना केवल अनावश्यक ही नहीं है वरन् इसे संवैधानिकता के प्रतिकूल भी माना जाता है। फरवरी सन् १९४८ में जब कातायामा ने अपने त्याग-पत्र की सूचना सम्राट् को दी तो इसे राजतंत्रीय परम्परा का प्रतीक बताकर कटु आलोचना की गयी। नवीन मन्त्रिपरिषद की औपचारिक नियुक्ति हो जाने पर भूतपूर्व प्रधानमन्त्री नियुक्ति तथ्य की सूचना संसद को देकर मन्त्रिपरिषद के परिवर्तन का वृत्त पूरा करता है।

एक ही प्रधानमन्त्री के कार्यकाल में कई मन्त्रिपरिषदों का परिवर्तन हो सकता है। १९ अक्टूबर सन् १९४८ से ७ दिसम्बर सन् १९५४ के अपने सवा छः वर्षों के प्रधानमन्त्रित्व काल में योशीदा शिगेरु ने चार मन्त्रिपरिषदें बनायीं और उसके पश्चात् ९ दिसम्बर सन् १९५४ से २२ नवम्बर सन् १९५५ तक के एक वर्ष से भी अल्प के प्रधानमन्त्रित्व में हातोयामा इचिरो ने तीन मन्त्रिपरिषदें बनायीं।

जापान में मन्त्रि-परिषद के सदस्यों में बार-बार परिवर्तन होता रहता है और इस परिवर्तन के कई कारण बताए जाते हैं। सर्व प्रथम कारण तो यह कहा जाता है कि जापान में मन्त्री का पद जनता में बड़ा ही सम्मानपूर्ण समझा जाता है। यदि एक व्यक्ति एक बार केवल कुछ समय के लिए ही मन्त्री बन जाता है तो वह आजीवन सम्मान पाता रहता है। इसलिए प्रत्येक महत्वाकांक्षी

व्यक्ति अपने दल के नेताओं और प्रधानमन्त्री पर निरन्तर दबाव डालता है कि उसे वह एक बार कुछ समय के लिए ही मन्त्री बना ले। ऐसी स्थिति में, मन्त्रियों के पदों की संख्या सीमित होने के कारण, जब किसी नवीन व्यक्ति को मन्त्रि-पद पर नियुक्त करना होता है तो किसी पूर्व मन्त्री को पदच्युत करना पड़ता है। द्वितीय कारण जापान की बहुदल प्रथा बतलायी जाती है। बहुदल प्रथा के कारण दलों के संयुक्त-संगठनों में परिवर्तन होता रहता है जिससे मन्त्रि-परिषदों के संगठनों में परिवर्तन होता रहता है। तृतीय, जापान में दलाभ्यान्तर संघर्ष की तीव्रता है और सिद्धान्तवादिता की कमी है। इस दुर्बलता के कारण भी मन्त्रिपरिषदों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। चतुर्थ "ऐसे मन्त्रीय परिवर्तन प्रधान मन्त्री को अपदस्थ करने की शक्ति के वास्तविक प्रयोग या धमकी के कारण संभव या सरल हो गये हैं।"[1] कुछ भी हो ऐसे परिवर्तनों से प्रशासन का स्थायित्व और कुशलता नष्ट होती है और कार्यपालिका सरकार पर भृत्यवर्गीय और दलीय दबाव बढ़ता है।

मन्त्रि-परिषद् के कार्य और अधिकार—संसदात्मक सरकार को मन्त्रि-परिषद् के रूप में जापान की मन्त्रिपरिषद् को अनेक प्रकार के कार्य करने के अधिकार प्राप्त हैं। वर्णन को सुगमता की दृष्टि से इन अधिकारों को निम्नाङ्कित शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है :

अ—कार्यपालिका सम्बन्धी	उ—न्यायपालिका सम्बन्धी
आ—प्रशासन सम्बन्धी	ऊ—विदेशी विषय सम्बन्धी
इ—व्यवस्थापिका सम्बन्धी	ए—सेना और संकटकालीन स्थिति सम्बन्धी
ई—वित्त सम्बन्धी	ऐ—विविधि

अ—कार्यपालिका सम्बन्धी—'कार्यपालिका' शब्द की परिभाषा करना कठिन है। पर ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि यह वह अधिकार

---

1. Such ministerial resuffles have been made possible or easy by actual or threatend exercise of the Prime Minister's dismissing power". *Report of the (Cabinet) Commission on the Constitution*, 1961, Ch. V. p. 7.

है जिसे 'कार्यपालन' शब्द से सीमित नहीं किया जा सकता। हमारे देश के न्यायालयों ने कार्यपालिका अधिकार को अवशिष्ट प्रकृति का बतलाया है। अर्थात्, जो अधिकार व्यवस्थापिका और न्यायपालिका संस्थाओं के अधिकार क्षेत्र में नहीं हैं वह कार्यपालिका अधिकार कहे जा सकते हैं। इस दृष्टि से जो कार्य संविधान के प्रतिकूल नहीं है वह कार्यपालिका के अधिकार में है। फिर भी, कार्यपालिका के रूप में मन्त्रिपरिषद के दो प्रमुख कार्य हैं; प्रथम, विभिन्न प्रश्नों पर राष्ट्र की नीति निश्चित करना; और द्वितीय, संसद की स्वीकृति के पश्चात् उसे कार्यान्वित करना। जापान के संविधान की यह एक विशेषता है कि वह कार्यपालिका अधिकार को राज्य के प्रधान में निहित न करके सरकार के प्रधान में निहित करता है। अनुच्छेद ६५ घोषित करता है: "कार्यपालिका शक्ति मन्त्रिपरिषद में निहित होगी।" पर कार्यपालिका शक्ति को पूर्ण या अनन्य रूप में मन्त्रिपरिषद में निहित नहीं किया गया है। जब कि संसद को "अनन्य विधि-निर्मात्री अवयव" (the sole law-making organ) कहा गया है और न्यायालयों को "सम्पूर्ण-न्यायिक शक्ति" (the whole judicial power) दी गयी है, मन्त्रिपरिषद को केवल 'कार्यपालिका' शक्ति दी गई है। 'कार्यपालिका' शब्द के पूर्व अनन्य (sole) और सम्पूर्ण (whole) शब्दों का अभाव साभिप्राय प्रतीत होता है। जापान के शासन में राष्ट्रीय कार्मिक शक्ति (The National Personnel Authority) साम्य व्यापार आयोग (Fair Trade Commission) राष्ट्रीय सार्वजनिक सुरक्षा आयोग (The National Public Safety Commission) ऐसे कई स्वतन्त्र प्रशासकीय अभिकरण स्थापित हैं जो संयुक्त राज्य अमरीका की भाँति कार्यपालिका शक्ति के क्षेत्राधिकार के बाहर हैं। यह संस्थाएँ अर्द्ध न्यायिक और अर्द्ध प्रशासकीय हैं इसलिए उनका कार्यपालिका के राजनैतिक प्रभाव से मुक्त रहना ही उचित है। पर संविधान में इस सम्बन्ध में अधिक स्पष्टता आवश्यक है। कुछ विद्वानों का मत है कि संविधान मन्त्रिपरिषद को अनन्य कार्यपालिका अधिकार प्रदान करता है और स्वतन्त्र प्रशासकीय अभिकरणों का संगठन संविधान की प्रकृति के ही विपरीत है।

कार्यपालिका अधिकार के अन्तर्गत मंत्रिपरिषद संविधान तथा विधियों को प्रवृत्त करने के लिए मंत्रिपरिषदीय आज्ञाएँ दे सकती है पर बिना विधीय आज्ञा के उनमें दंडीय उपबन्ध नहीं हो सकते हैं।

प्रशासन सम्बन्धी—प्रशासन के सबन्ध में मंत्रि-परिषद को मुख्य चार प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं :

(१) सामान्य प्रशासकीय कार्यों का सम्पादन,

(२) विधियों का प्रशासन,

(३) राज्य विषयों का वाहन, और

(४) लोक सेवा का प्रशासन ।

मंत्रि-परिषद के सदस्य विभिन्न संविभागों, मंडलों और आयोगों के प्रधान होते हैं और वह मंत्रि-परिषद की देख-रेख में उसके प्रशासन का संचालन करते हैं। साधारण विषयों पर वह स्वयं ही निर्णय लेते हैं, कुछ महत्वपूर्ण विषयों पर प्रधानमंत्री को सूचित करना होता है और प्रधानमंत्री चाहे तो निजी परामर्श से उस पर कार्यवाही करने की आज्ञा दे दे या उसे मंत्रिपरिषद के विचार के लिए उसकी बैठक में उपस्थित कराये। जो विषय दो या अधिक मंत्रियों के अधिकार क्षेत्रों से सम्बन्धित होते हैं उन पर मंत्रि-परिषद द्वारा विचार होना आवश्यक है। इस प्रकार मंत्रि-परिषद का मुख्य कार्य विभिन्न प्रशासन संस्थाओं के कार्यों में सामञ्जस्य स्थापित करना है और उनको आवश्यकतानुसार समन्वित करना है।

विधियों का निर्माण हो चुकने के पश्चात् उनको कार्यान्वित करने के पूर्व यह निश्चय करना पड़ता है कि उन्हें प्रशासित कैसे किया जाय, उसके कौन-कौन से कार्य किस प्रशासन संस्था को दिए जायँ ? उसके विभिन्न अनुच्छेदों के लिए कौन-कौन पूरक नियम बनाये जायँ ? इन सारे कार्यों को मंत्रि-परिषद ही करती है। विधि को प्रवृत्त कर देने के पश्चात् वह समय-समय पर उसकी कार्य प्रणाली पर विचार करती है और प्रशासन करने वाले अधिकारियों के उत्तरदायित्वों में और पूरक नियमों में परिवर्तन करती है।

राज्य विषयों के प्रशासन के अन्तर्गत राज्य में शान्ति और व्यवस्था स्थापित

रखना और राजकीय उद्योगों (State enterprizes) का संचालन करना आता है। शान्ति और व्यवस्था का कार्य पुलिस से सम्बन्ध रखता है। पुलिस विभाग इस समय एक राष्ट्रीय लोक सुरक्षा आयोग (the National Safety Commission) और राष्ट्रीय पुलिस मंडल (National Police Board) द्वारा संचालित होता है। राष्ट्रीय लोक सुरक्षा आयोग एक राज्य मंत्री के आधीन है। आयोग पुलिस मंडल के प्रधान को नियुक्त करता है। यह मंडल ही पुलिस विभाग का प्रशासन करता है। बहुत से संविभागों के अन्तर्गत राजकीय उद्योगों की स्थापना है। इन उद्योगों का प्रशासन इन विभागों द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त राज्य की ओर से अन्य कई प्रकार की सेवाएँ की जाती हैं जिनमें अधिकांश का प्रशासन स्थानीय निकायों द्वारा होता है और केन्द्रीय मंत्रिपरिषद केवल उनका स्तर-स्थापन करती तथा देख-रेख करती है। कुछ सेवाएँ केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रत्यक्ष रूप से की जाती हैं और इनकी विस्तृत व्यवस्था मन्त्रि परिषद द्वारा ही होती है।

लोक सेवा के प्रशासन का भार भी मन्त्रि-परिषद पर ही है। देश की राष्ट्रीय वैयक्तिक शक्ति (the National Personnel Authority) के सदस्य मन्त्रिपरिषद ही नियुक्ति करती है। देश की नियमित सेवाओं के कर्मचारी इस शक्ति द्वारा ही भर्ती किए जाते हैं। विशिष्ट सेवाओं के कर्मचारी जैसे न्यायाधीश, वैयक्तिक शक्ति के सदस्य, राजदूत, इत्यादि की नियुक्ति मन्त्रि-परिषद ही करती है। संविभागीय नियुक्तियाँ मन्त्री स्वयं करते हैं। नियुक्ति पर संसद के किसी सदन का नियन्त्रण नहीं है। न्यायाधीशों और कार्मिक शक्ति के सदस्य के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों को नियुक्त करने वाला अधिकारी नियमानुसार पदच्युत भी कर सकता है।

इ—व्यवस्थापिका सम्बन्धी—व्यवस्थापिका के सम्बन्ध में जापान की मंत्रिपरिषद को कई प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं जिनमें निमाङ्कित अधिकार प्रमुख हैं :—(१) सत्राह्वान करना, (२) उद्‌घाटन कराना, (३) विधायकी कार्यवाही में भाग लेना, (४) प्रतिनिधि सभा को भंग करना, (५) मंत्रि-परिष्-दीय आज्ञाएँ देना।

संसद के चार प्रकार के सत्र होते हैं। प्रथम, साधारण सत्र, जिसका आह्वान प्रति वर्ष एक बार सम्राट् द्वारा किया जाता है। द्वितीय, असाधारण सत्र का आह्वान मंत्रि-परिषद करती है। तृतीय, विशेष सत्र का आह्वान भी सम्राट् के नाम से होता है। चतुर्थ, आपदकालीन पारिषद् सभा का सत्र मंत्रि-परिषद द्वारा ही आहूत होता है। सम्राट् द्वारा संसद के उद्घाटन का समय भी मंत्रि-परिषद् ही निश्चित करती है और उद्घाटन में सम्राट् मंत्रि-परिषद द्वारा तैयार किए अभिभाषण को पढ़ता है। मंत्रि-परिषद के सदस्यों को संसद में उपस्थित होने का अधिकार है। प्रधान मंत्री उसका प्रतिनिधित्व करता हुआ ही विधेयक प्रस्तुत करता है। मंत्री सदनों में वाद-विवाद में भाग लेते हैं और प्रश्नों का उत्तर देते हैं। वे सदनों के सदस्य होते हैं और अपनी सदस्यता वाले सदन में वह मतदान भी कर सकते हैं।

अनुच्छेद ६९ के अनुसार अविश्वास प्रस्ताव पास करने पर या विश्वास प्रस्ताव अस्वीकार करने पर मंत्रिपरिषद स्वयं पदत्याग करने के स्थान पर स्वयं प्रतिनिधि सभा का विघटन करा कर पुनर्निर्वाचन करा सकती है। पर सन् १९४८ में प्रधानमंत्री यशीदा ने बिना अविश्वास प्रस्ताव के ही सम्राट् से विघटन की उद्घोषणा अध्यक्ष के पास भिजवा दी। सदस्यों द्वारा उद्घोषणा की वैधानिक को चुनौती देने पर उसने कपटोपाय द्वारा एक अविश्वास प्रस्ताव भी पास करा दिया। उस समय से मंत्रिपरिषद ने बिना अविश्वास प्रस्ताव के ही प्रतिनिधि सभा को अनेकों बार भंग किया है। सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष इसकी वैधानिकता को चुनौती देने पर उसने इस विवाद को राजनैतिक कह कर इस पर अपना मत देने से इन्कार कर दिया है। अब तो मंत्रिपरिषद द्वारा किसी भी समय प्रतिनिधि सभा का विघटन कर देने का अभिसमय बन गया है।

जापान के संसद के 'अनन्य' विधि निर्मात्री संस्था होने के कारण हस्तान्तरित विधायन (Delegated Legislation) की समस्या विवादमय है पर अनुच्छेद ७३ की कंडिका ६ के अन्तर्गत संविधान और विधियों को प्रवृत्त करने के लिए मन्त्रिपरिषद को आज्ञा देने का स्पष्ट अधिकार है और यह अधिकार हस्तान्तरित विधायन से भी अधिक वृहद् है। हातोयामा मन्त्रिपरिषद द्वारा

पदक सम्बन्धी अध्यादेश प्रवृत्त करने पर इस प्रकार की मन्त्रि परिषदीय आज्ञाओं की संवैधानिकता पर विवाद उठा। पर मन्त्रिपरिषद का यह दृष्टिकोण है कि वह ऐसे अध्यादेश प्रवृत्त कर सकता है जो प्रक्रिया सम्बन्धी हों और जिनसे जनता के अधिकार और कर्त्तव्य प्रभावित न होते हों।

ई. वित्त सम्बन्धी—प्रशासन का संचालन करने वाली सर्वोच्च संस्था के रूप में मन्त्रिपरिषद को आय-व्ययक तैयार करने और उसे संसद के समक्ष प्रस्तुत करने का अधिकार है। संसद उस पर विचार करती है और उसमें माँगी गयी धनराशि की कमी और वृद्धि भी करती है। पर वृद्धि करने वाले प्रस्ताव का उपक्रम प्रतिनिधि सभा में कम से कम ५० सदस्य और पारिषद् सभा में कम से कम २० सदस्य ही कर सकते हैं। मन्त्रिपरिषद को ऐसे प्रस्ताव पर अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का भी अवसर दिया जाता है। यदि नये माली वर्ष के प्रारम्भ होने तक आयव्ययक संसद् द्वारा पारित नहीं होता तो मंत्रिपरिषद कुछ समय के लिए अस्थायी आय-व्ययक प्रस्तुत कर सकती है। अज्ञात कार्यों के लिए आवश्यक धन के अभाव को मन्त्रिपरिषद सुरक्षित निधि से पूरा कर सकती है और बाद में संसद की स्वीकृति प्राप्त कर सकती है (अनु० ८७)। वह नियमित समयों पर और वर्ष में कम से कम एक बार राष्ट्रीय वित्तीय स्थिति के बारे में संसद और जनता को सूचित करती है (अनु० ९१)। वह राज्य के व्ययों और राजस्वों के अन्तिम लेखा को लेखा परीक्षा मंडल द्वारा परीक्षा कराती है और उसके परीक्षा-विवरण को संसद के समक्ष प्रस्तुत कराती है (अनु० ९०)। यद्यपि संविधान के अनुसार आयव्ययक की संसद द्वारा अस्वीकृति हो जाने पर मन्त्रि परिषद को पद त्याग करना आवश्यक नहीं है पर संसदीय मन्त्रि-परिषद प्रणाली का अनुसरण करते हुए मन्त्रि परिषद पद त्याग कर देती है।

उ. न्यायपालिका सम्बन्धी—जापान में न्यायिक पृथक्करण होने के कारण मन्त्रिपरिषद को देश की न्याय व्यवस्था के सम्बन्ध में कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं है पर फिर भी न्यायिक संगठन में उसका हाथ है। सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को वह सम्राट् के द्वारा औपचारिक नियुक्ति के

लिए नामोदिष्ट करती है और अन्य न्यायाधीशों को वह स्वयं नियुक्त करती है। उच्च न्यायालयों के अध्यक्षों और न्यायाधीशों, जिला न्यायालयों के न्यायाधीशों और सहायक न्यायाधीशों और शीघ्र निर्णायक न्यायालयों के न्यायाधीशों को मन्त्रिपरिषद तद्विषयक योग्य व्यक्तियों की सर्वोच्च न्यायालय द्वारा तैयार की गई नामावलियों में से नियुक्त करती है। यह सभी नियुक्तियाँ केवल दस वर्ष के लिए ही होती हैं और मन्त्रिपरिषद स्वेच्छा से उनको पुनः नियुक्त कर सकती है।

मन्त्रिपरिषद को संविधान के अनु० ७३ (७) के अन्तर्गत न्यायालयों द्वारा दण्डित किये गये व्यक्ति के अपराध को क्षमा करने, दण्ड को स्थगित करने, उसे कम करने और क्षमा करने तथा अपराधियों के अधिकारों को पुनर्स्थापित करने के सम्बन्ध में भी निश्चय करने का अधिकार है। व्यक्ति समूहों को क्षमा-आज्ञा मन्त्रिपरिषद द्वारा ही दी जाती है पर व्यक्ति को तत्सम्बन्धी सूचना न्याय मन्त्री दे देता है। अपराधी अपने प्रार्थना-पत्र अभियोक्ता या जेल अधिकारी द्वारा न्यायमन्त्री के पास भेजते हैं। उन पर न्याय मन्त्री, महाभियोक्ता, दो अन्य मन्त्रियों, चार अनुभवी नागरिकों की एक समिति विचार करती है और अपनी संस्तुति मन्त्रि-परिषद को देती है। उन पर अन्तिम निर्णय मन्त्रिपरिषद लेती है।

ऊ. विदेशी विषय सम्बन्धी—संविधान के अनुच्छेद ७३ (२) के अन्तर्गत मन्त्रिपरिषद का कार्य विदेशी विषयों का प्रशासन करना है। इसी अनुच्छेद की तृतीय कंडिका उसे सन्धि करने का अधिकार देती है। पर सन्धियों पर परिस्थिति के अनुसार संसद का पूर्व या परवर्ती अनुमोदन प्राप्त करना आवश्यक है। मन्त्रि-परिषद दो प्रकार की सन्धियाँ करती है : प्रथम सन्धियाँ (Treaties); और द्वितीय, प्रशासकीय समझौते। दोनों में भेद करना कठिन है। साधारणतया यह कहा जाता है कि सन्धि पूर्ववर्ती विधियों में अपनी प्रतिकूलता की सीमा तक संशोधन कर सकती है पर समझौता संसदीय विधायकी और बजट अधिकार को प्रभावित नहीं कर सकता। सन्धियों के लिए संसदीय स्वीकृत ली जाती है पर प्रशासकीय समझौतों के लिए स्वीकृति लेना आवश्यक नहीं समझा जाता

है। बातचीत के मध्य में संसद को उसकी प्रगति के सम्बन्ध में सूचित करना आवश्यक नहीं है पर यह बहुत कुछ संसद में मन्त्रि-परिषद के समर्थकों की स्थिति पर आश्रित है। यदि बहुमत अधिक नहीं है तो संसद की सहानुभूति मध्य में भी प्राप्त करते रहना सुरक्षित समझा जाता है।

सन्धि सम्राट् के हस्ताक्षर और मुहर से प्रख्यापित होती है।

ए. सेना और संकटकालीन स्थिति सम्बन्धी—संविधान द्वारा जापान में सेना और अन्य बल उपकरण रखने का निषेध है। पर संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा प्रोत्साहित होकर सन् १६५० में रक्षात्मक सेना रखना संविधान के अनुकूल घोषित किया गया और जुलाई में मन्त्रि-परिषद की आज्ञा से राष्ट्रीय सुरक्षित पुलिस का संगठन किया गया। प्रारम्भ में इसमें ७५,१०० मनुष्य थे। सितम्बर सन् १६५१ में जापान ने संयुक्त राज्य अमेरिका से एक सुरक्षात्मक सन्धि की। सन् १६५२ में सुरक्षित पुलिस के व्यक्तियों की संख्या १, १०,००० कर दी गयी। बाद में पुनः कई बार इसकी संख्या बढ़ाई गयी। इसके शस्त्रास्त्र सेना के समान हैं और प्रशिक्षण भी सेना के समान ही होता है। अक्टूबर में इसका नाम राष्ट्रीय सुरक्षा बल (The National Security Force) रखा गया जिसे बाद में आत्म प्रतिरक्षा बल (Self Defence Force) कर दिया गया। सन् १६५४ में जापान ने संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ एक पारस्परिक सहायता समझौता किया। सन् १६६० में जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका में एक 'पारस्परिक सहयोग और सुरक्षा' सन्धि हुई। जापान की तथाकथित आत्म प्रतिरक्षा सेना में मई सन् १६५६ में २,५१,५४३ व्यक्ति थे जो स्थल, नौ और वायु आत्म प्रतिरक्षा बलों में विभाजित थे। स्थल बल में १,७०,००० सैनिक और १३,४८० असैनिक व्यक्ति; नौसेना में २७,६६७ सैनिक और २,७६६ असैनिक व्यक्ति, ६५,००० टन के ४०२ युद्धपोत तथा २०० वायुयान; और वायुसेना में ३३,२२५ सैनिक ४,४०२ असैनिक व्यक्ति और १,०६४ वायुयान थे। अभी तक शस्त्रास्त्र संयुक्त राज्य अमेरिका से प्राप्त किये जाते थे पर जनवरी सन् १६६३ से इनके आन्तरिक उत्पादन की भी व्यवस्था हो गयी है।

इस बल के अधिकारी भी भूतपूर्व सेना के अधिकारी हैं। इसका सङ्गठन एक असंविभागीय मन्त्री के नीचे सङ्गठित प्रतिरक्षा अभिकरण (Defence Agency) के आधीन है। अभिकरण प्रधानमन्त्री के कार्यालय से सम्बद्ध है।

जापान के संविधान में आपदकालीन स्थिति का सामना करने के लिए मन्त्रिपरिषद् को कोई अधिकार प्राप्त नहीं है। वह केवल संसद का असाधारण या प्रतिनिधि सभा का विघटन होने पर, पारिषद् सभा का आपदकालीन अधिवेशन बुला सकती है और उसकी स्वीकृत से ही कोई कार्य कर सकती है।

ऐ. विविधि—उपरोक्त ७ प्रकार के अधिकारों के अतिरिक्त मन्त्रि-परिषद् को कुछ अन्य छोटे-छोटे अधिकार प्राप्त हैं। सम्राट् मन्त्रिपरिषद की मन्त्रणा पर सम्मान प्रदान करती है। इनके सम्बन्ध में मन्त्रिपरिषद नियम बनाती है और योग्य व्यक्तियों का चयन करती है। सम्राट् गृह अर्थ परिषद (The Imperial House Economy Council) प्रति पाँच वर्ष में सम्राट् गृह उपयोगिता सम्पति (The Imperial House Use Property) का सर्वेक्षण कर्ता है और इसके सम्बन्ध में मन्त्रिपरिषद् को सूचना देती है। मन्त्रिपरिषद उस प्रतिवेदन का विवरण संसद को देती है। सम्राट् परिवार के लिए निर्धारित धनराशि में परिवर्तन की आवश्यकता समझने पर सम्राट् गृह अर्थ परिषद अपनी राय मन्त्रिपरिषद के समक्ष प्रस्तुत करती है और मन्त्रिपरिषद उसे संसद के समक्ष प्रस्तुत करती है। भूतपूर्व सुरक्षित पुलिस और वर्तमान आत्म प्रतिरक्षा बलों के ग्रेड नियुक्ति, पदच्युत, पदोन्नति, वेतन, वर्दी आदि मन्त्रिपरिषद द्वारा ही निर्धारित किए जाते हैं। इसके पेन्शन की व्यवस्था स्थापित करने और उसमें परिवर्तन करने का अधिकार भी मन्त्रि-परिषद को ही है।

मन्त्रि-परिषद् की कार्यवाही—मन्त्रिपरिषद का कार्यालय मन्त्रिपरिषद सचिवालय कहलाता है। इसका प्रधान एक निदेशक होता है। इसकी नियुक्ति प्रधानमन्त्री करता है और यह मन्त्री के पद का होता है। इसकी सहायता के लिए दो सहायक निदेशक होते हैं। सचिवालय प्रधानमन्त्री के कार्यालय

का अङ्ग है। कार्यालय में सचिवालय के अतिरिक्त विधायन, सांख्यकी, पेन्शन, अभिभूषण (Decoration) आदि के ब्यूरो हैं। विधायन ब्यूरो मन्त्रिपरिषद को विधायकों के प्रारूप तैयार करता है, प्रशासकीय आज्ञाओं और राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय विधि का शोध और अध्ययन करता है, विधियों की व्याख्या करता है और उनके प्रयोग के सम्बन्ध में सलाह देता है।

सचिवालय का निदेशक मन्त्रिपरिषदों की बैठकों का कार्यक्रम तैयार करता है। मन्त्रि-परिषद का कार्य नियमित बैठकों में होता है और उसका निश्चय बैठकों से ही ज्ञात होता है। मन्त्रिपरिषद के सभी निर्णय लिखे जाते हैं और राज्यमन्त्रियों तथा अन्य उपस्थित अधिकारियों द्वारा उन पर हस्ताक्षर किये जाते हैं तथा मुहर लगायी जाती है। अन्त में प्रधानमन्त्री के हस्ताक्षर और मुहर से कार्यवाही पूरी होती है। बैठकें गुप्त होती हैं। मन्त्रि परिषद के अन्दर कही हुई बात के लिए कोई सदस्य परिषद भवन के बाहर दायित्वी नहीं माना जाता। पर सदस्य नैतिक दृष्टि से मन्त्रिपरिषद के निर्णयों को स्वयं गुप्त रखने को बाध्य हैं और उनकी घोषणा मन्त्रि-परिषद के महासचिव द्वारा ही की जाती है।

साधारणतया मन्त्रिपरिषद की बैठकों में सभी मन्त्री उपस्थित होते हैं। जो सदस्य अनुपस्थित रहना चाहते हैं वह अपना मत पहले ही प्रधानमन्त्री को सीधे या महासचिव के द्वारा भेज देते हैं। जो सदस्य अप्राप्य होता है उसका मत समर्थन के पक्ष में माना जाता है। मन्त्रिपरिषद का निर्णय निर्विरोध होता है। इसलिए मतभेदपूर्ण विषयों पर परस्परविरोधी दृष्टिकोणों में सामञ्जस्य स्थापित करने के हेतु लगातार कई बैठकों में विचार होता है। यदि फिर भी मतैक्य स्थापित नहीं होता तो प्रधान मंत्री अन्तिम निर्णय लेता है जिससे साधारणयता अन्य मंत्री अपनी सहमति प्रकट करते हैं। यदि ऐसी स्थिति में भी कोई मंत्री विरोध करता है तो यातो वह स्वयं त्याग पत्र दे देता है या प्रधान मंत्री उसे स्वयं अपदस्थ कर देता है।

मंत्री-परिषद की नियमित बैठकें मंगलवार और शुक्रवार को प्रधान मंत्री के निवास स्थान पर होती हैं।

प्रशासकीय उपमंत्रियों की बैठकें अलग होती हैं जिसमें सभी उप-मंत्री भाग लेते हैं। ये उपमंत्री अजीवका अधिकारी होते हैं और प्रशासन में उनका महत्वपूर्ण स्थान होता है। वे संविभागों के प्रधान संचालक होते हैं। इसलिए प्रावैधिक विषय जैसे प्रशासन की पद्धति और संयोजन आदि पर इनमें ही विचार किया जाता है। उपमंत्रियों की बैठकें मंत्रियों की बैठकों के एक दिन पूर्व होती हैं और उनके निर्णयों पर मंत्रियों की बैठक में स्वीकृति दी जाती है। उपमन्त्रियों की बैठकों के निर्णयों के लागू होने के पूर्व उन पर मन्त्रि-परिषद् की स्वीकृति आवश्यक मानी जाती है।

मंत्रि-परिषद् का उत्तरदायित्व---मन्त्रि-परिषद् को संविधान में पृथक्-पृथक् दो अनुच्छेदों से संसद के प्रति उत्तरदायी कहा गया है। प्रथम, अनुच्छेद ३ में कहा गया है कि सम्राट् के राज्यविषयक समस्त कृत्यों के लिए मंत्रिपरिषद् की मंत्रणा तथा अनुमोदन लिया जावेगा और मंत्रिपरिषद् उसके हेतु उत्तरदायी होगी। निश्चय ही यह उत्तरदायित्व संसद के प्रति ही होगा। द्वितीय, अनुच्छेद ६६ की तृतीय कंडिका में कहा गया है कि मन्त्रि-परिषद् अपनी कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में संसद के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी। मन्त्रि-परिषद् के मन्त्री प्रशासकीय संविभागों के प्रधान होते हैं और इसलिए स्वभावतः उन्हें अपने क्षेत्राधिकार के विषयों में की गयी भूलों के सम्बन्ध में मन्त्रि-परिषद् या प्रधान मन्त्री के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। संविधान में मंत्रि-परिषद् के सदस्यों के वैयक्तिक उत्तरदायित्व का कोई स्पष्ट वर्णन नहीं है पर अनुच्छेद ६८ के अन्तर्गत प्रधान मन्त्री का मन्त्रियों को नियुक्त और पदच्युत करने का निर्वाध अधिकार सम्भवतः इसी स्थिति को ध्वनित करता है।

संसद के सदनों के पास मंत्रियों के उत्तरदायित्व को प्रवृत्त करने के लिए कई प्रकार के साधन हैं। प्रतिनिधि सभा संविधान के अनुच्छेद ६९ के अन्तर्गत मंत्रि-परिषद् के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव को स्वीकार करके या विश्वास प्रस्ताव को अस्वीकार करके उसे पदच्युत कर सकती है और ऐसी स्थिति में मन्त्रिपरिषद् या तो उसी समय पदत्याग कर सकती है या प्रतिनिधि सभा का विघटन करके और उसे पुनर्निर्वाचित कराकर उसके विशेष अधिवेशन के

समय पद त्याग कर सकती है। इसके अतिरिक्त संसद के दोनों सदन अनुच्छेद ६२ के अन्तर्गत सरकार के सम्बन्ध में जाँच कर सकते हैं, साक्षियों की उपस्थिति और साक्ष्य की माँग कर सकते तथा आलेखों को अपने सामने उपस्थित करा सकते हैं। अन्त में संसद के सदस्य मन्त्रियों से उनके शासन क्षेत्र के विषयों के सम्बन्ध में प्रश्न पूछ सकते हैं। यह सब होते हुए भी संसद को सामूहिक रूप में संविधान में अपने प्रति वर्णित मन्त्रि-परिषदीय उत्तरदायित्व को प्रवृत्त करने का साधन प्राप्त नहीं है। यदि विचार किया जाय तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि अविश्वास के प्रस्ताव को पास करके या विश्वास के प्रस्ताव को अस्वीकार करके मन्त्रि-परिषद को त्याग-पत्र देने के लिए विवश करने का अधिकार ही सब से अधिक शक्तिवान् और औपचारिक है। इसलिए मंत्रि-परिषद को संसद के स्थान पर यदि प्रतिनिधि सभा के प्रति उत्तरदायी कहा जाय तो अधिक उपयुक्त होगा।

प्रश्न पूछ कर उत्तरदायित्व को प्रवृत्त करना अधिक प्रभावपूर्ण नहीं माना जाता। जापान में संसद सदनों की जाँच करने की शक्ति भी प्रभावपूर्ण नहीं है। कुख्यात जलयाननिर्माणक गोलमाल (Ship-building Scandal) की जाँच करते समय प्रतिनिधि सभा की लेखा समिति ने महाधिवक्ता और मुख्य जिला अभियोक्ता को साक्ष्य के लिए बुलाया पर उन्होंने सूचना की गोपनीयता के आधार पर कोई भी साक्ष्य देने से इन्कार कर दिया। जब न्यायमंत्री और मंत्रि-परिषद का भी अधिकारियों का मुँह बन्द रखने का संकल्प प्रकट हुआ तो समिति ने प्रधानमंत्री की उपस्थिति की माँग की। प्रधानमन्त्री ने अपमानपूर्ण शब्दों में समिति के समक्ष उपस्थित होने से इन्कार कर दिया और समिति द्वारा अनेक बार आरोप लगाने पर भी उस पर मुकदमा नहीं चलाया गया। मंत्रिपरिषद प्रतिनिधि सभा के अविश्वास प्रस्ताव इत्यादि के अधिकार से भय नहीं खाती क्योंकि उसमें स्वयं नष्ट होने के पूर्व अपने विनाशक को विनष्ट कर देने की क्षमता है जिससे स्वयं विनाशक आतंकित रहता है। "इन विकासों के समक्ष यह पूछा जा सकता है कि क्या मन्त्रिपरिषद के

संसद के प्रति उत्तरदायी होने के स्थान पर संसद मन्त्रिपरिषद के प्रति उत्तर-दायी नहीं है"।[१]

प्रधानमंत्री

संसदीय मंत्रि-परिषद की सरकार में प्रधानमन्त्री का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होता है। इगलैण्ड में प्रधान मन्त्री की स्थिति का वर्णन करते हुए स्वर्गीय प्रो० लास्की ने लिखा है कि "मन्त्रिपरिषद के महराब की प्रधान मन्त्री प्रस्तरकुंजी है। वह उसके निर्माण का स्थान उसके जीवन का केन्द्र और उसकी मृत्यु का केन्द्र है।[२] इस रूपक में सत्यता का एक वृहद् अंश है। प्रधान मन्त्री स्वयं सहयोगी मन्त्रियों की नियुक्ति कर उसका निर्माण करता है और उसके स्थान से हट जाने से मन्त्रि-परिषद का सारा महराब गिर जाता है। पर प्रश्न यह है कि कारीगर कौन है? इगलैन्ड में राजा प्रधानमंत्री की नियुक्ति करता है और जापान में उसकी नामोदि्ष्टि संसद स्वयं करती है और सम्राट् का कार्य केवल औपचारिक नियुक्ति है। सहयोगी मन्त्रियों की नियुक्ति इगलैन्ड में राजा प्रधान मन्त्री के परामर्श पर करता है और प्रधान मन्त्री ही सम्राट् से किसी मन्त्री को पदच्युत करा सकता है। जापान में यह कार्य स्वयं प्रधान मन्त्री करता है और सम्राट् केवल उसके कार्य को प्रमाणित करता है। प्रधान मन्त्री अपने पद से निम्न सदन के द्वारा पदच्युत किया जा सकता है और वह स्वयं भी पदत्याग कर सकता है। इन दोनों स्थितियों में मन्त्री परिषद का अन्त हो जाता है। इसलिये प्रधान मन्त्री केवल प्रस्तर कुंजी ही

---

१ "One would be entitled to ask, in face of these developments, whether the Diet was not responsble to the cabinet rather than the cabinet to it." Harold S. Quigley & John E. Turner : *The New Japan*, 1956, p. 197.

२ "The keystone of the Cabinet arch is the Prime Minister. He is central to its formation, central to its life and central to its death." *The Parliamentary Government in England*, 1959, p. p. 228-229.

प्रधान मन्त्री देश का सर्वाधिक शक्तिशाली अधिकारी है। उसे दो प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं। उसके कुछ अधिकार व्यक्तिगत हैं। वह बहुत से कर्मचारियों की नियुक्ति या तो सम्राट् के प्रमाणीकरण से या स्वयं एकाधिकार से करता है। सम्राट् का प्रमाणीकरण भी केवल औपचारिक है। वह मन्त्रियों, आत्मरक्षा दल के महानिदेशक, राष्ट्रीय लोक सुरक्षा आयोग के सभापति, मन्त्रि-परिषदीय सचिवालय के निदेशक, कार्यवाहक राज्यपालों, अस्थायी जिला निर्वाचन प्रशासन समितियों, स्थानीय वित्त आयोग आदि को नियुक्त करता है। राष्ट्रीय लोक सुरक्षा आयोग पुलिस मण्डल के प्रधान को प्रधान-मन्त्री की स्वीकृति से ही नियुक्त करता है। प्रधान मन्त्री उपरोक्त समस्त अधिकारियों और जिलों के राज्यपालों को पदच्युत कर सकता है। सम्राट् परिवार शासन में उसका प्रमुख भाग होता है। वह सम्राट् गृह परिषद का सदस्य होता है और उसकी बैठकों की अध्यक्षता करता है। वह सम्राट् गृह कार्यालय के प्रधान और उसके प्रतिनिधि को नियुक्त करता है। वह सम्राट् गृह अर्थ परिषद का भी सदस्य होता है और उसकी अध्यक्षता करता है। सम्राट् गृह कार्यालय प्रधान मन्त्री के ही क्षेत्राधिकार में है। इसी प्रकार अन्य महत्वपूर्ण कार्यालय जैसे मन्त्रि परिषदीय सचिवालय, प्रतिरक्षा अभिकरण आदि भी प्रधान मन्त्री कार्यालय के ही अंग हैं।

यद्यपि मन्त्रिपरिषद अपने कार्यों के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी है और उसके निर्णय साधारणतया निर्विरोध रूप में किये जाते हैं पर इनके पीछे प्रधान मन्त्री का स्वेच्छापूर्वक मन्त्रियों को पदच्युत करने और नियुक्त करने का अधिकार शक्तिपूर्ण ढंग से प्रभाव डालता है। कुछ विद्वानों का मत है कि प्रधान मन्त्री का यह स्वेच्छा से नियुक्त और पदच्युत करने का अधिकार संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति के तुल्य है और वह मन्त्रिपरिषद के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के विरुद्ध है। पर मन्त्रिपरिषद के भली प्रकार कार्य करने के लिए प्रधान मन्त्री में इस अधिकार के होने की आवश्यकता है।

मन्त्रिपरिषद का प्रतिनिधित्व करता हुआ प्रधान मन्त्री संसद को राष्ट्र के सामान्य विषय और विदेशी सम्बन्धों की सूचना देता है। संसद के समक्ष विधेयक प्रस्तुत करता है और प्रशासन की विभिन्न शाखाओं की देख-रेख करता

और उन पर नियन्त्रण रखता है। राष्ट्रीय कार्मिक शक्ति अपनी वार्षिक रिपोर्ट प्रधान मन्त्री को ही देती है।

सभी विधियों तथा मन्त्रिपरिषद की सभी आज्ञाओं पर प्रधान मन्त्री के प्रति-हस्ताक्षर होते हैं। प्रधान मन्त्री मन्त्रियों का संरक्षक भी होता है और बिना उसकी सहमति के किसी मन्त्री के विरुद्ध वैधानिक कार्यवाही नहीं की जा सकती है।

वह सम्राट् और मन्त्रिपरिषद के मध्य की कड़ी है और मन्त्रिपरिषद के निर्णय की सूचना वह सम्राट् को देता है। वह सम्राट् और संसद के मध्य की कड़ी भी है और अपने त्याग पत्र तथा नयी मन्त्रि परिषद की नियुक्ति की सूचना संसद को देता है।

नव संविधान के अन्तर्गत जापान के प्रधानमन्त्री

१—योशीदा, शिगेरु (मई १९४६ से जून १९४७ तक)
२—कातायामा, तेत्सु (जून १९४७ से फरवरी १९४८ तक)
३—अशीदा, हितोशी (मार्च १९४८ से अक्टूबर १९४८ तक)
४—योशीदा, शिगेरु (फरवरी १९४८ से दिसम्बर १९५४ तक)
५—हातोयामा, इचिरो (दिसम्बर १९५४ से दिसम्बर १९५६ तक)
६—इशिवाशी, तेनजाउ (दिसम्बर १९५६ से फरवरी १९५७ तक)
७—किशी, नोबुसाके (फरवरी १९५७ से जुलाई १९६० तक)
८—इकेदा, हयातो (जुलाई १९६० से——)

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. मन्त्रिपरिषदें कितने प्रकार की होती हैं। विभिन्न प्रकार की मन्त्रि-परिषदों की मूल विशेषताओं का अन्तर स्पष्ट करिये।

२. 'जापान के प्राचीन संविधान के अन्तर्गत एक मन्त्रिपरिषद थी, पर मन्त्रिपरिषद-व्यवस्था नहीं थी; वर्तमान संविधान सर्वाधिक स्वीकृति पाश्चात्य आधार पर एक संसदीय या मन्त्रिपरिषदात्मक व्यवस्था का उपबन्ध करता है'।

प्राचीन और नवीन जापानी शासन व्यवस्था के अन्तर को स्पष्ट करते हुए उपरोक्त कथन की समीक्षा करिए।

३—नवीन संविधान के अन्तर्गत मन्त्रि परिषद के गठन की व्याख्या करिए और वर्तमान गठन पद्धति तथा मेइजी संविधान के अन्तर्गत मन्त्रिपरिषद की गठन पद्धति का अन्तर स्पष्ट करिए।

४. जापान के मन्त्रिपरिषदीय परिवर्तनों की बाहुल्यता के कारण लिखिए।

५. जापान की मन्त्रिपरिषद् के कार्यों और अधिकारों का वर्णन करो।

६. अपने गठन, कार्य प्रणाली और स्थिति में जापान की मन्त्रिपरिषद ब्रिटिश मन्त्रिपरिषद से किन-किन बातों में भिन्न है और क्यों? विस्तारपूर्वक समझाइए।

७. जापान की मन्त्रिपरिषद के सम्राट् और संसद से सम्बन्धों की विवेचना करिए।

८. जापान के प्रधान मन्त्री के अधिकारों और स्थिति का वर्णन करिए और उसकी स्थिति की ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की स्थिति से तुलना करिए।

संसद | ६

"......the legislative is preeminently the organ made use of to complete the work of determining the character of government that shall be established and the manner in which governmental powers shall be exercised." *W. F. Willoughby.*

प्रजातंत्र राज्य में प्रजा प्रधान होती है और प्रजा के पश्चात् दूसरा स्थान प्रजा का प्रतिनिधित्व करने वाली व्यवस्थापिका का होता है। कार्यपालिका और न्यायपालिका का स्थान उसके बाद में आता है। यद्यपि कार्यपालिका का प्रधान भी प्रजा का प्रतिनिधित्व कर सकता है और संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति प्रजा का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। मंत्रि-मंडलात्मक शासन प्रणाली के देशों में भी मंत्रिमंडल जो कि वास्तविक कार्यपालिका होती है अप्रत्यक्ष रूप में प्रजा का प्रतिनिधि होता है। पर मान्य संवैधानिक सिद्धान्तों से अध्यक्ष और मंत्रिमंडल का स्थान अनुपूरक होता है। न्यायपालिका की स्थिति भी ऐसी ही होती है। इस प्रकार यह सर्वमान्य है कि प्रजातंत्र राज्य में व्यवहारिक उच्चता व्यवस्थापिक में होना चाहिए।

व्यवस्थापिका की व्यवहारिक उच्चता निर्विवाद होने पर भी व्यवस्थापिका के कार्यों के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। जान स्टुअर्ट मिल ने सन् १८६१ में इस समस्या पर विचार करते हुए लिखा था कि प्रतिनिधि सरकार में व्यवस्थापिका अनेक प्रकार के कार्य कर सकती है पर वह कार्य ऐसे होना चाहिए जिससे वह अन्तिम स्थिति में प्रत्येक वस्तु पर नियंत्रण कर सके। बहुत से ऐसे कार्य हैं जिन्हें व्यवस्थापिक स्वयं कुशलतापूर्वक कर नहीं सकती है पर उन्हें वह नियंत्रित कर सकती है। उदाहरणार्थ व्यवस्थापिका स्वयं उत्तम अनुमानित आय-व्यय लेखा तैयार नहीं कर सकती है पर यह निर्विवाद है कि व्यवस्थापिका का राज्य की आर्थिक व्यवस्था और बजट पर नियंत्रण होना चाहिए। इसी प्रकार यह भी स्वीकार किया जाता कि व्यवस्थापिका स्वयं प्रशासन नहीं कर सकती है और न वह प्रशासन करने वालों को विस्तृत निदेश ही दे सकती है। ऐसे कार्यों में उसका हस्तक्षेप हानिकारक होगा। यही बात विधायकी कार्य के बारे में भी लागू होती है। मिल का मत था कि "शासन करने के स्थान पर जिसके लिए वह पूर्ण रूप से अयोग्य है एक प्रतिनिधि सभा का उचित कार्य सरकार पर दृष्टि तथा नियंत्रण रखना, उसके कार्यों पर विश्रुति का प्रकाश डालना, उन सब कार्यों के जिनको कोई भी प्रश्नास्पद समझता है, पूर्ण स्पष्टीकरण और औचित्य सिद्धि के लिए विवश करना, निन्दनीय पाने पर उन पर दोष लगाना और यदि सरकार निर्मित करने वाले व्यक्ति अपने न्यासाधिकार का दुरुपयोग करें या उसे इस प्रकार पूर्ण करें जो राष्ट्र के सुचिन्तित अभिमत के विरुद्ध हो, उन्हें पद से वहिष्कृत करना है।[1]

1. "Instead of the function of governing, for which it is radically unfit, the proper office of a representative assembly is to watch and control the government : to throw the light of publicity on its acts : to compel a full exposition and justification of all of them which any one considers questionable; to censure them if found condemnable, and, if the men who compose the government abuse their trust, or fulfil it in a manner which conflicts with the deliberate sense of the nation, to expel them from office." J. S. Mill : Utilitarianism Liberty Representative Government (Everyman's Library), 1954. p. 239.

संसद् के कार्यों के विस्तार में अध्यक्षात्मक और संसदात्मक सरकारों की संसदों के कार्यों में अन्तर हो सकता है पर मिल के उपरोक्त मत की पुष्टि सन् १८६६ में बैगट ने अपनी अँग्रेजी संविधान की पुस्तक में की। प्रो० विलोवी ने भी इस मत को माना है।[1]

जापान की संसद का विकास—जापान की संसद जो अंग्रेजी भाषा में डायट (Diet) और जापानी भाषा में कोक्काई (Kokkai) कहलाती है, अपश्चिमी विश्व की सर्वाधिक प्राचीन और अनुभवी व्यवस्थापिका है।[2] इसकी स्थापना सन् १८६० में मेइजी संविधान के अन्तर्गत की गयी थी। संसद् के दो सदन थे; प्रथम, **प्रतिनिधि सभा** (The House of Representatives) और द्वितीय **अभिजात सभा** (The House of Peers) प्रतिनिधि सभा का निर्वाचन सुविधा की दृष्टि से निर्वाचन क्षेत्रों से होता था पर प्रत्येक सदस्य सारे राज्य की ओर से बोलता था। निर्वाचन के लिए मतदाताओं पर कर सम्बन्धी अर्हता लागू थी जो सन् १६२५ में हटा दी गयी थी। पर मताधिकार केवल पुरुषों को प्राप्त था। प्रारम्भ में इसकी सदस्य संख्या तीन सौ के लगगग थी पर सन् १६३० के पश्चात् वह बढ़कर ४६६ हो गयी। इसकी अवधि चार वर्ष थी पर वह इसके पूर्व भी विघठित की जा सकती थी। अभिजात सभा एक स्थायी सदन था। इसमें केवल अभिजात वर्ग के ही व्यक्ति होते थे। इसकी सदस्य संख्या लगभग ४०० थी। यह "युद्ध पूर्व की सम्राज्यीय संसद् मूल रूप से एक मंत्रणा निकाय था जिसने कार्यपालिका के कार्यों पर नियंत्रण लगाने का प्रत्यत्न किया लेकिन वह अक्सर असफल हुई।"[3] "वह विधियों पर विचार विमर्श कर

---

1. The Government of Modern States. Chapter XVIII,

2. "The Japanese Diet (Kokkai) is the oldest and most experienced legislature of the non-Western World" A. W. Burks: *The Government of Japan*, 1961, p, 111.

3. "The prewar Imperial Diet was fundamentally an advisory body which tried to check, but often unsucessfully, the actions of the executive." Nobutake Ike : *Japanese Politics*, 1957, p. 68.

सकती थी पर विधायन विनिश्चित नहीं कर सकती थी। फिर भी राजकुमार इतो (जिन्होंने संविधान की रूप रेखा निश्चित की थी) का विश्वास था कि संविधान संसद को सत्तान्त रूप में कदापि सीमित नहीं करता। क्योंकि इसका स्वरूप देश के जनमत का प्रतिनिधित्व करने के लिए निर्धारित किया गया था।"[1] यह संसद अपने सीमित अधिकारों और समन्तवादी अभिजात सदन के साथ सन् १९४० तक सफलतापूर्वक कार्य करती रही पर उस वर्ष राजनैतिक दलों के अवैध घोषित हो जाने से सच्ची संसदीय प्रणाली का अन्त हो गया और सैनिक नेता देश के वास्तविक शासक हो गये।

द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान के पराजित हो जाने पर वहाँ मित्रराष्ट्रों के सर्वोच्च समादेशक की आधीनता में सैनिक शासन स्थापित हुआ। इस सैनिक शासन ने अप्रत्यक्ष रूप से जापान पर शासन करना अधिक श्रेयस्कार समझ कर संसद को बनाए रखा और नवीन संविधान को भी उसी संसद द्वारा पास कराया गया था।

वर्तमान संविधान के अन्तर्गत संसद—नवीन संविधान की रूप रेखा जैसा पहले कहा जा चुका है मित्रराष्ट्रों के सर्वोच्च समादेशक ने ही बनायी थी फिर भी जापान के राजनीतिज्ञों की इच्छा का यथासम्भव सम्मान करते हुए उसने अपनी बनायी रूप रेखा में कुछ परिवर्तन स्वीकार कर लिए। संसद के सम्बन्ध में स्वीकार किया परिवर्तन एक ऐसा प्रमुख परिवर्तन कहा जा सकता है। सर्वोच्च समादेशक द्वारा बनाए हुए जापानी संविधान के प्रारूप में एक सदन की व्यवस्थापिका की व्यवस्था थी पर जापान की सरकार की प्रार्थना पर उसका द्विसदनात्मक संसद का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया।

---

1. "Under the Constitution, the Diet had no real share in the sovereignpower : it could *deliberate* on laws, but not *determine* legislation. Yet Prince Ito believed the Constitution by no means limited the Diet out of existence. For it was designed to 'represent the public opinion of the country." Linebarger, Djang and Burks : *Far Eastern Governments and Politics*, 1956, pp. 366-367.

संगठन—जैसा ऊपर कहा गया है जापान की वर्तमान संसद में दो सदन हैं। एक सदन का नाम पूर्ववत् प्रतिनिधि सभा (The House of Representatives) और दूसरे सदन का नाम पारिषद् सभा (The House of Councillors) है।

प्रतिनिधि सभा—प्रतिनिधि सभा जापान की संसद का निम्न सदन है। इसमें ४६७ सदस्य हैं। पर यह संख्या संविधान द्वारा निश्चित नहीं है। इसे संसदीय विधि द्वारा निश्चित किया गया है। प्रतिनिधि सभा की कार्यावधि चार वर्ष है पर इसे इसके पूर्व भी विघटित किया जा सकता है।

मतदाताओं की अर्हता—जापान में इस समय वयस्क मताधिकार सिद्धान्त लागू है। स्त्रियों को मताधिकार १८ दिसम्बर सन् १९४५ की विधि से प्राप्त हो गया था। उस समय शारीरिक रूप से असक्षम या अर्द्ध असक्षम व्यक्तियों, कारावास का दण्ड भुगतने वाले अपराधियों, सार्वजनिक या वैयक्तिक दान लेने वालों, अनिश्चित निवास वालों तथा अभिजात परिवारों के प्रधानों के अतिरिक्त २० वर्ष या इससे अधिक आयु वाले सभी स्त्री पुरुषों को मताधिकार प्राप्त हो गया था। ३१ मार्च सन् १९४७ की विधि से असक्षम या अर्द्धासक्षम व्यक्तियों और कारावासी अपराधियों के अतिरिक्त २० वर्ष या इससे अधिक आयु वाले अन्य सभी स्त्री पुरुषों को मताधिकार प्राप्त हो गया है।

सदस्यों की अर्हताएँ—सदस्यों के लिए कोई विशेष अर्हता आवश्यक नहीं है। केवल उन्हें जन्मित नागरिक और मतदाता होना चाहिए, न्यूनतम आयु पच्चीस वर्ष से कम नहीं होना चाहिए और न्यायाधीश, सरकारी वकील, पुलिस का कर्मचारी, किसी स्थानीय सत्ता की कार्यपालिका का प्रधान या उसकी सभा का सदस्य नहीं होना चाहिए। संविधान जाति, धर्म, सामाजिक स्थिति, वंश, शिक्षा, सम्पत्ति और आय सम्बन्धित अर्हताएँ प्रतिषेध करता है।

पारिषद् सभा—पारिषद् सभा संसद का अवर सदन है। इसमें २५० सदस्य होते हैं। यह संख्या भी संविधान द्वारा नहीं वरन् विधि द्वारा निश्चित है। पारिषद् सभा एक स्थायी सदन है। इसके सदस्यों का कार्यकाल

छः वर्ष है और प्रति तीन वर्ष पश्चात् आधे सदस्य अवकाश ग्रहण करते हैं।

मतदाताओं और सदस्यों की अर्हताएँ—इस सदन के सदस्यों को निर्वाचित करने वाले मतदाओं की अर्हताएँ प्रतिनिधि सभा के सदस्यों को निर्वाचित करने वाले मतदाताओं के समान ही हैं। सदस्यों के लिये भी कोई विशेष अर्हता निर्धारित नहीं है। केवल उनकी न्यूनतम आयु तीस वर्ष होना चाहिए।

निर्वाचन पद्धति—प्रतिनिधि सभा के सदस्यों के लिए सारा देश ११८ निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित है। निर्वाचन क्षेत्र किसी प्रशासकीय सीमा पर आधारित नहीं है। ६ जिलों में एक-एक निर्वाचन क्षेत्र हैं। शेष ३७ जिलों में प्रत्येक में दो से सात तक निर्वाचन क्षेत्र हैं। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से एक से पाँच सदस्य तक निर्वाचित किये जाते हैं। प्रत्येक सदस्य औसत रूप में दो लाख पन्द्रह हजार व्यक्तियों की जनसंख्या पर निर्वाचित किया जाता है। पर निर्वाचन क्षेत्रों का परिसीमन ग्रामीण मतदाताओं के पक्ष में किया गया है। इसलिये जबकि ग्रामीण क्षेत्रों में एक सदस्य एक लाख पचास हजार व्यक्तियों का ही प्रतिनिधित्व करता है। नगरी क्षेत्रों में एक सदस्य तीन लाख व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है। यह पक्षपातपूर्ण परिसीमन जो अंग्रेजी भाषा में जैरी-मैन्डरिंग (Jerrymandering) कहलाता है, अनुदारप्रतिक्रियावादी दलों के हित और समाजवादी दलों के अहित में है। पारिषद् सभा के १०५ सदस्य दो से आठ सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों से निर्वाचित किये जाते हैं। यह निर्वाचन क्षेत्र प्रशासकीय जिले हैं। शेष १०० सदस्यों के लिए सारा देश ही एक निर्वाचन क्षेत्र है।

जापान में मतदाता सूची तैयार करने का उपक्रम सार्वजनिक कर्मचारियों द्वारा किया जाता है। प्रत्येक वर्ष १५ सितम्बर तक क्षेत्र की निर्वाचन प्रशासन समिति प्रत्येक घर में एक पंजीकरण कार्ड दे देती है जिसमें घर के व्यक्ति अपना नाम, लिंग, जन्म तिथि, पता तथा क्षेत्र में निवास का समय लिख देते हैं। मतदाता सूची में नाम पंजीकृत करने के लिये ३ मास का क्षेत्रीय निवास आवश्यक है। मतदाता सूची ३१ अक्टूबर तक प्रकाशित कर दी जाती है।

और जनता को १५ दिन का समय आपत्ति पत्र देने के लिये दिया जाता है। जिन व्यक्तियों की आपत्ति स्वीकार नहीं की जाती वह न्यायिक कार्यवाही कर सकते हैं। निर्वाचन के पूर्व तक अर्हता ग्रहण कर लेने वाले मतदाताओं की पूरक सूची बनाई जाती है। प्राकृतिक विप्लवों से पीड़ित व्यक्ति जो दूसरे क्षेत्रों में चले जाते हैं निवास अर्हता से मुक्त माने जाते हैं।

कोई भी सूचीबद्ध मतदाता किसी व्यक्ति का नाम उसकी सहमति से निर्वाचन के लिए नामाङ्कित करा सकता है। इसके लिये एक निर्धारित प्रपत्र भरना पड़ता है। अभ्यर्थी के लिए निर्वाचन क्षेत्र का निवासी होना आवश्यक है। अभ्यर्थी को एक लाख येन[1] की जमानत (Deposit) जमा करनी पड़ती है। यदि प्रतिनिधि सभा का अभ्यर्थी निर्वाचन क्षेत्र में डाले गये मतों की संख्या में निर्वाचन क्षेत्र से चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या का भाग देने पर प्राप्त संख्या के पाँचवें भाग से कम मत पाता है तो उसकी जमानत जब्त हो जाती है। पारिषद् सभा के जिला क्षेत्रों के अभ्यर्थियों की जमानत जब्त होने के लिए भी यही संख्या निर्धारित है पर राष्ट्रीय क्षेत्र के अभ्यर्थियों की जमानत भजनफल के दसवें भाग से कम मत पाने पर जब्त होती है। कोई सदस्य दोनों सदनों की सदस्यता के लिए एक साथ अभ्यर्थी नहीं हो सकता। दलीय अभ्यर्थियों को दल की ओर से चुनाव लड़ने की स्वीकृति मिलती है पर स्वीकृति न पाने वाले व्यक्ति भी दल के नाम का प्रयोग कर लेते हैं।

जापान के निर्वाचनों के प्रचार सम्बन्धी प्रतिबन्ध अत्यन्त कठोर हैं। चुनाव प्रचार के लिए अभ्यर्थियों को अधिक से अधिक पाँच चुनाव केन्द्र स्थापित करने की स्वीकृति दी जा सकती है पर प्रायः एक केन्द्र की ही स्वीकृति दी जाती है। पारिषद् सभा के निर्वाचन में राष्ट्रीय क्षेत्र के अभ्यर्थी १५ प्रचार केन्द्र स्थापित कर सकते हैं। प्रत्येक अभ्यर्थी को एक प्रचार व्यवस्थापक और एक प्रचार प्रतिनिधि (एजेन्ट) रखना पड़ता है।

निर्वाचन में अवसर की समानता स्थापित करने के लिए अभ्यर्थियों

---

[1] लगभग १३२२ रु०

को कुछ सुविधाएँ सरकार की ओर से दी जाती हैं और व्यक्तिगत साधनों का प्रयोग करने पर कुछ नियंत्रण लगे हैं। प्रत्येक अभ्यर्थी को सरकारी रेडियो पर अपने पाँच मिनट के भाषण के रिकार्ड को तीन बार बजाने का समय दिया जाता है। साथ ही उसे अपने नाम, आयु, दल सम्बन्धी जीवन, शिक्षा, व्यावसायिक पृष्ठभूमि और राजनैतिक विचारों के विवरण के रिकार्ड को दस बार बजाने का समय दिया जाता है। जापान में व्यक्तिगत प्रसार केन्द्र है पर उनका प्रयोग चुनाव प्रचार के लिए वर्जित है। प्रत्येक अभ्यर्थी अपने नाम, दल, जीवन घटना, राजनैतिक विचारों आदि विवरण वाले १५०० शब्दों के पर्चे जिला निर्वाचन परिवेक्षण आयोग द्वारा प्रकाशित करके बँटा सकता है। उसे १०,००० पोस्ट कार्ड निःशुल्क मिलते हैं। उसे २००० पोस्टर भी छपवा कर दिए जाते हैं। वह एक समाचार पत्र में २ इञ्च चौड़ा २३ इञ्च लम्बा विज्ञापन दे सकता है। वह अपने निर्वाचन क्षेत्र में ३ से ५ स्थानों पर अपने नाम और पार्टी का साइन बोर्ड खड़ा कर सकता है। वह अपने भाषण के १२०० शब्दों के छोटे पोस्टर छपवा सकता है। यह सभी कार्य राज्य की ओर से कराये जाते हैं। उसे निर्वाचन काल के लिए १५ रेलों तथा बसों के पास मिलते हैं। वह एक बार किसी विद्यालय भवन या सार्वजनिक हाल में निःशुल्क मीटिंग कर सकता है। स्थानीय निर्वाचन आयोग के तत्वावधान में सँयुक्त सभाएँ की जाती हैं। नगरों में प्रति ४०,००० व्यक्तियों और कस्बों और ग्रामों में प्रति ४००० व्यक्तियों की जनसंख्या पर एक सँयुक्त सभा की जाती है। प्रत्येक अभ्यर्थी को इस सभा में भाग लेना आवश्यक है। प्रत्येक अभ्यर्थी ६० व्यक्तिगत सभाएँ करा सकता है। पारिषद् सभा के राष्ट्रीय क्षेत्र से चुनाव लड़ने वाले अभ्यर्थियों को ५०,००० पोस्टकार्ड और २०,००० पोस्टर निःशुल्क दिए जाते हैं।

निर्वाचन से सम्बन्ध रखने वाले अधिकारी, न्यायाधीश, पुलिस, कर अधिकारी तथा लेखा परीक्षा परिषद के अधिकारी प्रचार कार्य में भाग नहीं ले सकते। अवयस्क, लोक सेवा अधिकारी और कर्मचारी तथा अध्यापक राजनैतिक कार्यों में ही भाग नहीं ले सकते। द्वार-द्वार वोट माँगना, प्रार्थना पत्र या

समर्थन पत्र पर हस्ताक्षर प्राप्त कराना और उन्हें प्रकाशित करना, खाद्य या पेय पदार्थ तथा धन देना, और जुलूस निकालना भी कानून से वर्जित है। चुनाव कार्यालयों पर कर्मचारियों को दिए जाने वाले भोजन और पेय नियंत्रित हैं। चुनाव प्रचार में अभ्यर्थियों या उनके दलों द्वारा वितरित किए जाने वाले साहित्य का गुण और मात्रा भी सीमित है। जो राजनीतिक दल प्रतिनिधि सभा की सदस्यता के लिए कम से कम २५ अभ्यर्थी खड़े नहीं करते वह चुनाव में प्रचार कार्य नहीं कर सकते। लाइसेन्स प्राप्त लाउड स्पीकरों की गाड़ियों के अतिरिक्त लाउड स्पीकरों से सभाओं की सूचना देना या अभ्यर्थी या दल के नाम का प्रचार करना भी कानून से वर्जित है। कानून से प्रत्येक अभ्यर्थी अपने क्षेत्र के मतदाताओं की संख्या में सदस्यों के स्थानों की संख्या का भाग देने पर प्राप्त संख्या के चार गुने येन से अधिक धन अपने चुनाव प्रचार में व्यय नहीं कर सकता। राजनैतिक दलों तथा अभ्यर्थियों दोनों को ही विभिन्न व्यक्तियों और संगठनों से प्राप्त धन और व्ययों का हिसाब निर्वाचन पर्यवेक्षण अधिकारी को वर्ष में तीन बार देना पड़ता है।

मतदान साप्ताहिक दिनों में तथा गुप्त रीति से होता है। मतदान पत्र पर अभ्यर्थियों के नाम या चुनाव चिह्न इत्यादि छपे नहीं होते। यद्यपि एक निर्वाचन क्षेत्र में प्रतिनिधि सभा के लिये १ से पाँच और पारिषद् सभा के जिला निर्वाचन के लिये २ से ८ और राष्ट्रीय क्षेत्र से १०० प्रतिनिधि चुने जाते हैं। पर प्रत्येक मतदाता एक ही व्यक्ति का नाम मतदान-पत्र पर लिख कर मत देता है।

गणना करने के पूर्व एक निर्वाचन क्षेत्र के कई मतदान केन्द्रों के मत-पेटियों को एक स्थान पर एकत्रित कर के उन्हें खोला जाता है और मत-पत्रों को एक में मिला दिया जाता है। इसके पश्चात् प्रत्येक अभ्यर्थी के नाम के मत-पत्रों को पृथक्-पृथक् करके गणना की जाती है। जो व्यक्ति सबसे अधिक मत पाते हैं वह विजयी घोषित कर दिए जाते हैं। पर इस पर एक प्रतिबन्ध है। प्रतिनिधि सभा के लिये वही व्यक्ति विजयी घोषित हो सकते हैं जिन्होंने क्षेत्र में दिए मतों में क्षेत्र के स्थानों की संख्या का भाग देने पर प्राप्त

संख्या के चौथाई मत पाये हों। पारिषद् सभा के जिलाक्षेत्रों के लिए बिजयी होने के लिये डाले मतों की संख्या में स्थानों की संख्या का भाग देने पर प्राप्त संख्या का छठा भाग और राष्ट्रीय क्षेत्रों के लिए उपरोक्त भजनफल का आठवाँ भाग प्राप्त करना आवश्यक है। इस प्रतिबन्ध के कारण कभी-कभी किसी क्षेत्र से वांच्छित संख्या में विजयी व्यक्ति प्राप्त नहीं हो पाते। पर प्रति स्थान अभ्यर्थियों की संख्या अधिक न होने से ऐसा बहुत कम होता है।

सदन में स्थान ग्रहण करने के पूर्व विजयी व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर क्षेत्र में उसके बाद सब से अधिक मत प्राप्त करने वाला व्यक्ति विजयी माना जाता है। पर सदस्यों के स्थान ग्रहण कर लेने के पश्चात् किसी सदस्य की मृत्यु हो जाने या त्याग पत्र दे देने पर उप चुनाव तब तक नहीं होते जब तक कि सम्बन्धित सदन की कुल सदस्य संख्या के चौथाई स्थान रिक्त नहीं होते।

प्रतिनिधि सभा का विघटन होने के चालीस दिनों के अन्दर ही पुनः निर्वाचन होना आवश्यक है।

चुनाव को दूषित प्रभावों से मुक्त रखने के लिये मतदाता सूची में अनधिकारी पंजीकरण कराना; अनाधिकारी मतदान करना; प्रचार नियमों का उलंघन करना; उत्कोच या अवैधानिक दान लेना, देना या माँगना; झूठी बातें प्रकाशित करना; हिन्सा या दबाव का प्रयोग करना; निर्वाचन प्रक्रिया में बाधा डालना; निर्वाचन अधिकारियों का अपना कर्त्तव्य न पालन करना; अभ्यर्थियों, उनके चुनाव व्यवस्थापकों और राजनैतिक दलों द्वारा धन सम्बन्धी हिसाब रखने और रिपोर्ट देने में धोखा देना या असावधानी करना ऐसे दंडनीय अपराध हैं जिनसे निर्वाचन अवैध घोषित किया जा सकता है, मताधिकार व अभ्यर्थी अधिकार समाप्त हो सकता है, आर्थिक दंड दिया जा सकता है और कारावास भी हो सकता है।

जापान में निर्वाचन सम्बन्धी विवादों का निर्णय करने के लिये विशेष निर्वाचन न्यायाधिकरणों (Election tribunals) की व्यवस्था नहीं है। कोई भी मतदाता या अभ्यर्थी जो संसद के किसी सदस्य के निर्वाचन की वैधता को चुनौती देना चाहता है निर्वाचन तिथि के ३० के दिन अन्दर उत्तरदायी

निर्वाचन समिति के विरुद्ध क्षेत्र के उच्चन्यायालय में मुकदमा दायर कर सकता है। मतदाता या पराजित अभ्यर्थी सफल अभ्यर्थी के विरुद्ध भी उसी न्यायालय में उसी अवधि में प्रश्नास्पद निर्वाचन को चुनौती दे सकता है। न्यायालय सम्बन्धित निर्वाचन को आंशिक या पूर्ण रूप से अवैध घोषित कर सकता है।

निर्वाचन पद्धति के दोष—जापान के निर्वाचन सम्बन्धी नियम अनेक दृष्टियों से बड़े ही सुन्दर हैं। भ्रष्टाचार को रोकने के भी सभी संभव उपाय किये गये हैं। बहु स्थानीय निर्वाचन क्षेत्रों में एक मत प्रथा से अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व मिलता है। यह भी स्वीकार किया जाता है कि युद्धोपरान्त जापानी निर्वाचन सत्य रूप में स्वतन्त्र हुए हैं।[1] इन सब गुणों के होते हुए भी उसमें कई दोष हैं जिनमें से प्रमुख दोष निम्नाङ्कित हैं :

(१) जापान की निर्वाचन प्रणाली को बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में सीमित मत का उग्र रूप (The extreme form of the Limited vote in multimember constituencies) कहा जा सकता है। यह समानुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का अत्यन्त दूषित रूप है।

(२) इसमें निर्वाचन का परिणाम दलों की निर्वाचकों में लोकप्रियता पर उतना आश्रित नहीं रहता जितना कि उस लोकप्रियता के अनुमान की सत्यता पर आश्रित रहता है। इससे यह सम्भव है कि सर्वाधिक लोकप्रिय दल को निर्वाचन में सब से कम स्थान मिलें। यह नीचे के उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगाः

मान लीजिए कि एक निर्वाचन क्षेत्र में १०,००० मतदाता हैं और तीन सदस्य चुनना है। उसमें तीन दल क ख ग चुनाव लड़ रहे हैं, जिनके समर्थक क्रमशः ४८००, ३५०० और १७०० हैं। पर अपने समर्थकों की संख्या का ठीक अनुमान न कर सकने के कारण क दल अ ब स तीन अभ्यर्थी खड़ा करता है। पर ब दल केवल दो अभ्यर्थी द य और ग दल केवल एक अभ्यर्थी ह खड़ा करता है और ये अभ्यर्थी निम्नाङ्कित संख्या में मत पाते हैं।

---

1. "Post-war Japanese elections have been truly free." Maki, J. M. *Governments and Politics of Japan*, 1962 p. 155.

दल क के अभ्यर्थी	दल ख के अभ्यर्थी	दल ग का अभ्यर्थी
अ—१६५०	द—१७७५	ह—१७००
ब—१६००	य—१७२५	—
स—१५५०	—	—

ऐसी स्थिति में सर्वाधिक लोकप्रिय दल का एक भी सदस्य विजयी नहीं होता है। जब कि सब से अधिक अलोकप्रिय दल एक स्थान पा जाता है।

(२) इस निर्वाचन पद्धति के अन्तर्गत एक सदस्य की अत्यधिक लोकप्रियता भी दल के लिये किस प्रकार अभिशाप सिद्ध हो सकती है निम्नाङ्कित उदाहरण से स्पष्ट होता है :

माना कि चार स्थानी निर्वाचन क्षेत्र के १०००० मत दाताओं में क ख ग तीन राजनैतिक दलों के समर्थक क्रमशः ७४५०, १७०० और ८५० मत-दाता हैं। क दल अपनी लोकप्रियता का ठीक अनुमान करके ४ अभ्यर्थी खड़ा करता है ख दल दो अभ्यर्थी खड़ा करता है और ग दल एक अभ्यर्थी खड़ा करता है और मतदान निम्न प्रकार से होता है :

क दल के अभ्यर्थी	ख दल के अभ्यर्थी	ग दल का अभ्यर्थी
अ—६०००	य—८४०	ज—८५०
ब—४००	ह—८६०	
स—६००		
द—४५०		

ऐसी स्थिति में ७४५० समर्थकों वाला दल केवल एक स्थान पाता है जब कि १७०० समर्थकों वाला दल दो स्थान जीत लेता है और केवल ८५० समर्थकों वाला दल एक स्थान पा जाता है। यदि क दल के सभी अभ्यर्थी समान लोकप्रियता के होते तो वह चारों स्थान जीत लेता, पर उसके एक सदस्य की लोकप्रियता दल के लिए अभिशाप बन गई। ऐसी लोकप्रियता कभी-कभी उस सदस्य के लिए ही अभिशाप बन जाती है। दल के समर्थक यह विचार करके कि वह नेता तो बड़ा ही लोकप्रिय है, वह जीत ही जायेगा दल के अन्य

अभ्यर्थियों को मत देते हैं और अति लोकप्रिय नेता धोखे में हार जाता है। जापान के निर्वाचनों के इतिहास में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है।

(४) इस निर्वाचन पद्धति की एक और बहुत बड़ी त्रुटि यह है कि एक दल के ही अभ्यर्थी अपनी अपनी विजय कामना से आपस में ही एक दूसरे के विरुद्ध प्रचार करते हैं। प्रत्येक अभ्यर्थी यह जानता है कि दूसरे दल के समर्थक तो सैद्धान्तिक आधार पर दूसरे दल का ही समर्थन करेंगे। यदि वह जीत सकता है तो अपने ही दल के समर्थकों के अधिक से अधिक मत प्राप्त करके जीत सकता है। इसी कारण जापान के राजनैतिक दलों में गुटबन्दी अधिक पायी जाती है और एक दल के सदस्य दूसरे दल के सदस्यों का विरोध करने की अपेक्षा अपने ही दल के सदस्यों का अधिक विरोध करते हैं।

(५) यद्यपि जापान में प्रचार कार्य पर बहुत से प्रतिबन्ध हैं फिर भी जितनी प्रचार तीव्रता वहाँ पायी जाती है उतनी तीव्रता सम्भवतः अन्य किसी देश के संसदीय सदस्यों के निर्वाचन में नहीं पायी जाती। और इसका कारण चुनाव प्रथा का ही दोष है। क्योंकि इसके अन्तर्गत प्रत्येक अभ्यर्थी को न केवल दूसरे दल के अभ्यर्थियों का वरन् अपने दल के अन्य अभ्यर्थियों का भी विरोध करना पड़ता है।

(६) इस निर्वाचन पद्धति से सामाजिक समेकन (social integration) में बाधा पड़ती है। अभ्यर्थी विरोधी दलों के समर्थक सामाजिक वर्ग को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न नहीं करते हैं। अल्पमत वर्ग का अभ्यर्थी भी अपने वर्ग के ही मतों को पा लेने से जीत सकने के कारण बहुसंख्यक वर्ग के समर्थकों से मिलने का प्रयत्न नहीं करता और बहुसंख्यक वर्ग का प्रत्येक अभ्यर्थी अपने वर्ग के मतदाताओं को अपने ही पक्ष में मिलाने के प्रयत्न में उनकी संकीर्ण निष्ठाओं को उभाड़ता है। इससे उग्रवादिता की अभिवृद्धि होती है।

(७) इस निर्वाचन पद्धति में धन भी अधिक व्यय होता है। प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र (केवल एक को छोड़ कर) दो से पाँच सदस्य प्रतिनिधि सभा के लिए और दो से आठ सदस्य पारिषद् सभा के लिए चुनता है। पारिषद सभा के राष्ट्रीय क्षेत्र के अभ्यर्थियों के लिए तो सारा देश ही एक निर्वाचन क्षेत्र होता

है। इन कारणों से सदस्यों का प्रचार क्षेत्र औसत रूप में तिगुना बढ़ जाता है। प्रचार व्यय सैद्धान्तिक आधार की अपेक्षा व्यक्तिगत आधार पर अधिक होने के कारण भी बढ़ता है और इस व्यक्तिगत आधार के प्रचार का कारण जैसा ऊपर कहा है, निर्वाचन पद्धति ही है। इन सभी कारणों से जापान में धनिक वर्ग और अनुदार दल का प्रभाव बढ़ रहा है।

(८) निर्वाचन में धन अधिक व्यय होने के कारण छोटे दलों और निर्दलीय व्यक्तियों को विशेष हानि होती है। बड़े दल प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र से अधिकतम अभ्यर्थी खड़े करते हैं और यह अभ्यर्थी आपस में अपने साधन मिला सकते हैं। कम से कम, दलगत सामग्री और सरकार से मिलने वाली सहायता का संयोजन करके सारे क्षेत्र में प्रभावपूर्ण प्रचार कर सकते हैं। पर छोटे दल जो एक-एक निर्वाचन क्षेत्र में एक या दो अभ्यर्थी ही खड़ा कर पाते हैं निर्वाचन व्यय की अधिकता से हानि उठाते हैं। यही स्थिति निर्दलीय व्यक्तियों की होती है। जब वर्तमान संसद में दो सदनों की योजना बनायी गयी थी उस समय यह आशा की गई थी कि पारिषद् सभा स्थानीय, व्यावसायिक तथा बौद्धिक कुलीन वर्गों का प्रतिनिधित्व करेगी। पर निर्वाचन प्रथा के कारण जो छोटे दलों, हितों, तथा निर्दलीय अभ्यर्थियों के प्रतिकूल है, यह आशा पूरी नहीं हुई। जापान में पारिषद् सभा का राष्ट्रीय निर्वाचन क्षेत्र इसी कारण अधिक लोकप्रिय नहीं है। न तो उसके लिए अभ्यर्थी ही सरलता से मिलते हैं और न मतदाता ही उसमें रुचि लेते हैं इसलिए इन स्थानों के लिए मतदान भी कम होता है।

(९) बहुस्थानी निर्वाचन क्षेत्रों के कारण निर्वाचन क्षेत्र बहुत बड़े हो जाते हैं। इससे निर्वाचकों और निर्वाचितों का सम्बन्ध निकटवर्ती नहीं रहता। मतदाता अभ्यर्थी को अपना मत उसके ज्ञात गुणों के कारण न देकर प्रचार, दल तथा अन्य प्रभावों के कारण देते हैं। इससे भी प्रचार की तीव्रता होती है। इसके अतिरिक्त सदस्य निर्वाचित हो जाने पर अपने निर्वाचकों की ओर विशेष ध्यान नहीं देता। वास्तव में वह यह जानता ही नहीं कि उसे किसने चुना है। इससे उत्तरदायित्व की उपेक्षा होती है।

(१०) इस पद्धति में एक ओर तो गुटबन्दी बढ़ती है दूरी ओर प्रत्येक गुट

यह आशा करता है कि वह बहुस्थानी निर्वाचन क्षेत्रों तथा एकमत प्रणाली से अपनी सदस्यता के अनुसार स्थान प्राप्त कर ही लेगा। सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यक्तिगत प्रचार की अधिकता से व्यक्तित्व का प्रभाव अधिक पड़ता है। इन सब कारणों से गुट पृथक् दल स्थापित करने में नहीं हिचकते। इस प्रकार यह निर्वाचन पद्धति कृत्रिम दलों की उत्पत्ति में सहायक होती है।

(११) इस निर्वाचन से भ्रष्टाचार को भी प्रोत्साहन मिलता है। इसके कई कारण हैं। प्रथम तो यह कि दलाभ्यन्तर संघर्ष की अधिकता और अपने दल के सदस्य का विरोध करने के कारण सिद्धान्त के आधार पर प्रचार नहीं हो सकता। प्रचार पद्धति तथा सामग्री पर भी प्रतिबन्ध है। ऐसी स्थिति में अभ्यर्थी स्वस्थ प्रचार अपनी इच्छानुकूल कर नहीं पाता। इसलिए वह अपना समर्थन बढ़ाने के लिये दूषित साधनों, जैसे उत्कोच, दबाव इत्यादि का प्रयोग करता है। धन के अधिक व्यय होने के कारण निर्वाचित सदस्य पिछले चुनावों के ऋणों का भुगतान करने तथा अगले चुनावों के लिये धन संग्रह करने के लिये स्वयं भ्रष्टाचार फैलाता है। जापान में राजनैतिक भ्रष्टाचार की अधिकता का यह एक प्रमुख कारण है।

(१२) सरकार से दी जाने वाली सहायता नकली अभ्यर्थियों की संख्या में वृद्धि करती है। निर्वाचन प्रचार व्यापारियों और व्यवसायियों के लिए आत्म-विज्ञापन का एक बहुत बड़ा साधन है। इसमें जितना धन अभ्यर्थी जमानत के रूप में देता है उससे अधिक मूल्य का वह प्रचार कर लेता है। सन् १९४६ में कई अभ्यर्थियों ने चुनाव के लिए मिले नियंत्रित कागज को काले बाजार में बेचा था।

(१३) इस पद्धति में उप-निर्वाचन भली-भाँति नहीं हो पाते हैं और जो होते भी हैं वह जनता का समान रूप से प्रतिनिधित्व नहीं कर पाते।

(१४) इससे जनता स्वयं सरकार का निश्चय नहीं करती। इसका निश्चय निर्वाचन के उपरान्त नेताओं की गुप्त बैठकों में होता है।

(१५) यह पद्धति बहुदल प्रथा तथा दलाभ्यन्तर संघर्ष को प्रोत्साहित करके संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनवाती है जो प्रकृति से ही दुर्बल होते हैं।

(१६) बहुदल प्रथा तथा दलाभ्यन्तर संघर्ष के कारण राजनैतिक अस्थायित्व उत्पन्न होता है। जिससे मन्त्री अधिक अनुभवी नहीं होते हैं और शासन में कुशलता नहीं बढ़ पाती है।

(१७) इस निर्वाचन प्रथा में व्यक्तित्व का प्रभाव अधिक होने से तथा निर्वाचन क्षेत्र के पूर्व पोषण के प्रभाव की अधिकता के कारण भृत्य वर्ग को राजनीति में प्रवेश करने की सरलता है। यही कारण है कि जापान की संसद् में सबसे अधिक संख्या पूँजीवादी वर्ग की है और इसके पश्चात् भृत्य वर्ग का स्थान है।

सदनों के अधिकारी—प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष को स्पीकर और पारिषद् सभा के अध्यक्ष को प्रेसीडेन्ट कहते हैं। स्पीकर और प्रेसीडेन्ट के नीचे एक-एक वाइस-स्पीकर और वाइस-प्रेसीडेन्ट होता है। अध्यक्षों (स्पीकर और प्रेसीडेन्ट) को एक लाख दस हजार येन और उपाध्यक्षों (वाइस-स्पीकर और वाइस-प्रेसीडेन्ट) को अस्सी हजार येन मासिक वेतन मिलता है। अध्यक्षों का वेतन प्रधान मन्त्री के वेतन के बराबर और उपाध्यक्षों का वेतन मन्त्रियों के वेतन के बराबर होता है। प्रत्येक सदन में एक महासचिव होता है जिसको साठ हजार येन मासिक वेतन मिलता है।

सदनों की प्रथम बैठक होने पर सदस्यों द्वारा अपने में से अध्यक्षों का चुनाव होता है। पारिषद् सभा के अध्यक्ष का चुनाव गुप्त मतदान द्वारा और प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष का चुनाव सदन के निर्णय के अनुसार गुप्त या हस्ताक्षरित मत पत्र द्वारा होता है। इसके उपरान्त इसी रीति से उपाध्यक्ष निर्वाचित किये जाते हैं। अध्यक्षों के चुनाव के समय पूर्व अध्यक्ष सदन का सभापतित्व करते हैं। पूर्व अध्यक्षों की अनुपस्थिति में पूर्व उपाध्यक्ष और उनकी भी अनुपस्थिति में महासचिव सभापति का आसन ग्रहण करते हैं। महासचिव भी सदस्यों द्वारा ही चुना जाता है।

अध्यक्षों के अधिकार और स्थिति

अध्यक्षों को अपने-अपने सदन में बहुत से अधिकार प्राप्त हैं। वह सदन की बैठकों की अध्यक्षता करते हैं और उनके बाहर वह उनका प्रतिनिधित्व

करते हैं। प्रत्येक अध्यक्ष अपने सदन की सदन व्यवस्थापक समिति (House Management Committee) के परामर्श से अपने सदन की समितियों के सदस्यों को मनोनीत करता है और एक सदस्य को एक समिति से दूसरी समिति में स्थानान्तरित कर सकता है। सदन के निदेश से वह समितियों के अध्यक्षों को भी मनोनीत कर सकता है और समितियों के अध्यक्ष प्रायः सदन अध्यक्षों द्वारा ही मनोनीत किये जाते हैं। वह सदन के सदस्यों के स्थान नियत करता है। सदन में व्यवस्था अध्यक्ष ही स्थापित रखते हैं। सदस्य उसकी स्वीकृति से ही प्रश्न पूछ सकते हैं और भाषण दे सकते हैं। वह किसी भाषण को बन्द करा सकता और सदस्यों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकता है। सदन की पुलिस अध्यक्ष के अधीन होती है और आवश्यकता पड़ने पर वह किसी सदस्य को गिरफ्तार भी करा सकता है। वह सदन के अनुमोदन से विधायकी ब्यूरो के निदेशक को नियुक्त करता है और सदन व्यवस्थापक समिति द्वारा बनाये हुए विनियमों के अनुसार ब्यूरो के कार्य की देख-रेख करता है। वह सदन व्यवस्थापक समिति के परामर्श से दिन के कार्यक्रम को निश्चित करता है। इस कार्यक्रम में सदन की अनुमति से ही परिवर्तन किया जा सकता है। सदन की कार्यवाही का विवरण अध्यक्ष की देख-रेख में तैयार और प्रकाशित किया जाता है और वह उसमें परिवर्तन कर सकता है। वह किसी भी विधेयक को उपयुक्त समिति के पास भेज सकता है या बिना समिति के समक्ष भेजे उसको सदन के विचार के लिये दैनिक कार्यक्रम में सम्मिलित कर सकता है। सदन स्वयं किसी भी विधेयक को समिति के पास भेजे बिना ही विचार के लिये निश्चय कर सकता है। वह समिति के अध्यक्ष की प्रार्थना पर किसी विधेयक पर सार्वजनिक सुनवायी की अनुमति दे सकता है। जब किसी विधेयक पर समिति का प्रतिवेदन सदन में प्रस्तुत किये जाने के लिये तैयार होता है तो अध्यक्ष सदन व्यवस्थापक समिति के परामर्श से उसे सदन के कार्य-क्रम में सम्मिलित करता है। वह विभिन्न समितियों के मध्य के क्षेत्राधिकार सम्बन्धी विवादों का निर्णय करता है, वह सदन के अधिवेशन के समय किसी समिति की बैठक करने की आज्ञा दे सकता है। वह किसी विधेयक या अन्य विषय पर स्पष्टीकरण और वाद-विवाद का अन्त

करने की आज्ञा अपनी इच्छानुसार या सदन के मत पर दे सकता है। वह निश्चय करता है कि किसी विषय पर सदन का मत स्वर मत से, सदस्यों को खड़ा करके, हस्ताक्षरित मत पत्र या गुप्त मतदान किस पद्धति से लिया जाय और सदस्यों को उसके लिये आज्ञा देता है। पक्ष-विपक्ष में मत समान होने पर वह निर्णायक मत देता है। वह सदन से प्रायः अनुपस्थित रहने वाले सदस्यों के नाम कार्यवाही हेतु समिति के पास भेज सकता है। अनुशासन भंग करने वाले सदस्यों के नाम भी वह समिति के पास भेज सकता है। समिति की संस्तुति पर किसी सदस्य को सदन बहिष्कृत भी कर सकता है पर ऐसा प्रस्ताव सदन के दो-तिहाई बहुमत से पास होना आवश्यक है। यदि वह व्यक्ति पुनः निर्वाचित हो जाता है तो उसे स्थान देना पड़ता है। अध्यक्ष सदन की बैठक को स्थगित भी कर सकते हैं।

दोनों सदनों के अध्यक्ष प्रधान मन्त्री के साथ परामर्श करके संसद के सम्राट् द्वारा औपचारिक उद्घाटन का दिन व समय निश्चित करते हैं। यह उद्घाटन पारिषद् सभा के सदन में दोनों सभाओं की संयुक्त बैठक में होता है। संयुक्त बैठक का अध्यक्ष स्पीकर होता है जो प्रारम्भिक भाषण देता है। स्पीकर की अनुपस्थिति में ये कार्य प्रेसीडेन्ट करता है।

जापान के प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष की सदन में स्थिति संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रतिनिधि सभा और इंगलैण्ड के कामन्स सभा के अध्यक्षों की स्थिति के मध्य में है। संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रतिनिधि सभा का अध्यक्ष अपने दल के हितों का सम्वर्द्धक होता है। वह अध्यक्ष निर्वाचित हो जाने पर अपने दल की सदस्यता से त्याग पत्र नहीं देता। वह सदन में बहुमत दल का सबसे बड़ा नेता होता है और अपने देश के राष्ट्रपति के बाद सबसे अधिक शक्तिशाली व्यक्ति होता है। वह अपनी मान्यता का अधिकार प्रभावपूर्ण ढंग से प्रयोग करता है। उसकी शक्तियाँ यद्यपि स्वयं अधिक महत्व की नहीं होतीं पर एक शक्तिवान अध्यक्ष उन्हें प्रयोग करके सदन के कार्य के सार और प्रक्रिया दोनों को नियंत्रित कर सकता है।[1] इसीलिए सदस्य यद्यपि अध्यक्ष के प्रति हृदय में

1. "All of these powers, none of great significance in them-

सम्मान नहीं रखते पर उससे भय खाते हैं। सदन कभी-कभी उसकी आज्ञा के विरुद्ध भी निर्णय दे देता है। उसका सदन में बहुमत न रहने पर उसके स्थान पर दूसरा स्पीकर चुना जाता है।

इंगलैण्ड का स्पीकर ईमानदारी से निर्दलीय व्यक्ति होता है। वह चुनाव के पूर्व भी बहुमत दल का बड़ा नेता नहीं होता और चुनाव के पश्चात् वह सदैव के लिए अपने दल से त्याग पत्र दे देता है और अपने अधिकारों का प्रयोग नियमों और पूर्व उदाहरणों के आधार पर पूर्ण निष्पक्षता से करता है। वह भूल कर सकता है पर पक्षपात नहीं करता। वह सदन में कभी भाषण नहीं देता और रोध भंग करने के लिये उसका मत भी सदा यथास्थिति के पक्ष में दिया जाता है। सदन में वह अल्पसंख्यकों का रक्षक माना जाता है। इसलिए सदस्य उससे भय नहीं खाते पर उसका सम्मान करते हैं और उसका निर्णय त्रुटिपूर्ण होने पर भी सदन उसके विरुद्ध कम से कम उस समय मत नहीं देता। एक बार निर्वाचित हो जाने वाला व्यक्ति निरन्तर जब तक चाहे स्पीकर चुन लिया जाता है, उसके पूर्व दल का बहुमत सदन में रहे या न रहे।

जापान का स्पीकर दलगत आधार पर चुना जाता है। वह शासक दल या दलों का प्रधानमन्त्री के पश्चात् सबसे शक्तिशाली नेता होता है। उसका वेतन, जैसा ऊपर कहा गया है, प्रधानमन्त्री के वेतन के बराबर होता है। निर्वाचन के बाद प्रायः वह अपनी दलीय सदस्यता का त्याग नहीं करता। केवल सन् १९५३ में स्पीकर याशुजिरों और वाइस स्पीकर हाराह्यो ने अपने दलों से त्याग पत्र दे दिया था। दल का बहुमत न रहने पर उसके स्थान पर दूसरा व्यक्ति स्पीकर चुना जाता है। फिर भी वह यथासम्भव निष्ठापूर्वक संसदीय नियमों को लागू करने तथा सभी सदस्यों के साथ उचित और न्याय-पूर्ण व्यवहार करने का प्रयत्न करता है। मन्त्रिपरिषद का स्वयं एक संसदीय समिति और प्रधान मन्त्री का प्रतिनिधि सभा के नेता होने के कारण सदन

---

selves, can be used by a strong Speaker to control the substance as well as the process of House action." William H. Riker; *Democracy in the United States*, 1960, p. 177.

की कार्यवाही पर उसका इतना प्रभाव नहीं होता जितना संयुक्तराज्य अमेरिका के स्पीकर का होता है और दलीय सम्बन्ध के कारण उसका उतना सम्मान भी नहीं होता जितना इङ्गलैण्ड के स्पीकर का होता है।[1] उसकी स्थिति दोनों के मध्य में है। उसका थोड़ा भय भी होता है और थोड़ा सम्मान भी और उसकी स्थिति भारतीय स्पीकर से अच्छी है। उसकी शक्ति और सम्मान दोनों ही अधिक होते हैं। उसकी अपनी निजी स्थिति होती है। वह दल या नेता का अनुगामी नहीं स्वयं एक नेता होता है।

संसद की समितियाँ—जापान की संसदीय पद्धति में समितियों का विशेष महत्व है। नये संविधान के प्रारम्भ में प्रत्येक सदन में २२ स्थायी समितियाँ स्थापित की गयी थीं पर सन् १९५५ में उनकी संख्या घटा कर १६ कर दी गयी। दोनों सदन समझौते द्वारा नयी समितियों को स्थापित कर सकते हैं और पुरानी समितियों का उन्मूलन कर सकते हैं। समितियों का चुनाव अध्यक्ष और उपाध्यक्षों के चुनाव के बाद होता है और प्रायः यह कार्य सदन के अध्यक्ष को हस्तान्तर कर दिया जाता है। इस समय की समितियों के नाम निम्नाङ्कित हैं।

(१) मन्त्रि-परिषद् समिति
(२) स्थानीय प्रशासन समिति
(३) न्यायपालिका समिति
(४) विदेश विषय समिति
(५) वित्त समिति
(६) शिक्षा समिति
(७) सामाजिक श्रम समिति
(८) कृषि-वन-मत्स्य समिति
(९) वाणिज्य समिति
(१०) यातायात समिति
(११) डाक सेवा समिति
(१२) निर्माण समिति
(१३) बजट समिति
(१४) सदन व्यवस्थापक समिति
(१५) आय-व्यय लेखा परीक्षा समिति
(१६) अनुशासन साधन समिति

1. "The Chair, which in Japan is represented by the President or Vice-president of each House, does not seem to command the same respect or exercise the same authority as in Britain." Dening, E.: *Japan*, 1960, p. 104.

अधिकांश समितियों की सदस्य संख्या बीस और तीस के मध्य में है। पर प्रतिनिधि सभा की बजट समिति में ५१ और पारिषद् सभा की बजट समिति में ४५ सदस्य होते हैं। विभिन्न समितियों में विभिन्न दलों की सदस्य संख्या सदनों में उनकी संख्या के आधार पर सदन के अध्यक्ष निश्चित करते हैं। दल अपने प्रतिनिधियों के नामों को स्वयं निश्चित करते हैं और सदन व्यवस्थापक समिति अध्यक्ष के नाम पर उनकी औपचारिक नियुक्ति करती हैं। कोई सदस्य तीन से अधिक समितियों का सदस्य नहीं हो सकता और प्रत्येक सदस्य का कम से कम एक समिति का सदस्य होना आवश्यक है। अध्यक्ष किसी सदस्य का नाम एक समिति से दूसरी समिति में स्थानान्तरित कर सकता है। किस समिति की अध्यक्षता किस दल को दी जाय यह सदन व्यवस्थापक समिति द्वारा निश्चय किया जाता है। निर्धारित दल की कार्यपालिका सदस्य का नाम निश्चित करती है और सदन का अध्यक्ष उसे औपचारिक रूप में नियुक्त करता है। अध्यक्ष प्रायः अनुभव, प्रशिक्षण और क्षमता के आधार पर चुने जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका की भाँति जापान में उनकी नियुक्ति ज्येष्ठता के आधार पर नहीं होती। समिति अध्यक्ष का स्थान अधिकारपूर्ण होता है। वह समिति के कार्यक्रम को निश्चित करता है और उसकी कार्यवाही को नियमित करता है। वह समिति का प्रतिनिधि माना जाता है और उसे एक कार और एक नौकर मिलता है। अध्यक्ष की सहायता के लिये प्रत्येक समिति एक निदेशक निर्वाचित करती है। निदेशक समिति के सदस्यों में से होता है। प्रत्येक समिति को दो वैतनिक और पूर्ण समयी अनुसन्धान सहायक मिलते हैं। ये व्यक्ति समिति में अपना स्थान त्याग करने के एक वर्ष के अन्दर किसी सरकारी पद पर नियुक्त नहीं किए जा सकते।

स्थायी समितियों के अतिरिक्त संसद समय-समय पर तदर्थ (Ad hoc) समितियाँ भी नियुक्त करती है। सदन इनके सदस्यों को निर्वाचित करते हैं और सदस्य स्वयं अपने में से एक सदस्य को अध्यक्ष चुन लेते हैं। फरवरी सन् १९६० में संसद ने अमरीका जापान सुरक्षा सन्धि पर विचार करने के लिए ४५ व्यक्तियों की एक तदर्थ समिति की नियुक्ति की थी। तदर्थ समितियाँ

इसी प्रकार के किसी निश्चित कार्य के लिए होती हैं। इन समितियों में प्रशासन की देख-रेख और जाँच करने के लिए नियुक्त की गयी समितियाँ सबसे अधिक महत्वपूर्ण होती हैं। कभी-कभी स्थायी समितियों को भी जाँच का कार्य दे दिया जाता है जो संयुक्य राज्य अमेरिका की प्रथा के विरुद्ध है। तदर्थ समितियों की कार्यावधि सदन की कार्यावधि से भी अधिक हो सकती है।

संसद् की एक संयुक्त समिति भी होती है जिसे विधायकी समिति (Legislative Committee) कहते हैं। इसमें प्रतिनिधि सभा के दस और पारिषद् सभा के आठ सदस्य होते हैं। यह सदस्य सम्बन्धित सदनों द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। दोनों सदनों के सदस्य पृथक्-पृथक् एक-एक व्यक्ति को अध्यक्ष चुनते हैं। यह दो व्यक्ति बारी-बारी से समिति की अध्यक्षता करते हैं। इस समिति का कार्य, संसद के अधिकारों, प्रक्रिया, दोनों सदनों के सम्बन्धों, संसद का मन्त्रिपरिषद से सम्बन्ध, राष्ट्रीय नीति के महत्वपूर्ण प्रश्नों आदि पर विचार करके दो-तिहाई बहुमत से पास की गयी अपनी संस्तुतियाँ दोनों सदनों को भेजना है।

स्थायी समितियों का मुख्य कार्य विधायकी प्रस्तावों पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना है और अमेरिका की कांग्रेस की भाँति समितियाँ सभी विधेयकों की प्रगति पर पूर्ण नियन्त्रण रखती हैं।[1] इस कार्य के निमित्त समितियाँ सरकार, जनता और सम्बन्धित हितों के प्रतिनिधियों को आमंत्रित कर सकती हैं। समितियों का आमंत्रण अस्वीकार करने वाला व्यक्ति सदन की मानहानि का दोषी ठहराया जा सकता है। पर सन् १६५४ में महा न्यायवादी, मुख्य सरकारी वकील, न्यायमन्त्री और प्रधानमन्त्री योशीदा ने एक समिति के सामने साक्षी के रूप में उपस्थित होने से इन्कार कर दिया था। और फिर उनके विरुद्ध कोई कार्यवाही नहीं हुई।

---

1. "As in the American Congress, committees maintain an absolute control over the flow of all bills." *A. W. Burks.*

स्थायी समितियों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण समिति सदन व्यवस्थापक समिति (House Management Committee) है। इसे साधनोपाय समिति (Committee on Ways and Means) भी कहा जाता है। इस समिति में तीस सदस्य होते हैं। इसका कार्य संसद को ठीक प्रकार चलाने, विभिन्न प्रकार की स्थायी समितियों के सदस्यों तथा अध्यक्ष की नियुक्ति करने, सदनों के नियमों की व्याख्या करने तथा उनको लागू करने, महादोषारोपण कार्यवाही की व्यवस्था करने, अध्यक्ष सम्बन्धी प्रश्नों, विशेष समितियों की स्थापना करने, समितियों को विधेयक भेजने, संसद के कार्यकाल का विस्तार करने में अध्यक्षों को परामर्श देना है। वह सदनों की कार्यवाही का क्रम निश्चय करने, सदस्यों के भाषण क्रम को निर्धारित करने, भाषण के समय को सीमित करने, तथा विभिन्न प्रतिनिधि मंडलों में जाने के इच्छुक सदस्यों के प्रार्थना पत्रों पर विचार करने में भी अध्यक्षों की सहायता करती है। वास्तव में उपरोक्त कार्य समिति स्वयं करती है। अध्यक्ष केवल उसके निर्णयों की घोषणा करते हैं। अध्यक्षों का प्रभाव समिति के सदस्यों में उसके दल की स्थिति पर निर्भर रहता है।

संयुक्त राज्य अमेरिका की भाँति जापान में भी विधायकी प्रक्रिया का आधार उसकी समिति पद्धति है। इसलिए समितियाँ ही अधिकांश रूप में सदनों की कार्यवाही के वास्तविक रूप को निश्चय करने वाली हैं। समितियाँ ही निश्चय करती हैं कि किन विधायकी प्रस्तावों को सदन के विचार के लिए उनके सम्मुख प्रस्तुत किया जाय और किन्हें प्रस्तुत न किया जाय। इस प्रकार किसी भी विधेयक पर वह संसदीय विचार को रोक सकती हैं। समितियाँ ही सरकार के विधायकी प्रस्तावों पर भी विचार करती हैं और संसद को उनकी स्वीकृति के लिए संस्तुति करती हैं। पर जापान में मन्त्रि मंडलात्मक सरकार होने से समितियाँ उतना प्रभाव नहीं रखतीं जितना कि संयुक्त राज्य अमेरिका की समितियाँ रखती हैं। इस स्थिति का प्रभाव समिति सम्बन्धी नियमों पर भी दिखायी देता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में किसी विधेयक पर उसके समिति के पास बिना भेजे हुए ही विचार करने के लिए दो-तिहाई बहुमत से सदन के

नियमों को निलम्बन करना पड़ता है पर जापान में यह कार्य साधारण बहुमत से ही हो जाता है। समिति द्वारा रोके हुए विधेयक को सदन में प्रस्तुत करने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रतिनिधि सभा के ४३५ सदस्यों में २१८ सदस्यों को तत्सम्बन्धी प्रार्थना पत्र पर हस्ताक्षर करना आवश्यक है पर जापान में ४६७ सदस्यों में केवल २० सदस्यों को ही हस्ताक्षर करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त जापान में मन्त्रि-परिषद द्वारा प्रस्तुत विधेयक को समिति नहीं रोक सकती है। संयुक्त राज्य अमेरिका की भाँति जापान में भी एक कान्फ्रेन्स समिति है जिसमें दोनों सदनों के दस-दस सदस्य होते हैं। इस समिति का कार्य विधेयकों, बजट, सन्धियों, प्रधान मन्त्री के चुनाव तथा संवैधानिक प्रश्नों पर दोनों सदनों के मतभेद को दूर करने का प्रयत्न करना है। संयुक्त राज्य अमेरिका में मतभेद के प्रश्न पर कान्फ्रेन्स समिति की बैठक अनिवार्य है पर जापान में प्रतिनिधि सभा कान्फ्रेन्स समिति के लिए अपने प्रतिनिधि मनोनीत करने से इन्कार कर सकती है।

समिति व्यवस्था के दोष—जापान में समिति पद्धति के कई दोष बताए गए हैं जिनमें कुछ प्रमुख दोष निम्नाङ्कित हैं :

(१) समितियों की जापान की व्यवस्था अध्यक्षात्मक पद्धति की समिति व्यवस्था पर आधारित है, मन्त्रिमंडलात्मक पद्धति की व्यवस्था पर आधारित नहीं है। इसलिए वह जापान की शासन प्रणाली के प्रतिकूल है।

(२) इससे विधायन कार्य में अनावश्यक विलम्ब होता है।

(३) समितियाँ मन्त्रियों का बहुत सा समय ले लेती हैं जिससे वे प्रशासन में पर्याप्त समय नहीं दे पाते।

(४) यह समितियाँ उचित विधायकी कार्यक्रम के स्थान पर संकीर्ण दल हितों के सम्बर्द्धन में लग जाती हैं, जिससे उनकी बैठकों में कभी-कभी भीषण झगड़े हो जाते हैं और वह विधेयकों पर सम्यक रूप से विचार नहीं कर पाती हैं।

(५) निहित हित समितियों को अधिक सरलता से प्रभावित कर सकते हैं। इससे समितियों की रिपोर्ट एक गम्भीर विचार का परिणाम होने की अपेक्षा

निहित हितों के प्रभाव का परिणाम कही जा सकती है। ऐसे प्रभावों से प्रभावित होने के कारण समितियाँ प्रायः प्रतिक्रियावादी प्रभाव अधिक डालती हैं।

(६) आजकल की समितियाँ प्रायः सम्बन्धित सरकारी विभागों से प्रभावित रहती हैं और उनकी चौकियों (outposts) का कार्य करती हैं। वे उनकी ही तरफ से वकालत करती हैं।

(७) समितियाँ अनावश्यक रूप से सरकारी व्ययों की वृद्धि करती हैं।

(८) यदि समितियों की संस्तुतियों पर विचार किया जाय तो स्पष्ट होगा कि वह व्ययों में कमी करने की अपेक्षा उनकी वृद्धि करने के पक्ष में मत अधिक देती हैं।

(९) समिति के सदस्य दलों के संसदीय समितियों के निर्णय को प्रकट करते हैं और समिति में मत भी उसी आधार पर देते हैं। इससे समिति की कार्यवाही की कोई उपयोगिता नहीं होती।

(१०) समितियों का निर्माण ज्येष्ठता के आधार पर न होने के कारण नेताओं के समर्थकों को महत्वपूर्ण समितियों की और अधिक सदस्यता मिल जाती है और योग्य व्यक्तियों की उपेक्षा होती है। इसलिए समितियाँ विशेषज्ञ ज्ञान वाली नहीं होतीं। वे अनुग्रह दिखाने का एक साधन बन गयी हैं।

(११) जापान में, स्थायी समितियों के वस्तुतः सम्बन्धित वर्गीयतामय कार्यपालिका विभाग के सदन में एजेन्ट या हित प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने के कारण, अमरीकी समिति पद्धति, दलाभ्यन्तर वर्गीयता के लिए उत्तरदायी है।[1]

(१२) माकी के शब्दों में "उपरोक्त प्रथम बारह समितियाँ सीधे मंत्रिपरिषद या कार्यपालिका मंत्रालयों से सम्बन्धित हैं। अनेक जापानी पर्यवेक्षकों का

1. "In Japan, the Americanized Committee system is responsible for intraparty sectionalism, because the standing committees are practically acting as the agents in the House or interest representatives of the sectionalism-ridden executive department respectively." The Report of the (Cabinet) Commission on the Constitution, Ch. IV p. 12.

विश्वास है कि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका शाखाओं के मध्य यह किकटवर्ती शृंखलता पद्धति कार्यपालिका के कार्य-भाग को दृढ़ करने का साधन बनी है। इस पद्धति की विशेषतासूचक समुपयुक्त समिति में समकक्ष मंत्रालय या कार्य-पालिका अभिकरण की, यदि आजीवका नहीं तो पृष्ठिभूमि वाले संसद सदस्यों की नियुक्ति है। यह ऐसी स्थिति उत्पन्न करती है जिसमें समिति सदस्यों की भृत्यवर्गीय निष्ठाएँ उनके विधायकी उत्तरदायित्वों तथा राज्यशक्ति के सर्वोच्च अवयव के सदस्यों के रूप में उनके संवैधानिक उच्चपद से अधिक भारवाली हो जाती है।"[1]

संसद के अधिकार—संविधान के अनुच्छेद ४१ के अनुसार 'संसद राज्य शक्ति का सर्वोच्च अवयव है' और इस दृष्टि से उसे अनेक प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं जिन्हें निम्नाङ्कित भागों में बाँटा जा सकता है :

१. विधायकी अधिकार	५. न्यायपालिका सम्बन्धी अधिकार
२. कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार	६. आत्म संगठन सम्बन्धी अधिकार
३. वित्त सम्बन्धी अधिकार	७. जनावेदन सम्बन्धी अधिकार
४. विदेश विषय सम्बन्धी अधिकार	८. संविधन संशोधन सम्बन्धी अधिकार

१. विधायकी अधिकार—संविधान के अनुच्छेद ४१ में संसद को "राज्य का अनन्य विधि निर्माणक अवयव" कहा गया है। वास्तव में विधि निर्माण करने का संसद को वृहद् अधिकार है। जापान में कार्यपालिका को

1. "The first twelve standing committees listed above are directly related to the cabinet and the executive ministries. Many Japanese deservers believe that this system of close linkage between the legislative and executive branches has tended to strengthen the role of the executive. Typical of the system has been the appointment to the appropriate committee of Diet members with backgrounds, if not carcers, in the matching ministry or executive agency. This creates a situation in which the bureaucratic loyaties of the committee members may outweigh their legislative responsibilities and their constitutional position as members of the highest organ of state power." Maki, J. M. *Op. cit.*, p. 96.

।सद्धान्त रूप में भी संसद द्वारा पारित किये विधेयकों पर निषेधाधिकार नहीं है । फिर भी संसद का प्रमुख कार्य कानून की योजना बनाना या उसका उपक्रम करना नहीं है वरन् प्रस्तावों पर विचार करना, उन्हें संशोधन करना और उन्हें स्वीकार और अस्वीकार करना है। उनकी योजना और उपक्रम करना तो मंत्रिपरिषद के हाथ में है। संसद का कार्य मुख्य रूप से निषेधाधिकार प्रयोग करना है। पर जापान में विधायनी कार्य पर मंत्रिपरिषद का उतना व्यापक प्रभाव नहीं है जितना भारत और इगलैण्ड में है। फिर भी संसद का अधिकार न तो असीमित है और न अनन्य ही है। संसद का विधायकी अधिकार देश के लिखित संविधान के अनुकूल होना चाहिए अन्यथा सर्वोच्च न्यायालय उसे असंवैधानिक घोषित कर देगा। संविधान में वर्णित जनता के मूलाधिकार उसके विधायकी क्षेत्र को सीमित करते हैं। किसी एक स्थानीय सत्ता के लिये संसद द्वारा बनाई विधि बिना उस क्षेत्र की जनता की स्वीकृति के प्रवृत्त नहीं की जा सकती। संसद की शक्ति अनन्य भी नहीं है। सदन अपने नियम स्वयं बनाते हैं। मंत्रिपरिषद अपनी आज्ञाएँ देती है और सर्वोच्च न्यायालय अपने नियम बनाता है। इन संस्थाओं के ये अधिकार संविधान प्रदत्त हैं और सर्वोच्च न्यायालय के नियम तो कहीं-कही स्पष्ट रूप से संसदीय विधियों के विपरीत हैं। संविधान का 'अनन्य' शब्द विधायकी अधिकारों के हस्तान्तरण (delegation) को कुछ सीमा तक रोकता है और इससे प्रशासन में कठिनाई का अनुभव किया जा रहा है।

२—**कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार**—संसद का दूसरा अधिकार कार्यपालिका सम्बन्धी है। वह कार्यपालिका शक्ति के प्रधान प्रधानमंत्री को निर्वाचित करती है। प्रधान मन्त्री अन्य मन्त्रियों को नियुक्त करता है। इन मन्त्रियों में से अधिकांश संसद ही के सदस्य होते हैं। संविधान के अनुच्छेद ६६ (३) के अनुसार मन्त्रिपरिषद कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में संसद के प्रति सामूहिक रीति से उत्तरदायी है। यह सामूहिक उत्तरदायित्व संसदात्मक

कार्यपालिका पद्धति का उपसाध्य है। संसद इस उत्तरदायित्व को तीन प्रकार से प्रवृत्त करती है :

क—प्रतिनिधि सभा अविश्वास प्रस्ताव पास करके या विश्वास प्रस्ताव अस्वीकार करके (अनु० ६९)

ख—प्रत्येक सदन द्वारा सरकार के कार्यों की जाँच करके, (अनु० ६२)

ग—संसद के प्रत्येक सदस्य द्वारा स्पष्टीकरण की माँग करके।

पर इन साधनों में कोई भी साधन ऐसा नहीं है जिसका प्रयोग सम्पूर्ण संसद करती हो। उपरोक्त साधनों में भी प्रथम साधन ही सबसे अधिक प्रभावपूर्ण है। इसलिए कुछ विद्वानों का मत है कि संविधान में परिवर्तन करके मंत्रिपरिषद को प्रतिनिधि सभा के प्रति उत्तरदायी लिखना चाहिए। भारतीय संविधान में ऐसी ही व्यवस्था है। उसके अनुच्छेद ७५ (३) में कहा गया है कि "मंत्रिपरिषद लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी"।

वह प्रशासन कार्यों पर भी नियंत्रण करती है। वह उसकी देख-रेख और जाँच के लिए आयोग और समितियाँ नियुक्त कर सकती है। वह प्रशासन अधिकारियों से उनके रिकार्ड और रिपोर्ट मँगा सकती है और साक्षियों को बुला सकती है।

अनुच्छेद ७२ के अनुसार मन्त्रिपरिषद का प्रतिनिधित्व करते हुए प्रधान मन्त्री उसके समक्ष सामान्य राष्ट्रीय मामलों और विदेशी सम्बन्धों पर प्रतिवेदन समर्पित करता है और दोनों सदनों के सदस्य प्रशासन के किसी विषय पर स्पष्टीकरण की माँग कर सकते हैं। ऐसी माँग पर ७ दिन के अन्दर उत्तर देना होता है।

३—**वित्त सम्बन्धी अधिकार**—राष्ट्रीय वित्त को प्रशासित करने का अधिकार जैसा संसद निर्धारित करे प्रयोग किया जाता है। संसद द्वारा प्राधिकृत किए जाये बिना न तो कोई धन व्यय किया जा सकता है और न राज्य अपने को आभारित ही कर सकता है। विधि द्वारा निर्धारित दशाओं को छोड़ कर विधि के अतिरिक्त न तो नया कर आरोपित किया जा सकता है और न वर्तमान कर का रूप भेद किया जा सकता है। आय-व्ययक में अनवेक्षित

वैकल्पों का उपबन्ध करने के लिए संसद द्वारा मंत्रिपरिषद के उत्तरदायित्व पर व्यय की जाने वाली प्रारक्षित निधि प्राधिकृत की जा सकती है। पर प्रारक्षित निधि से की जाने वाली देनगियों के लिए मन्त्रिपरिषद को संसद का तदनन्तर अनुमोदन प्राप्त करना आवश्यक है। सम्राट् परिवार के भी व्यय संसद द्वारा आय-व्ययक में विनयोगित किए जाते हैं। संसद ने विधि द्वारा लेखा परीक्षा मन्डल के संगठन की व्यवस्था की है और उसकी क्षमता निर्धारित की है। यह मंडल राज्य के राजस्वों और व्ययों के वार्षिक लेखों की परीक्षा करता है और मन्त्रिपरिपद द्वारा उस परीक्षा की रिपोर्ट संसद के समक्ष प्रस्तुत की जाती है। मन्त्रिपरिपद प्रत्येक वर्ष संसद को राष्ट्रीय वित्तीय स्थिति के बारे में अपनी रिपोर्ट देती है।

जापान में संसद के वित्तीय अधिकार भारतीय संसद के अधिकारों से अधिक हैं। संसद आय-व्ययक में दिखायी धनराशि में वृद्धि और कमी कर सकती है और संसद ने इस अधिकार का समय-समय पर प्रयोग भी किया है। कुछ लोगों का मत है कि संसद आय-व्ययक में व्यय की नयी मद भी जोड़ सकती है। पर संसद ने अभी तक इस अधिकार का प्रयोग कभी नहीं किया है।

संसद के वित्तीय अधिकार पर एक प्रतिबन्ध है। अनुच्छेद ८९ के अनुसार वह किसी धार्मिक संस्था के प्रयोग, लाभ या पोषण के लिए और ऐसे शिक्षा सम्बन्धी, पूर्त या उदार उद्योगों के लिए जो सार्वजनिक प्राधिकार में नहीं हैं कोई धन विनयोगित नहीं कर सकती। पर यह प्रतिबन्ध व्यावहारिक रूप में प्रवृत्त नहीं होता। धार्मिक संस्थाओं को उनके सांस्कृतिक तत्वों की रक्षा के नाम पर आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है और व्यक्तिगत विद्यालय विधि, लोक कल्याण सेवा विधि तथा शिशु कल्याण सेवा विधि के अन्तर्गत संसद ने सरकार को व्यक्तिगत विद्यालयों तथा पूर्त और उदार उद्योगों को आर्थिक अनुदान देने की स्वीकृति दी है।

४—**विदेश विषय सम्बन्धी अधिकार**—संसद को देश की विदेशी नीति और विदेशी सम्बन्धों पर अधिकार है। प्रधान मंत्री प्रतिवर्ष मंत्रिपरिषद की

ओर से देश के विदेशी सम्बन्धों के सम्बन्ध में संसद् को प्रतिवेदित करता है। यद्यपि सन्धि करने का अधिकार मंत्रिपरिषद् को है पर अनुच्छेद ७३ (३) के अनुसार मंत्रिपरिषद् के लिए यह आवश्यक है कि वह सन्धि के पूर्व या उसके पश्चात् उस पर संसद् का अनुमोदन प्राप्त करे। बिना संसद् के अनुमोदन के कोई सन्धि प्रवृत्त नहीं का जा सकती। पर व्यवहार रूप में इस अनुच्छेद का अक्षरशः पालन नहीं किया जाता। कुछ सन्धियाँ जिन्हें प्रशासकीय समझौतों का नाम दिया जाता है संसद् की पूर्व या तदनन्तर स्वीकृति के लिए प्रस्तुत नहीं की जाती हैं।

५—न्यायपालिका सम्बन्धी अधिकार—संसद् न्यायपालिका के ऊपर तीन प्रकार के अधिकारों का दावा करती है। प्रथम, वह विधि द्वारा संविधान के अनुच्छेदों के अन्तर्गत न्यायपालिका संगठन, न्यायाधीशों तथा अन्य कर्मचारियों का वेतन तथा न्यायालयों की कार्य प्रक्रिया निश्चित करती है। संसद् द्वारा निर्मित व्यवहार प्रक्रिया संहिता और दंड प्रक्रिया संहिताएँ न्यायालय के पूरे प्रक्रिया क्षेत्र को आच्छादित किये हैं। पर संविधान के अनुच्छेद ७७ द्वारा सर्वोच्च न्यायालय का प्रक्रिया और प्रचलन, न्यायवादियों, न्यायालयों के आंतरिक अनुशासन और न्यायिक विषयों के प्रशासन के लिए नियम निर्माण करने का अधिकार है। राजकीय अभियोक्ता तक सर्वोच्च न्यायालय की नियम निर्माणक शक्ति के आधीन हैं। संसदीय विधियां और सर्वोच्च न्यायालय के द्वारा बने नियमों का पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित नहीं है। यद्यपि सामान्य मत यह है कि संसदीय विधियाँ उच्च हैं। पर सर्वोच्च न्यायालय के कुछ नियम ऐसे हैं जो विधि अनुच्छेदों के विपरीत हैं और उनका प्रयोग हो रहा है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सर्वोच्च न्यायालय का मत सामान्य मत के विपरीत है पर उसने अभी ऐसे वाद पर अपना निर्णय नहीं दिया है। द्वितीय, संसद कर्त्तव्य की उपेक्षा करने वाले और अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने वाले न्यायाधीशों को महादोषारोपण प्रक्रिया के द्वारा पदच्युत करा सकती है। इस कार्य के निमित संसद दोनों सदनों की समान संख्या के सदस्यों के एक महादोषारोपण न्यायालय की स्थापना करती है। यह न्यायालय उन न्यायाधीशों पर दोषारोपण समिति

द्वारा लगाये आरोपों का अन्वीक्षण करती है। तृतीय, संविधान लागू होने के प्रारम्भिक वर्षों में पारिषद् सभा की न्यायिक समिति ने एक जिला न्यायालय द्वारा शिशु हत्या सम्बन्धी वाद पर दिए निर्णय के औचित्य की जाँच करना प्रारम्भ किया। सर्वोच्च न्यायालय ने न्यायिक स्वातन्त्र्य के आधार पर समिति के कार्य पर आपत्ति की। पर समिति ने संविधान के अनुच्छेद ६२ के आधार पर आपत्ति को अस्वीकार कर दिया। इस घटना के बाद ऐसी कोई जाँच नहीं की गयी है और अब ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायालय के निर्णयों के औचित्य का संसद द्वारा जाँच न करने का अभिसमय बन गया है।

६. **आत्मसंगठन सम्बन्धी अधिकार**—जैसा पहले वर्णन किया जा चुका है संसद अपने सदस्यों के निर्वाचन सम्बन्धी कानून बनाती है, अपने सदस्यों तथा अधिकारियों के कर्त्तव्यों और अधिकारों का निश्चय करती है। अपने सदस्यों की अर्हताओं का निर्णय करती है, अपने अधिकारियों और समितियों को निर्वाचित करती है और अपनी तथा समितियों की प्रक्रिया सम्बन्धी नियम बनाती है। इनमें बहुत से कार्य दोनों सदन पृथक् रूप से करते हैं। सदन दो-तिहाई बहुमत से किसी सदस्य को सदन की सदस्यता से वंचित कर सकते हैं।

७. **जनावेदन सम्बन्धी अधिकार**—सर्वोच्च शासक संस्था के रूप में संसद के दोनों सदन पृथक्-पृथक् रूप में जनता के विभिन्न प्रकार के आवेदन पत्रों पर विचार करते हैं। वे उचित आवेदन पत्रों को अपनी संस्तुति सहित उचित कार्यवाही के हेतु मंत्रिपरिषद के पास भेज देते हैं। मंत्रिपरिषद उन पर विचार करती है और अपनी कार्यवाही की सूचना सम्बन्धित सदन को देती है। जापान में आवेदन पत्र प्रथा अत्यधिक लोकप्रिय है और दोनों सदन एक-एक सत्र में २५०० और ३००० के बीच में आवेदन पत्र पाते हैं। सदन भी इनमें रुचि लेते हैं और अधिकांश आवेदन पत्र स्वीकार किए जाते हैं।

८. **संविधान-संशोधन सम्बन्धी अधिकार**—संविधान संशोधन के उपक्रम करने का अधिकार संसद के आधीन हैं। संविधान संशोधन के प्रस्ताव को पास करने के लिए यह आवश्यक है कि संसद के दोनों सदन पृथक्-पृथक्

रूप में अपने कुल सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से उसे स्वीकार करें। इस प्रकार पास हो जाने पर प्रस्ताव पर लोक परिपृच्छा में अनुसमर्थन होना आवश्यक है, जिसमें देश के समस्त मतदाताओं को मत देने का अधिकार होगा। यदि दिए गए मतों की बहुसंख्या प्रस्ताव के पक्ष में होगी तो वह परिपृच्छा में स्वीकार माना जायेगा। ऐसी स्वीकृति प्राप्त संशोधन संविधान के अखण्ड भाग के रूप में जनता के नाम से सम्राट द्वारा तुरन्त प्राख्यापित किए जायेंगे। संविधान संशोधन पर संयुक्तराज्य अमेरिका की ही भाँति जापान में भी किसी अधिकारी को निषेधाधिकार प्राप्त नहीं है। जबकि भारत में संविधान के संशोधनों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है।

इस प्रकार जापान की संसद को व्यापक अधिकार प्राप्त हैं। इसीलिये उसे 'राज्य शक्ति का सर्वोच्च अवयव' कहा गया है। पर विद्वानों का मत है कि यह कथन संविधान द्वारा प्रदत्त अन्य अवयवों के अधिकारों की दृष्टि से सत्य प्रतीत नहीं होता। जब मंत्रिपरिषद संसद के अधिक शक्तिशाली सदन प्रतिनिधि सभा को भंग करती है, आय-व्ययक पर कार्यपालिका को उपक्रम अधिकार प्राप्त है, सन्धि करने में प्रशासकीय नेतृत्व स्थापित है, न्यायालयों द्वारा संसद द्वारा पारित विधियों का पुनर्विलोकन किया जाता है, संसद को राज्य का 'सर्वोच्च अवयव' नहीं कहा जा सकता है। यही नहीं, व्यावहारिक रूप में भी संसद को सर्वोच्च अवयव नहीं कहा जा सकता है। मन्त्रिपरिष्द में निहित आलम्बन शक्ति (patronage) दलीय अनुशासन, प्रतिनिधि सभा को भंग करने के अधिकार और न्यायपालिका की कर्त्तव्य विमुखता ने संसदीय प्रभाव का ह्रास कर दिया है और 'राज्य शक्ति का सर्वोच्च अवयव' बनने के स्थान पर यह वाद-विवाद का एक स्थान और कार्यपालिका के लिए सहायी सुविधा से अधिक कुछ नहीं बनी है।"[1]

---

[1] "Instead of becoming the highest organ of state power," it has become a cockpit for debate and nothing more than the supporting facility for the executives." Linebarger, Djang and Burks : *Far Eastern Governments and Politics*, 1956, p. 532.

संसद के सदन के अधिकारों में अन्तर—दोनों सदन जनता के प्रतिनिधि हैं और संविधान की संशोधन प्रणाली, मन्त्रियों से प्रश्न पूछने, प्रशासन की जाँच करने, न्यायाधीशों पर महादोषारोपण करने, जनता के आवेदन पत्रों पर विचार करने में दोनों सदनों के अधिकार समान हैं। पर प्रधान मन्त्री का निर्वाचन करने, मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास करने, विधियों को पारित करने, आय-व्ययक पास करने और सन्धियाँ स्वीकार करने में प्रतिनिधि सभा के अधिकार अधिक निर्णायक हैं।

प्रधान मन्त्री की नामोदिष्टि पहले प्रतिनिधि सभा करती है। जो व्यक्ति सदन के मतों का पूर्ण या तुलनात्मक बहुमत प्राप्त करता है उसके द्वारा नामोदिष्ट माना जाता है। इसके पश्चात् पारिषद् सभा नामोदिष्टि प्रक्रिया करती है। यदि दोनों सदनों द्वारा भिन्न व्यक्ति नामोदिष्ट होते हैं तो दोनों सदनों की संयुक्त समिति मतभेद को दूर करने का प्रयत्न करती है। समिति के असफल होने, या प्रतिनिधि सभा द्वारा नामोदिष्ट किए जाने के पश्चात् १० दिन तक पारिषद् सभा उस पर निर्णय ही न ले पाने पर प्रतिनिधि सभा के निर्णय को संसद का निर्णय मानने की व्यवस्था है। सन् १६४८ में कातायामा के द्वारा पद त्याग करने पर प्रतिनिधि सभा ने अशीदा को तथा पारिषद् सभा ने योशीदा को नामोदिष्ट किया। पर संयुक्त समिति में अशीदा ही प्रधान मन्त्री चुना गया।

मन्त्रिपरिषद के विरुद्ध अविश्वास करने में प्रतिनिधि सभा को एकाधिकार प्राप्त है। पारिषद् सभा का इस कार्य में कोई भाग नहीं होता।

साधारण विधेयक के पास करने के सम्बन्ध में दोनों सदनों में मतभेद होने पर प्रतिनिधि सभा द्वारा दो-तिहाई बहुमत से पास कर देने पर विधेयक के विधि बन जाने की व्यवस्था है। प्रतिनिधि सभा उस विधेयक पर संयुक्त समिति की माँग भी कर सकती है। वह माँग पारिषद् सभा भी कर सकती है। पर प्रतिनिधि सभा स्वयं पहले अपने द्वारा पास किए विधेयक के सम्बन्ध में समिति के सदस्य मनोनीत करने से इनकार कर सकती है, पर पारिषद् सभा किसी भी स्थिति में इस पर इन्कार नहीं कर सकती। प्रतिनिधि सभा द्वारा पारित

विधेयक पर अधिवेशन के साठ दिनों तक पारिषद् सभा द्वारा कार्यवाही न करने पर प्रतिनिधि सभा उसे पारिषद् सभा द्वारा अस्वीकार मान सकती है।

बजट पहले प्रतिनिधि सभा में ही प्रस्तुत किया जा सकता है। प्रतिनिधि सभा द्वारा पारित बजट पारिषद् सभा के पास जाता है। यदि पारिषद् सभा भिन्न निर्णय लेती है और दोनों सदनों की संयुक्त समिति मतभेद को दूर नहीं कर पाती या पारिषद् सभा अपने अधिवेशन के ३० दिनों तक अन्तिम कार्यवाही नहीं कर पाती तो प्रतिनिधि सभा के निर्णय को ही संसद का निर्णय माने जाने की व्यवस्था है।

सन्धियाँ पहले किसी भी सदन में प्रस्तुत की जा सकती हैं पर दोनों सदनों में तत्सम्बन्धी मतभेद दूर करने के लिए बजट सम्बन्धी मतभेद दूर करने की उपरोक्त पद्धति ही प्रयुक्त होने की व्यवस्था है। सन् १९६० में की गयी जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य की 'पारस्परिक सहयोग और सुरक्षा सन्धि' इसी मतभेद दूर करने की प्रक्रिया के द्वारा ही संसद का अनुसमर्थन प्राप्त हुई। प्रतिनिधि सभा ने सन्धि को १९ मई को स्वीकार कर लिया था। पर पारिषद् सभा १९ जून तक उसे स्वीकार करने में असफल रही और इस प्रकार ३० दिन बीत जाने पर पारिषद् सभा की स्वीकृति के बिना ही वह संविधान के अनुच्छेद ६०-६१ के अनुसार संसद द्वारा स्वीकृति मान ली गयी।

पारिषद् सभा एक स्थायी सदन है पर प्रतिनिधि सभा के मन्त्रि परिषद द्वारा विघटित कर दिए जाने पर मन्त्रिपरिषद पारिषद् सभा का आपदकालीन अधिवेशन बुला सकती है और उसकी स्वीकृति से कार्य कर सकती है। विघटन के ४० दिन के अन्दर प्रतिनिधि सभा का निर्वाचन होना और निर्वाचन के ३० दिन के अन्दर उसका अधिवेशन होना आवश्यक है और यदि पारिषद् सभा द्वारा आपत्कालीन अधिवेशन में की गई कार्यवाही प्रतिनिधि सभा अपने अधिवेशन होने के १० दिनों के अन्दर स्वीकार नहीं कर लेती तो वह समस्त कार्यवाही अशक्त और प्रभावहीन हो जावेगी।

अन्तर के कारण अधिक है। इस कारण पारिषद् सभा ने विधायकी क्षेत्र में अपना प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाया है और उसने 'विध्वन्सात्मक कार्यवाही निरोध विधि' १९५२, जैसे विवादपूर्ण विधेयकों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं।

संसद के सत्र—संसद के चार प्रकार के सत्र होते हैं :

१. साधारण सत्र (Ordinary Session)
२. असाधारण सत्र (Extraordinary Session)
३. विशेष सत्र (Special Session)
४. आपदकालीन सत्र (Emergency Session)

साधारण सत्र—इसका आह्वान संविधान के अनुच्छेद ५२ के अन्तर्गत वर्ष में एक बार किया जाता है। यह प्रायः दिसम्बर मास के प्रथम दस दिनों में बुलाया जाता है। आह्वान आज्ञा २० दिन पूर्व प्रकाशित होती है। साधारणतया साधारण सत्र १५० दिन तक जारी रहता है। दोनों सदन सहमति से सत्रकाल को बढ़ा सकते हैं। मन्त्रिपरिषद सत्रकाल की अभिवृद्धि के लिए प्रार्थना कर सकती है पर आज्ञा नहीं दे सकती। पर मन्त्रिपरिषद की प्रार्थना का सम्मान साधारणतया आज्ञा के समान होता है।

असाधारण सत्र—मन्त्रिपरिषद आवश्यकता के समय अनुच्छेद ५३ के अन्तर्गत संसद का असाधारण सत्र बुला सकती है। किसी भी सदन के कुल सदस्यों के चौथाई के द्वारा प्रार्थना करने पर असाधारण सत्र आहूत करना आवश्यक है।

विशेष सत्र—विशेष अधिवेशन प्रतिनिधि सभा के निर्वाचन के पश्चात् तीस दिन के अन्दर साधारण अधिवेशन के पूर्व बुलाया जाता है। इसका आह्वान अनुच्छेद ७० के अन्तर्गत मन्त्रिपरिषद को सामूहिक रूप से त्याग पत्र देने और नये प्रधान मन्त्री के चुनने का अवसर प्रदान करना है।

आपदकालीन सत्र—प्रतिनिधि सभा का विघटन हो जाने के पश्चात् संकट की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर मन्त्रिपरिषद पारिषद् सभा का आपदकालीन सत्र आहूत कर सकती है। वित्तीय विषयों के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार के

विधेयक इस सत्र में पास हो सकते हैं। पर प्रतिनिधि सभा का अधिवेशन प्रारम्भ होने पर यदि ऐसे विधेयक दस दिन के अन्दर उसके द्वारा पारित नहीं होते तो उनका अन्त हो जाता है।

सदनों की कार्य पद्धति—सदनों की सामान्य बैठक जनता के लिये खुली होती है। प्रतिनिधि सभा की बैठक दिन के १ बजे और पारिषद् सभा की बैठक दिन के १० बजे प्रारम्भ होती है। प्रत्येक सदन की गण पूर्ति सदन की कुल सदस्य संख्या का एक तिहाई होती है। प्रतिनिधि सभा गणपूर्ति में अध्यक्ष को सम्मिलित करती है पर पारिषद् सभा उसे सम्मिलित नहीं करती है। साधारण विषयों पर निर्णय अध्यक्ष के अतिरिक्त उपस्थित सदस्यों के बहुमत से होता है। अध्यक्ष केवल मत साम्य पर ही मत देते हैं। सदन स्पष्टीकरण की माँग अध्यक्ष की स्वीकृति से करते हैं और उन्हें संक्षेप में लिखित रूप में देना पड़ता है। सदन अध्यक्ष की आज्ञा को रद्द कर सकता है। सदन की आज्ञा से तुरन्त उत्तर वाले भी प्रश्न पूछे जा सकते हैं। किसी सदस्य के प्रस्ताव पर प्रश्नों के पश्चात् वाद-विवाद और मत लिया जा सकता है। वाद-विवाद के भाषण के लिए मंच बनी है। भाषण वही व्यक्ति दे सकते हैं जो अध्यक्षों को अपना दृष्टिकोण बता देते हैं और जिनका नाम सूचीबद्ध कर लिया जाता है। वक्ताओं में समिति सदस्यों को प्राथमिकता दी जाती है। क्रम से पक्ष और विपक्ष का एक-एक व्यक्ति भाषण के लिए बुलाया जाता है। सदस्य संक्षिप्त वक्तव्य अपने स्थान से ही दे सकते हैं। अध्यक्ष स्वेच्छा से या २० सदस्यों के प्रस्ताव पर सदन के मत पर, प्रश्नों और वाद-विवाद का अन्त कर सकता और मत ले सकता है। मत चार प्रकार से दिए जाते हैं। प्रथम, स्वर मत देना। इसमें अध्यक्ष के प्रश्न पर सदस्य केवल 'आपत्ति नहीं' की आवाज देते हैं। द्वितीय, पृथक-पृथक खड़े होना। तृतीय, हस्ताक्षरित मत शलाका देना। इसमें सदस्यों के नाम पुकारने पर वह सदन के अध्यक्ष के समक्ष रखी शलाका पेटी में अपना मत डालते हैं। पक्ष के सदस्य अपनी स्वेत मत शलाका पर और विपक्ष के सदस्य नीली मत शलाका पर हस्ताक्षर करके शलाका पेटी में डालते हैं। चतुर्थ, गुप्त मत देना। इसमें सदस्य बिना हस्ताक्षर की मत शलाका शलाका-पेटी में डालते हैं। जापान में

अनुपस्थित व्यक्तियों के मत देने की व्यवस्था है। ये लोग दूसरे सदस्य को अपनी मत शलाका पर हस्ताक्षर करके दे देते हैं जो इनको उचित समय पर शलाका पेटी में डाल देते हैं।

प्रत्येक सदन में प्रत्येक तीन सप्ताह में एक बार सरकार के बारे में स्वतन्त्र वाद-विवाद होता है। ऐसे वाद-विवाद के विषय पर भी सदस्यों का मत-लिया जा सकता है। ऐसे मतों के लेने के लिए भी समय निश्चित होता है। इस प्रकार का वाद-विवाद नौसिखुओं के प्रशिक्षण के उद्देश्य से होता है और अनुभवी सदस्य इसमें अपना समय नष्ट करना पसन्द नहीं करते।

विधायकी प्रक्रिया

प्रक्रिया की दृष्टि से विधेयकों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है: १—साधारण सरकारी विधेयक, २—सरकारी वित्त विधेयक और ३—व्यक्तिगत विधेयक। प्रत्येक प्रकार के विधेयक की विधायकी प्रक्रिया में अन्तर है।

१—साधारण सरकारी विधेयक—ऐसे विधेयकों की उत्पत्ति किसी प्रशासन विभाग, जनता की स्पष्ट माँग या जनमत से होती है। मन्त्रिपरिषद अपनी बैठक में उन पर विचार करती है। महत्वपूर्ण विषयों पर विचार करने के लिये कभी-कभी आयोग नियुक्त किए जाते हैं। मन्त्रि परिषद के निदेश पर सम्बन्धित प्रशासन विभाग उसका प्रारूप तैयार करता है। मन्त्री द्वारा स्वीकार हो जाने पर प्रारूप उसके नाम से प्रधान मन्त्री के पास जाता है जो उसे मन्त्रिपरिषद के समक्ष प्रस्तुत करता है। मन्त्रिपरिषद उसे तत्वतः स्वीकार करने के पश्चात् मन्त्रि परिषदीय सचिवालय के विधायकी ब्यूरो के पास भेजती है। ब्यूरो उसकी प्रावैधिक आधार पर परीक्षा करता है और आवश्यक संशोधन करता है। कभी-कभी प्रशासन विभाग और विधायकी ब्यूरो पहले से ही संयुक्त रूप में विधेयक तैयार करके मन्त्रि परिषद के पास भेजते हैं। मन्त्रिपरिषद में विचार होने के पूर्व उस पर उपमन्त्रिपरिषद में विचार होता है। उपमन्त्रिपरिषद के निर्णय ही साधारणतया मन्त्रिपरिषद स्वीकार कर लेती है। मन्त्रिपरिषद की बैठक में परिषद का मुख्य उपसचिव और विधायकी ब्यूरो का निदेशक उपस्थित

रहता है। इस बैठक का मुख्य कार्य विभागीय मतभेदों को दूर करना होता है।

मन्त्रिपरिषद की स्वीकृति के पश्चात् विधेयक प्रधान मन्त्री के नाम से किसी सदन के अध्यक्ष के पास भेजा जाता है और पाँच दिन के अन्दर उसकी एक प्रतिलिपि प्रारम्भिक अध्ययन हेतु दूसरे सदन के अध्यक्ष के पास भेज दी जाती है। कभी-कभी सरकारी विधेयक साधारण सदस्यों द्वारा भी सदनों में प्रस्तुत कराये जाते हैं। विधेयक पाने पर अध्यक्ष सदन व्यवस्थापक समिति की संस्तुति पर उसे उचित समिति के पास भेजता है। मन्त्रिपरिषद् अपने विधेयक को प्रायः सहानुभूतिपूर्ण समिति के पास भिजवा देती है। शीघ्र आवश्यकता वाले विधेयक सदन के प्रस्ताव पर समिति के पास भेजे जाने से रोके जा सकते हैं। पर ऐसा शायद ही कभी होता है। समिति को विधेयक पर अपना प्रतिवेदन देना आवश्यक नहीं है। पर प्रधान मन्त्री द्वारा प्रस्तावित विधेयक पर समिति अपना प्रतिवेदन अवश्य देती है। समिति द्वारा विधेयक पर प्रतिवेदन न देने पर उसका अन्त हो जाता है। सदन-व्यवस्थापक-समिति के परामर्श पर किसी विधेयक को समिति के पास भेजने के पूर्व भी सदन में उस पर विचार-विमर्श किया जा सकता है।

समितियों की बैठक में प्रधान मन्त्री, अन्य मन्त्रियों तथा सरकार के प्रतिनिधियों को उपस्थित होना पड़ता है, विधेयक की व्याख्या करनी पड़ती है और प्रश्नों का उत्तर देना पड़ता है। संसद के विशेषज्ञ तथा अनुसन्धान कर्मचारी समिति को आवश्यक सहायता हेतु उपलब्ध रहते हैं। महत्वपूर्ण विधेयकों पर विचार करने के लिए समिति जनता के प्रतिनिधि भी बुलाती है। समिति का अध्यक्ष समिति की विचार प्रक्रिया के विवरण सहित उसका प्रतिवेदन और संस्तुतियाँ सदन में प्रस्तुत करता है। जो विधेयक समिति के बहुमत को मान्य न हो उसका प्रतिवेदन इत्यादि सदन में प्रस्तुत करना आवश्यक नहीं है। पर यदि २० सदस्य उसकी माँग करें तो प्रतिवेदन को सदन में प्रस्तुत करना आवश्यक है। समिति द्वारा स्वीकार विधेयक में मन्त्रिपरिषद या २० सदस्य सदन की स्वीकृति से संशोधन प्रस्तावित कर सकते हैं। विधेयक के समर्थक और विरोधी स्पष्टीकरण की माँग कर सकते हैं। स्पष्टीकरण के

पश्चात् वाद-विवाद हो सकता है। इसके पश्चात् प्रस्तावित संशोधनों और मूल विधेयक पर मत लिया जाता है।

कमेटी-विचार की स्थिति सदन द्वारा छोड़ देने पर प्रस्तावक द्वारा सदन में ही विधेयक के उपबन्धों की व्याख्या की जाती है और सदस्यों की स्पष्टीकरण की माँग तथा वाद-विवाद के पश्चात् मत लिया जाता है।

विधेयक के पारित हो जाने पर उसकी सूचना दूसरे सदन में भेज दी जाती है। दूसरा सदन प्रारम्भिक कार्यवाही और समिति-विचार पहले सदन में विधेयक के पास होने के पूर्व ही कर लेता है। प्रथम सदन से पास होने की सूचना पाते ही आगे की कार्यवाही प्रथम सदन के अनुसार होती है। एक सदन में पास विधेयक पर दूसरे सदन की समिति को अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करना आवश्यक है। प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के पश्चात् प्रश्न पूछे जाते हैं और वाद-विवाद होता है। मन्त्रियों को चाहे वह सदन के सदस्य हों या न हों सदन में उपस्थित होने, प्रश्नों का उत्तर देने और वाद-विवाद में भाग लेने का अधिकार है। इसके पश्चात् विधेयक पर मत लिया जाता है।

यदि दूसरा सदन विधेयक पास करता है तो वह विधि बन जाता है। यदि दूसरा सदन उसे स्वीकार नहीं करता या सूचना पाने से अपने अधिवेशन के ६० दिनों तक उस पर अन्तिम कार्यवाही नहीं करता तो या तो सम्मेलन समिति दो-तिहाई बहुमत से विरोध दूर करने का प्रयत्न करती है या विधेयक पर प्रतिनिधि सभा पारिषद सभा के विरोध को पार करने का प्रयत्न करती है या विधेयक छोड़ दिया जाता है। प्रतिनिधि सभा अपने भेजे हुए विधेयक पर मतभेद दूर करने के लिए कान्फ्रेन्स समिति के लिए अपने सदस्यों को मनोनीत करने से इन्कार कर सकती है। अन्य परिस्थितियों में कोई भी सदन कान्फ्रेन्स समिति में अपने प्रतिनिधि मनोनीत करने से इन्कार नहीं कर सकता। कोई सदन समिति द्वारा निश्चित प्रारूप में परिवर्तन नहीं कर सकता। प्रतिनिधि सभा पारिषद् सभा के विरोध को तभी पार कर सकती है जब वह विधेयक को दो-तिहाई बहुमत से पास करे। जापान की वर्तमान राजनीति

में किसी सदन में दो-तिहाई बहुमत प्राप्त करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

यदि विधेयक किसी विशेष क्षेत्र के बारे में है तो उस पर उस क्षेत्र की स्थानीय सत्ता की सभा की भी स्वीकृति आवश्यक है। विधेयक पास हो जाने पर उसे प्रारम्भ करने वाले सदन का अध्यक्ष उसकी सूचना मन्त्रिपरिषद द्वारा सम्राट् को देता है। सम्राट् के हस्ताक्षर होने और मुहर लगने से उस पर प्रधान मन्त्री तथा विभागीय मन्त्री प्रति हस्ताक्षर करते हैं। इसके पश्चात् वह सम्राट् की प्राख्यापन घोषणा के साथ सरकारी गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है।

वित्त विधेयक—वित्त विधेयक मन्त्रिपरिषद द्वारा ही और प्रतिनिधि सभा में ही उपक्रमित होता है। उसकी प्रतिलिपि पारिषद् सभा को प्रायः दूसरे दिन भेज दी जाती है। इस कार्य में ४ दिन से अधिक विलम्ब नहीं हो सकता। प्रतिनिधि सभा उसे बजट समिति में भेजती है जहाँ अर्थ मन्त्री उसका कारण बताता है और उसकी व्याख्या करता है। समिति अनिवार्य रूप से विभिन्न हितों के प्रतिनिधियों को अपना दृष्टिकोण प्रस्तुत करने का अवसर देती है। समिति द्वारा विचार-विमर्श समाप्त होने के पश्चात् समिति का अध्यक्ष समिति की कार्यवाही का विवरण तथा संस्तुतियाँ सभा को प्रतिवेदित करता है। इसके पश्चात् सदस्य स्पष्टीकरण की माँग कर सकते हैं, वाद-विवाद करते हैं और ५० सदस्य उसमें संशोधन प्रस्तावित कर सकते हैं। अन्त में, संशोधनों और मूल विधेयक पर मत लिया जाता है। जापान में बजट में माँगी गई धनराशि में संसद सदनों द्वारा भी कमी और वृद्धि कर दी जाती है। यद्यपि संसद द्वारा बजट के अस्वीकार तक हो जाने पर भी मन्त्रिपरिषद को पद त्यागने की आवश्यकता नहीं है, पर वह ऐसा होने पर प्रायः पद त्याग कर देती है।

प्रतिनिधि सभा द्वारा वित्त विधेयक पास हो जाने पर पारिषद् सभा के पास जाता है। दोनों सदनों में मतभेद होने पर उस पर कान्फ्रेन्स समिति की कार्यवाही होती है। यदि कान्फ्रेन्स समिति मतभेद दूर नहीं कर पाती या पारिषद् सभा प्रतिनिधि सभा से विधेयक के पास होने की सूचना पाने के अधिवेशन के ३०

दिनों में अन्तिम कार्यवाही नहीं करती तो संविधान के अनुच्छेद ६० के अनुसार प्रतिनिधि सभा का निर्णय ही संसद का निर्णय माना जाता है। कान्फ्रेन्स समिति के अतिरिक्त यह उपबन्ध ब्रिटेन के तत्सम्बन्धी उपबन्ध से मिलता-जुलता है। नये माली साल के प्रारम्भ होने के पूर्व बजट न पास हो सकने पर मन्त्रिपरिषद् अस्थायी बजट पास करा लेती है।

व्यक्तिगत विधेयक—२० सदस्य किसी विधेयक को प्रस्तावित कर सकते हैं पर धन व्यय की आवश्यकता रखने वाले विधेयक ५० सदस्यों की स्वीकृति से ही प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इनका प्रारूप लिखने में प्रस्तावकों को सदनों के विधायकी ब्यूरो और समितियों के अनुसन्धान अधिकारियों की सहायता उपलब्ध होती है। सदस्य बहुत कम विधेयक प्रस्तावित करते हैं पर प्रायः मन्त्रिपरिषद् दलीय सदस्यों द्वारा अपने विधेयक प्रस्तुत कराती है। इनके अस्वीकार होने से मन्त्रिपरिषद सम्मान-हानि से बच जाती है। प्रारम्भिक स्थिति के बाद व्यक्तिगत और सरकारी विधेयक की प्रक्रिया में कोई अन्तर नहीं है।

सदस्यों के अधिकार और उन्मुक्तियाँ—देश की सर्वोच्च विधायकी सभा के सदस्य और सम्प्रभु जनता के प्रतिनिधि होने के कारण संसद अपने सदस्यों की मान-मर्यादा और वेतन व सुविधाओं का पर्याप्त ध्यान रखती है। संविधान स्वयं उनको अपना उत्तरदायित्व पूर्ण करने में संरक्षण प्रदान करता है। संसद के सदनों में कोई विचार प्रकट करने के कारण या किसी अन्य कार्य के लिए वह सदन के बाहर दोषी नहीं ठहराये जा सकते। यदि वह अपराध करने के समय पर ही पकड़े नहीं जाते, सत्र समय में वह सम्बन्धित सदन की पूर्व स्वीकृति के बिना बन्दी नहीं किये जा सकते। सत्र प्रारम्भ होने के पूर्व किसी भी अपराध के लिए बन्दी बनाये गये व्यक्ति को सत्र प्रारम्भ होने पर सदन द्वारा उसके छोड़ने की माँग करने पर सत्रावधि के लिये छोड़ना पड़ता है।

सदस्यों का वेतन भी पर्याप्त है। प्रत्येक सदस्य को ७८,००० येन मासिक वेतन, १,००० येन प्रतिदिन सत्र और समिति काल का भत्ता, १०,००० येन अधिवेशन कालीन डाक भत्ता और २०,००० येन प्रतिमास व्यक्तिगत सचिव,

कार्यालय और टेलीफून के लिए मिलता है। उनको सरकारी रेलों, बसों तथा जहाजों पर अधिकारिक कार्य के लिए यात्रा करने को पास मिलता है। अधिकारिक डाक को वह बिना टिकट लगाए भेज सकते हैं। उसे कार्यालय स्थान और एक सचिव भी मिलता है और निवृत्त काल के भत्ते की भी व्यवस्था है।

सदस्यों की मन्त्री, संसदीय उपमन्त्री, सरकारी प्रतिनिधि, आयुक्त परामर्श-दाता तथा अन्य बहुत से प्रशासकीय पदों पर सदस्यता के साथ ही साथ नियुक्ति की जा सकती है। पर नियुक्ति के पूर्व उनके सदन की स्वीकृति लेना आवश्यक है। सदन स्वीकृति देने में बड़े उदार हैं और ऐसी नियुक्तियाँ समस्त सदस्यों की विचार स्वतन्त्रता को प्रभावित करती हैं।

सदन स्वयं अपने सदस्यों पर दुराचरण के लिए अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकते हैं। दंड रूप में सदस्य की निन्दा की जा सकती है, उससे क्षमा मँगायी जा सकती है, उसे निलम्बित किया जा सकता है और बहिष्कृत किया जा सकता है। पर यदि बहिष्कृत सदस्य पुनः निर्वाचित हो जाय तो उसे सदन में स्थान देना पड़ता है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. जापान की वर्तमान संसद मेइजी संविधान के अन्तर्गत स्थापित संसद से किन रूपों में समान और किन रूपों में भिन्न है?

२. जापान की वर्तमान संसद की गठन पद्धति का विस्तारपूर्वक वर्णन करिये और भारतीय संसद की गठन पद्धति से उसकी तुलना करिए।

३. 'जापान के राजनैतिक प्रतिमान की एक मुख्य त्रुटि मतदान व्यवस्था से सम्बन्धित है' (हरमेन्स) इस कथन की समीक्षा करिए।

४. जापान की प्रतिनिधि सभा के अध्यक्ष के अधिकारों और स्थिति का वर्णन करिए और उसकी संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत के अध्यक्षों से तुलना करिए।

५. सभापति जिसका जापान में प्रधिनिधित्व प्रत्येक सदन में अध्यक्ष या उपाध्यक्ष करता है न तो वह सम्मान पाता और न वह प्राधिकार प्रयोग

करता प्रतीत होता है" (डेनिंग) इस कथन की दृष्टि से जापान तथा ब्रिटेन के निम्न सदनों के अध्यक्षों की स्थिति की तुलना करिए।

६. जापान की संसद की समिति प्रणाली का वर्णन करिए और जापान तथा संयुक्तराज्य अमेरिका की कांग्रेस की समितियों की स्थित की तुलना करिए।

७. जापान की संसद की समिति प्रणाली के दोषों का वर्णन सकारण बतलाइए।

८. जापान की संसद के अधिकारों का वर्णन करिए और ब्रिटिश संसद के अधिकारों से उसकी तुलना करिए।

९. जापान के संसद के दोनों सदनों के सम्बन्ध का वर्णन करते हुए पारिषद् सभा की स्थिति की परीक्षा करिए।

१०. जापान की पारिषद् सभा के गठन और स्थिति का भारत तथा ब्रिटेन के उच्च सदनों के गठन और स्थिति से तुलना करिए।

११. जापान की संसद की विधायकी प्रक्रिया का वर्णन करिए।

१२. "राज्य शक्ति का सर्वोच्च अवयव' बनने के स्थान पर यह वाद-विवाद का एक स्थान और कार्यपालिका के लिए सहायक सुविधा से अधिक कुछ नहीं है" (बर्क्स) इस कथन की दृष्टि से जापान की संसद की शक्तिहीनता और उसके कारणों का वर्णन करिए।

●

न्यायपालिका | ७

"Whatever the solution, the separation and supremacy of the judicial power is integral to the maint-nance of rights."

H. J. Laski.

विभिन्न देशों की शासन व्यवस्थाओं को अध्ययन करने से निष्कर्ष निकलता है कि सर्वोत्तम शासन-प्रणाली वह है जिसमें व्यक्ति या शक्ति के स्थान पर विधि का शासन है और कुछ वैयक्तिक कार्यक्षेत्र साधारणतया सरकार के नियन्त्रण से मुक्त हों। इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक है कि सरकार को स्वेच्छाचरिता का अवसर न मिले और वह विवश होकर विधि के अनुसार शासन करे। सरकार को विधि के अनुसार शासन करने के लिए विवश करने के लिये यह आवश्यक है कि शासन के मूल सिद्धान्त लिखित हों और सरकार सरलता से उनका परिवर्तन न कर सके। इसीलिए साधारणतया प्रजातन्त्र देश के लिए लिखित और कुपरिवर्तनशील संविधान को अनिवार्य नहीं तो आवश्यक अवश्य ही समझा जाता है। इङ्गलैंड में भी

कभी-कभी इस अभाव का अनुभव होता है। पर केवल लिखित और कुपरिवर्तनशील संविधान ही विधि शासन स्थापित करने में सफल नहीं हो सकता। जैसा अध्याय २ में वर्णन किया जा चुका है, जापान का मेइजी संविधान लिखित भी था और कुपरिवर्तनशील भी। पर उसके अन्तर्गत स्थापित शासन विधि शासन नहीं था और इसका एक प्रमुख कारण यह भी था कि उसमें उसे प्रवृत्त करने के लिए किसी स्वतन्त्र संस्था की व्यवस्था नहीं थी। संविधान को समुचित रूप में प्रवृत्त करने के लिए यह आवश्यक है कि इस कार्य का भार एक ऐसी संस्था पर हो जो स्वयं राजनैतिक शक्ति का प्रयोग न करती हो। चूंकि संविधान की प्रवृत्ति के लिए उसकी व्याख्या करने की आवश्यकता होती है, इसलिए उस संस्था को उसकी व्याख्या करने के लिए प्रावैधिक दृष्टि से योग्य होना चाहिए। संविधान की प्रवृत्ति के लिए मुख्य रूप से दो कार्य आवश्यक हैं : प्रथम नकारात्मक और द्वितीय, सकारात्मक। नकारात्मक कार्य तो यह है कि संविधान में वर्णित मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध किये जाने वाले कार्यों और उसका उल्लंघन करने वाले अधिनियमों, नियमों, विनियमों और आज्ञाओं को वह अशक्त घोषित कर सके। और सकारात्मक कार्य से तात्पर्य है कि वह संविधान में वर्णित कार्यों को करने के लिए सम्बन्धित अधिकारियों को परमादेश दे सके। पर सरकार संविधान के मूल सिद्धान्तों के विरुद्ध अधिनियम, नियम इत्यादि ही नहीं बना सकती है, वरन् संविधान के अनुकूल अधिनियम बना कर उन अधिनियमों के विरुद्ध कार्य करके विधि शासन का अन्त कर सकती है। इसलिए यह भी आवश्यक है वह संस्था संविधान और उसके अन्तर्गत बने अधिनियमों दोनों को ही प्रवृत्त करे, उनके कार्यों के प्रतिकूल को रोके तथा अनुकूल कार्यों को करने का परमादेश दे। निश्चय ही, ऐसी संस्था न्यायपालिका ही हो सकती है।

न्यायपालिका को विधि का शासन प्रवृत्त करने का भार देने के पहिले यह भी आवश्यक है कि उसका संगठन ऐसा हो जिससे वह स्वयं विधि का शासन विनष्ट करने की इच्छा न करे। इसके लिए दो आवश्यकताएँ हैं; प्रथम, न्यायपालिका स्वयं राजनैतिक शक्ति का प्रयोग न करे; और द्वितीय, वह राज-

नैतिक शक्ति प्रयोग करने वाले अधिकारियों और संस्थाओं के प्रभाव से मुक्त हो, अर्थात् वह स्वतन्त्र हो। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की आवश्यकता केवल निरंकुश राजतन्त्री और कुलीनतन्त्री शासन में नहीं होती, वह प्रतिनिधि शासन में उससे अधिक आवश्यक है। राजतन्त्री और कुलीनतन्त्री शासन अल्प-संख्यक शासन होते हैं और अल्प संख्यक शासन विद्रोह और क्रान्ति के भय से कभी भी उतने कठोर और अत्याचारी नहीं हो सकते जितने कि प्रतिनिधि शासन हो सकते हैं। प्रतिनिधि शासन बहुसंख्यक वर्ग के शासन होते हैं इसलिये उनको क्रान्ति का भय नहीं होता। यह बहुसंख्यक वर्ग मूलवंश, रंग, धर्म, जाति, क्षेत्र आर्थिक हित तथा अन्य कारणों पर आधारित होते हैं और इस कारण उनमें उग्रता अधिक और स्थायी होती है। इसलिए प्रतिनिधि मूलक प्रजातन्त्र शासन स्थापित करने पर सबसे बड़ी समस्या इस सङ्कट का प्रतिकार करना है। थोड़ा सा विचार करने से प्रकट होगा कि इस सङ्कट को भी न्याय-पालिका को स्वतन्त्र बनाने से ही कम किया जा सकता है। इसलिए न्याय-पालिका का पृथक्करण और उसकी उच्चता प्रजातन्त्र सरकार का यदि अनिवार्य नहीं तो आवश्यक लक्षण समझा जाता है।

न्यायपालिका की स्वतंत्रता से अभिप्राय है कि उसके न्यायाधीश अपने कार्यों और स्थिति दोनों ही में स्वतन्त्र हों। इसलिए जहाँ एक ओर यह आवश्यक है कि कोई भी अधिकारी संस्था न्यायाधीशों को उनके कार्यों के सम्बन्ध में निदेश या आज्ञा न दे सके, वहीं पर दूसरी ओर यह भी आवश्यक है कि किसी अधिकारी या संस्था द्वारा किसी न्यायाधीश का कार्यकाल, वेतन और अन्य सुविधा न तो प्रतिकूल रूप में प्रभावित की जा सकें और न विभेद करके अनुकूल रूप में प्रभावित हो सकें। क्योंकि दोनों स्थिति में न्यायाधीश अपने निर्णय में उक्त अधिकारी या संस्था द्वारा प्रभावित किए जा सकते हैं। न्यायपालिका की यह स्वतन्त्रता न केवल किसी संस्था या अधिकारी के विरुद्ध होना चाहिए वरन् समस्त जनता के विरुद्ध भी होना आवश्यक है। यदि जनता की सनक को आघात पहुँचाने पर भी न्यायाधीशों को परिवर्तित किया जा सका तो न्यायपालिका बहुसंख्यक वर्ग के अत्याचार से अल्पसंख्यक वर्ग की रक्षा करने में समर्थ नहीं

होगी। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता स्थापित करने के लिए यह भी आवश्यक है कि न्यायाधीशों की नियुक्ति पक्षपात के आधार पर न हो। क्योंकि जो व्यक्ति पक्षपात के आधार पर नियुक्त होगा उससे स्वयं निष्पक्षता की आशा नहीं की जा सकती है। और निष्पक्षता स्वतन्त्रता का उपसाध्य है। इस दृष्टि से न्यायधीशों की निर्वाचन द्वारा नियुक्ति बिना अपवाद के सर्वाधिक दोषपूर्ण है क्योंकि निर्वाचन या तो राजनैतिक आधार पर होता है या गुणों का बिना सन्तुलन किए हुए ही होता है। यदि जनता को श्री गजेन्द्रगद्कर या श्री रघुवर दयाल और डा० राममनोहर लोहिया में एक को न्यायाधीश चुनना हो तो डा० लोहिया लगभग निश्चय चुन लिए जायेंगे यद्यपि श्री गजेन्द्रगद्कर और श्री रघुवर दयाल में न्यायाधीश होने की सभी योग्यताएँ है और डा० लोहिया में सम्भवतः एक भी नहीं।[1] निर्वाचन पद्धति जैसा संयुक्तराज्य अमेरिका के कुछ राज्यों का अनुभव है, एक ओर तो न्यायाधीशों की स्वतंत्रता में बाधा डालती है और दूसरी ओर निम्न योग्यता के व्यक्तियों को न्याय मूर्ति के पद पर आसीन करती है। न्यायिक पद में लिए प्रावैधिक क्षमता की अपेक्षा होती है और निर्वाचन प्रक्रिया उसके मूल्याङ्कन की उचित पद्धति नहीं है। अतः निष्कर्ष स्पष्ट है कि सुयोग्य न्यायधीशों की नियुक्ति मनोनयन पद्धति द्वारा ही हो सकती है पर इसके लिये सुरक्षणों (safeguards) की आवश्यकता है, अन्यथा मनोनयनकर्त्ता अपने अनुकम्पित व्यक्तियों को ही पदासीन करेगा। इङ्गलैण्ड तक में लगभग पिछले ८० वर्षों से मुख्य न्यायाधीश का पद राजनैतिक सेवा के आधार पर दिया हुआ बताया जाता है। इसलिए प्रो० लास्की का सुझाव है कि जब कभी उच्चतर न्यायालय के न्यायाधीश का पद रिक्त हो न्यायाधीशों की एक समिति नीचे के न्यायालयों के न्यायाधीशों के कुछ नामों की सूची को मनोनयन अधिकारी को प्रस्तुत करें और मनोनयन अधिकारी उसमें से आवश्यक नियुक्ति कर दे। पर

---

[1]श्री गजेन्द्रगद्कर तथा श्री रघुवर दयाल दोनों भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश हैं और डा० लोहिया भारतीय समाजवादी दल के वरिष्ट नेता हैं।

ऐसी सूची पद रिक्त होने पर ही तैयार की जाय एक प्रतीक्षक सूची के रूप में पूर्व से नहीं। अल्प-काल की नियुक्तियों और पुनर्नियुक्ति की पद्धति भी न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता की विनाशक है। इसलिए एक बार नियुक्त हो जाने पर न्यायाधीश को सदाचार पर्यन्त अपने पद पर कार्य करना चाहिए और ७० वर्ष की आयु प्राप्त करने पर अवकाश ग्रहण कर लेना चाहिए। न्यायाधीशों के कदाचार को रोकने के लिए प्रायः सभी देशों में संसद सदस्यों द्वारा दो तिहाई बहुमत से महाभियोग प्रक्रिया का उपबन्ध है। पर दल पद्धति के कारण इस प्रक्रिया की उपयोगिता कम हो गयी है और शासक नेता इसके द्वारा न्यायाधीशों को भयभीत करते देखे गये हैं। इसलिए इसमें सुधार की आवश्यकता प्रतीत होती है और एक उचित सुझाव यह कहा जा सकता है कि न्यायधीशों पर आरोप व्यवस्थापिका के दोनों सदनों के दो-तिहाई बहुमत से किया जाय और उसका परीक्षण और निर्णय एक विशेष समिति द्वारा किया जाय जिसमें सदनों के अध्यक्ष, उच्च न्यायाधीशों के चार प्रतिनिधि, महाधिवक्ता, वकील परिषद (Bar Council) के चार प्रतिनिधि और इन सबके द्वारा चुने विश्वविद्यालयों के विधिशास्त्र के चार प्रोफेसर हों। आशा है कि ऐसी संस्था आरोप परीक्षण स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता से कर सकेगी और न्यायाधीशों को राजनैतिक दबावों से बचा सकेगी।

जापान में न्यायालय संगठन—जापान का वर्तमान न्यायालय संगठन ३ नवम्बर सन् १९४६ को प्राख्यापित नवीन संविधान पर, जो प्राख्यापन तिथि के ६ मास उपरान्त ३ मई १९४७ को प्रवृत्त हुआ, तथा उसके आधार पर बने न्यायालय संगठन विधि (The Court Organization Law), जो अप्रैल १६, १९४७ को प्राख्यापित हुआ और संविधान के साथ ही प्रवृत्त हुआ, आधारित है।

न्यायालय संगठन रेखा चित्र[1]
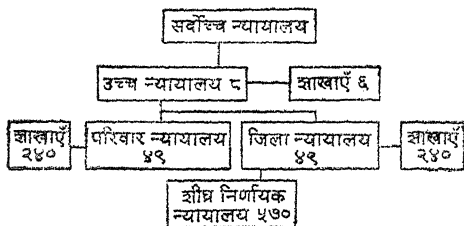
देश का सबसे ऊँचा न्यायालय सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) है जो देश की राजधानी टोकियो में स्थित है। उसके नीचे आठ उच्च न्यायालय (High Courts) हैं जो टोकयो, नगोया, ओसाका, हिरोशिमा, फुकुओका, सेंडाई, सप्पोरा और ताकामात्सु में स्थित हैं। इनकी ६ शाखाएँ हैं जो कानाजावा, मात्सु, ओसायामा, अकीता, मियोजार्की और हाकोदातो में स्थित हैं। इनके नीचे ४६ जिला न्यायालय हैं जिनमें से एक टोकियो में, ४ होकैदो में और शेष ४४ में से प्रत्येक जिले में एक-एक है। इन जिला न्यायालयों की २४० शाखाएँ हैं जो लगभग प्रत्येक बड़े नगर में स्थित हैं। परिवार न्यायालय जिला न्यायालय के ही भाग के समान है और इनकी तथा शाखाओं की संख्या भी वही है। जिन-जिन स्थानों पर जिला न्यायालय या उनकी शाखाएँ हैं उन्हीं स्थानों पर पारिवारिक न्यायालय या उनकी शाखाएँ हैं। जिला न्यायालय के नीचे शीघ्र निर्णायक (Summary Courts) हैं जिनकी संख्या ५७० है।

सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court)

संगठन—सर्वोच्च न्यायालय देश का सबसे ऊँचा न्यायालय है। यह

---

[1]जापान के सर्वोच्च न्यायालय द्वारा प्रकाशित Organization and Procedure Chart of Japanese Courts (1961) p. 1 पर आधारित।

टोकियो में स्थित है पर न्यायालय संगठन विधि १९४७ के अनुच्छेद ६९ (२) के अनुसार सर्वोच्च न्यायालय, जब वह आवश्यक समझे, न्यायालय के अधिवेशन अन्य स्थानों पर भी कर सकता है। न्यायालय एक साथ ही न्यायिक, प्रशासकीय, पर्यवेक्षी और नियामक संस्था है। न्यायिक कार्य को वह तीन छोटे न्यायमण्डलों (Petty Benches) और एक बड़े न्याय मण्डल, (Grand Bench) द्वारा करता है। प्रत्येक छोटे न्यायमंडल में ५ न्यायाधीश होते हैं पर बड़े न्याय मंडल में पूरे पन्द्रह न्यायाधीश बैठते हैं। प्रत्येक मंडल के साथ एक अनुसन्धान कक्ष होता है। प्रशासन कार्य एक अध्यक्ष और सभा (Assembly) द्वारा किया जाता है। मुख्य न्यायाधिपति (Chief justice) सभा का अध्यक्ष होता है और अन्य न्यायाधीश (justices) उसके सदस्य होते हैं। पर्यवेक्षी (Supervisory) कार्य मुख्य रूप से मुख्य न्यायाधिपति द्वारा ही किया जाता है। सभा नियमों का निर्माण करती है और उनको तथा संसद द्वारा पास किये गये न्यायपालिका सम्बन्धी अधिनियमों को प्रवृत्त कराती है। इस कार्य के लिए उसके नीचे महा सचिव की प्रधानता में एक संभाग (Division) और सात ब्यूरो हैं। संभाग न्यायालय-विषयों को देखता है। सातों ब्यूरो (Bureau) क्रमशः सामान्य, वैयक्तिक, आर्थिक, दीवानी (Civil) दंडीय (Criminal) प्रशासकीय और परिवार विषयों के हैं। इनके अतिरिक्त दो पृथक विभाग हैं जिनमें एक सचिव विभाग है जिसमें न्यायाधीशों के व्यक्तिगत सचिव होते हैं और दूसरा लोक सूचना विभाग है। वैयक्तिक ब्यूरो में भर्त्ती, प्रतिकर, कुशलता, जाँच और न्याय साम्य (Equity) खंड हैं। अर्थ विभाग के अन्तर्गत सामान्य विषय, बजट, पर्यवेक्षण, पूर्ति और निर्माण तथा मरम्मत खंड है। अन्य ब्यूरों में भी तीन-तीन खंड हैं।

सर्वोच्च न्यायालय के अंतर्गत तीन संस्थान भी हैं :

१. वैधानिक अनुसंधान तथा प्रशिक्षण संस्थान (Legal Research and Training institute);

२. न्यायालय लिपिकों हेतु अनुसंधान तथा प्रशिक्षण संस्थान (Research and Training institute for Court clerks); और

३. परिवार न्यायालय परिवीक्षण अधिकारी हेतु संस्थान (Institute for Family Court Probation officers)

इन संस्थानों के अतिरिक्त पुस्तकालय भी है।

सर्वोच्च न्यायालय का रेखाचित्र[२]
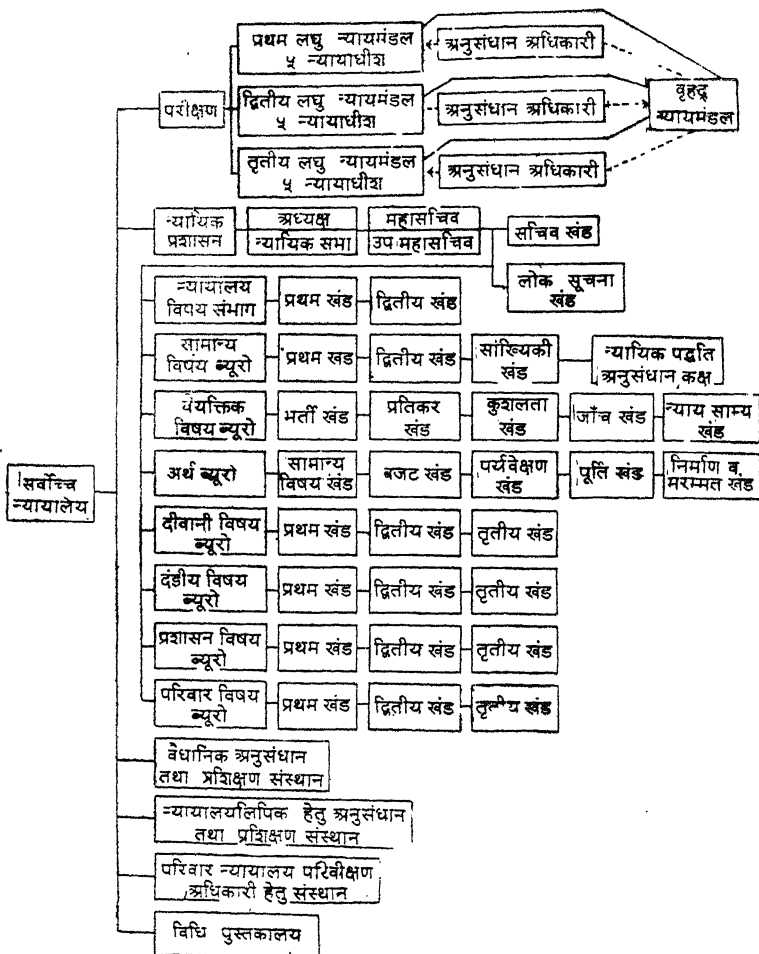
[२]स्रोत Organization and Procedure Chart of Japanese Courts, 1961, p. 2.

न्यायाधीश—भारत में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या संविधान द्वारा निर्धारित है पर सँयुक्त राज्य अमेरिका की भाँति ही जापान का संविधान भी न्यायाधीशों की संख्या निश्चित नहीं करता। संविधान का अनुच्छेद ७९ इस सम्बन्ध में केवल इतना ही कहता है कि 'सर्वोच्च न्यायालय एक मुख्य न्यायाधीश और न्यायाधीशों की ऐसी संख्या से जो विधि द्वारा निर्धारित की जाय, मिल कर बनेगा। इस प्रकार न्यायाधीशों की संख्या विधि के द्वारा निश्चित की जाती है और वर्तमान समय में सर्वोच्च न्यायालय में मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त चौदह अन्य न्यायाधीश हैं। यह संख्या न्यायालय संगठन विधि (Court Organization law) १९४७ के अनुच्छेद ५ के द्वारा निश्चित है। यह अनुच्छेद कुछ अस्पष्ट सा है। कंडिका १ में लिखा है : सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश एक मुख्य न्यायाधीश, जो मुख्य न्यायाधिपति कहलाता है, और अन्य न्यायाधीश, जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधिपति कहलाते हैं, होंगे। कंडिका २ कहती है कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश चौदह होंगे। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण न्यायाधीश, जिनमें मुख्य न्यायाधीश भी सम्मिलित हैं, चौदह होंगे।

संविधान द्वारा न्यायाधीशों की संख्या निश्चित न होने से यह लाभ अवश्य है कि संविधान संशोधन की लम्बी प्रक्रिया किए बिना ही आवश्यकतानुसार न्यायाधीशों की संख्या की वृद्धि और कमी की जा सकती है। पर इससे एक भय भी है। सत्तारूढ़ दल अवैधानिक कार्यों का अनुमोदन कराने के लिए कभी भी न्यायाधीशों की संख्या की संसद द्वारा वृद्धि करा सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के कारण कार्यपालिका ऐसा विधेयक दुरुपयोग के उद्देश्य से पास नहीं करा पाती। सन् १९३७ में वहाँ की सीनेट ने राष्ट्रपति रूजवेल्ट का न्यायपालिका पुनर्संगठन विधेयक (Judiciary Reorganization Bill) को न्यायालय संवेष्टन (Packing of the Court) की आशंका से ही अस्वीकार कर दिया था। पर जापान में शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त लागू नहीं है और इसलिए मंत्रिपरिषद का संसद पर

नियन्त्रण अमेरिका से अधिक है। इसलिए जो संयुक्त राज्य अमेरिका में सम्भव नहीं हुआ वह जापान में सम्भव हो सकता है।

नियुक्ति पद्धति---मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति संविधान के अनुच्छेद ६ (२) और न्यायालय संगठन विधि १९४७ के समान आशय वाले अनुच्छेद ३९ (१) के अनुसार सम्राट् द्वारा मंत्रिपरिषद की नामोदिष्टि पर की जाती है और अन्य न्यायाधीश संविधान के अनुच्छेद ७९ और विधि के अनुच्छेद ३९ (२) के अनुसार मंत्रिपरिषद द्वारा की जाती है। न्यायाधीशों की नियुक्ति सम्राट् द्वारा अभिप्रमाणित (attest) की जाती है।

सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की प्रथम नियुक्ति एक 'न्यायाधीश नियुक्ति मंत्रणा समिति' (Advisory Committee on the Appointment of Judges) का मंत्रणा पर की गयी थी। इस समिति में निम्नांकित सात प्रकार के पन्द्रह सदस्य थे :

१. प्रतिनिधि सभा का अध्यक्ष,

२. पारिषद् सभा का अध्यक्ष,

३. सभी न्यायाधीशों में से निर्वाचित चार न्यायाधीश,

४. लोक अभियोक्ताओं (Public Prosecutors) और पूर्व प्रशासक न्यायालय के न्यायाधीशों में से निर्वाचित एक व्यक्ति,

५. क्रियाशील वकीलों में से निर्वाचित चार व्यक्ति,

६. प्रधान मंत्री द्वारा मनोनीत विधिशास्त्र के दो प्रोफेसर, और

७. प्रधान मंत्री द्वारा मनोनीत दो अन्य व्यक्ति।

समिति ने पूर्ति किए जाने वाले पन्द्रह स्थानों के दूने अर्थात् तीस व्यक्तियों के नाम समर्पित किये और उनमें पंद्रह व्यक्तियों की नियुक्तियाँ की गयीं। इस समिति को सन् १९४८ में उन्मूलित कर दिया गया और अब यह नियुक्तियाँ मंत्रिपरिषद द्वारा उसी के अनन्य उत्तरदायित्व पर होती हैं। सन् १९५७ में न्यायपालिका के सुधार के लिए संसद में प्रस्तावित एक विधेयक में ऐसी समिति की पुनर्नियुक्ति का उपबन्ध था पर उसमें प्रस्तावित सुधारों पर मतभेद होने के कारण संसद में उस पर अन्तिम मत नहीं लिया गया। ऐसी समिति निश्चय ही योग्य

व्यक्तियों को न्यायाधीश के पद की ओर आकर्षित करेगी और पक्षपात पूर्ण नियुक्तियों का अवसर कम हो जायेगा।

अर्हताएँ—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति के लिए न्यायालय संगठन विधि के अनुच्छेद ४१ में निम्नांकित अर्हताएँ निश्चित हैं :

१. आयु चालीस वर्ष से कम न हो,

२. दृष्टिकोण विशाल और विधि का विस्तृत ज्ञान हो,

उनमें से कम से कम दस व्यक्तियों ने नीचे लिखे (१) या (२) पदों पर कम से कम दस वर्ष और उनके नीचे के एक या अधिक पदों पर कुल बीस वर्ष कार्य किया हो :

१. उच्च न्यायालय का अध्यक्ष,

२. न्यायाधीश,

३. शीघ्र निर्णायक न्यायालय के न्यायाधीश,

४. लोक अभियोक्ता,

५. वकील, और

६. विधि द्वारा विनिश्चित विश्वविद्यालयों के विधि विज्ञान के प्रोफेसर और सहायक प्रोफेसर

(१) और (२) पद पर पाँच वर्ष तक और (३) से (६) पदों पर दस वर्ष के अनुभव वाले व्यक्तियों ने यदि सहायक न्यायाधीश, न्यायालय के अनुसन्धान अधिकारी, सर्वोच्च न्यायालय के महा सचिव, एक न्यायालय के सचिव, विधि प्रशिक्षण व अनुसन्धान संस्थान के अध्यापक, न्यायालय लिपिकों हेतु अनुसंधान व प्रशिक्षण संस्थान के अध्यापक, न्याय मंत्रालय के उपमंत्री, न्याय मंत्रालय के सचिव या न्यायमंत्रालय के शिक्षा अधिकारी के पद पर कार्य किया हो तो ये पद उपरोक्त सूची के (३) से (६) पदों में सम्मिलित माने जाएँगे।

जिस व्यक्ति को साधारण सरकारी अधिकारी के रूप में नियुक्त नहीं किया सकता, या जिसने कारावास का दंड पाया है, या जो महाभियोग न्यायालय द्वारा पदच्युत किया गया है, वह न्यायाधीश के रूप में नियुक्त नहीं किया जाता है।

पदावधि—सर्वोच्च न्यायालय के समस्त न्यायाधीश सत्तर वर्ष की आयु तक अपने पद पर रह सकते हैं। पर निम्नांकित तीन दशाओं में वह इसके पूर्व भी पदच्युत किए जा सकते हैं :

१. लोक पुनर्विलोकन (Popular Review) संविधान के अनुच्छेद ७६ (२-३) और न्यायालय संगठन विधि १६४७ के अनुच्छेद ३६ (४) में न्यायाधीशों के लोक पुनर्विलोकन का उपबन्ध है। अनुछेच्द ७६ (२-३) में लिखा है कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति उनकी नियुक्ति के पश्चात् होने वाले प्रतिनिधि सभा के सदस्यों के प्रथम महानिर्वाचन में जनता द्वारा पुनर्विलोकित की जायगी और दस वर्ष बीतने के पश्चात् प्रतिनिधि सभा के सदस्यों के प्रथम महानिर्वाचन पर और उसके पश्चात् उसी प्रकार पुनः पुनर्विलोकित की जायेंगी। इस अनुच्छेद से यह स्पष्ट नहीं है कि न्यायाधीश शब्द के अन्तर्गत मुख्य न्यायाधीश आता है या नहीं। इसी अनुच्छेद की प्रथम कंडिका में लिखा है कि सर्वोच्च न्यायालय एक मुख्य न्यायाधीश और न्यायाधीशों की ऐसी संख्या से बनेगा जो विधि द्वारा विनिश्चित की जाय। इस कंडिका के साथ दूसरी कंडिका पढ़ने पर कुछ लेखक यह निष्कर्ष निकालते हैं कि मुख्य न्यायाधीश के लिए प्रत्याहरण (Recall) का नियम नहीं है और इस निष्कर्ष की पुष्टि वह इस तथ्य से करते हैं कि सन् १६४६ के महानिर्वाचन में केवल १४ न्यायाधीशों का ही लोक पुनर्विलोकन हुआ था। पर सभी न्यायाधीशों का पुनर्विलोकन एक साथ होना आवश्यक नहीं है इसलिए इस तथ्य का प्रमाण रूप में कोई मूल्य नहीं है। यदि प्रथम कंडिका के उत्तरांश 'सभी ऐसे न्यायाधीश, अतिरिक्त मुख्य न्यायाधीश के, मन्त्रिमंडल द्वारा नियुक्त किए जायेंगे' के साथ प्रथम उद्धृत कंडिका को पढ़ा जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि उसमें प्रयुक्त न्यायाधीश शब्द के अन्तर्गत मुख्य न्यायाधीश भी आता है। न्यायालय संगठन विधि का अनुच्छेद ३६ (४) तो इस सम्बन्ध में पूर्ण रूप से स्पष्ट है। इसमें यह लिखा है : "सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति की और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधिपतियों की नियुक्ति विधियों के अनुसार जो लोक पुनर्विलोकन का उपबन्ध करती हैं, जनता द्वारा पुनर्विलोकित की जायेगी। प्राप्त सूचना से भी यही

ज्ञात हुआ है कि पुनर्विलोकन प्रक्रिया मुख्य न्यायाधीश पर भी लागू होती है।

इस समय तक लोक पुनर्विलोकन पद्धति से किसी न्यायाधीश की पदच्युति नहीं हुई है। पदच्युति के पक्ष में प्रायः दस प्रतिशत से नीचे मत रहते हैं और इस पक्ष में दिए सर्वाधिक मत १२.५ प्रतिशत रहे हैं। विरोधी मतों की इस अल्प प्रतिशत का कारण पुनर्विलोकन की पद्धति बतायी जाती है। एक पत्र पर जिसमें उन सभी न्यायाधीशों के नाम दिये होते हैं जिनका उस समय पुनर्विलोकन होना होता है, मत दाता को अवांच्छनीय व्यक्ति के सामने धन (+) का निशान लगाना होता है। जिन न्यायाधीशों के सामने यह निशान नहीं लगा होता मत उनके पक्ष में माना जाता है। यह कहा जाता है कि यदि मत प्रकट करने की पद्धति उलटी हो तो बहुत से न्यायधीशों के विरुद्ध मत दान हो जायेगा।

जैसा अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया है न्यायाधीशों की नियुक्ति-पुनर्विलोकन-पद्धति न्यायिक स्वतंत्रता और कुशलता के लिये अनुकूल नहीं मानी जाती है। जान स्टुअर्ट मिल ने अपनी रिप्रेटेजेंटिव गवर्नमेंट नामक पुस्तक में इस पद्धति के दोषों का वर्णन करते हुए लिखा है: 'यदि एक न्यायाधीश लोक मत द्वारा पद से हटाया जा सकेगा तो जो भी उसे हटाने या उस स्थान को स्वयं लेने का इच्छुक होगा उस प्रयोजन हेतु उसके सभी न्यायिक निर्णयों से भीषण अपराध की रूपरेखा बनाएगा और उन सबको जहाँ तक वह क्रियात्मक पायेगा अनियमित अभ्यर्थना द्वारा, विवाद को न सुने होने या न्यायिक सुनवायी से सम्बद्ध निष्पक्षता, या सावधानी के बिना सुने होने के कारण, पूर्ण रूप से अक्षम जनमत के समक्ष ले जाएगा; लोक आवेश और घृणा को जहाँ कहीं वह होगी उभाड़ेगा और जहाँ न होगी उत्पन्न करने का प्रयत्न करेगा। और इसमें, यदि विवाद रुचि पूर्ण है और उसने पर्याप्त परिश्रम किया है तो, जब तक न्यायाधीश या उसके मित्र अखाड़े में नहीं आते और दूसरे पक्ष में समान रूप से शक्तिपूर्ण अभ्यर्थना नहीं करते तो वह निश्चय ही सफल हो जाएगा। न्यायाधीशों में यह भावना आ जायेगी कि सामान्य रुचि के आकर्षण की क्षमता वाले विवाद के प्रत्येक निर्णय पर वह अपना

पद जोखिम में डालते हैं और उनके लिए यह विचार करना कि कौन निर्णय उसकी अपेक्षा जो जनता द्वारा सर्वाधिक अभिनन्दित किया जा सकता है या सबसे कम छलपूर्ण अयथार्थ रूप में प्रस्तुत किया जा सकता, अधिक न्यायोचित है, कम आवश्यक है।"[१] ऐसी पद्धति के अन्तर्गत धनी के विरुद्ध निर्धन, वाचाल के विरुद्ध शान्त, राजनैनिक गुण्डों के विरुद्ध सम्भ्रान्त, राजनैतिक दलों के विरुद्ध निर्दलीय, और सरकार के विरुद्ध व्यक्ति को न्याय पाना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जायेगा। ऐसी स्थिति में न्यायिक पुनर्विलोकन और मूलाधिकारों की उपयोगिता यदि नष्ट नहीं तो कम अवश्य हो जायगी। बर्क्स के अनुसार यह सन्देह पूर्ण है......कि यह पुनरीक्षण कोई प्रभावपूर्ण रोक स्थापित करता है क्योंकि न्यायालय का कार्य, यद्यपि एक अत्यधिक सामाजिक और राजनैतिक महत्व का होता है एक नाटकीय प्रचार के वातावरण में नहीं सम्पादित किया जाता है।[२] माकी लोक पुनर्विलोकन के इस उपबन्ध की आलोचना करते हुए लिखता है: "सर्वोत्तम रूप में यह लोक सम्प्रभुता की दिशा में एक औपचारिक चेष्टा है, निकृष्टतम रूप में यह किसी न्यायाधीश के निर्णयों में, उसकी पदावधि के आगामी अनुसमर्थन पर दृष्टि से, राजनैतिक अभिमति अन्तःक्षिप्त करने का दुर्भाग्यपूर्ण प्रभाव डाल सकता है या विलोम रूप के यह न्यायिक मत को दोलायित करने के प्रयत्न में दबाव डालने वाले समूहों द्वारा प्रयोग किया जा सकता है। विधि के अन्तर्गत, किसी भी प्रकार से अयोग्यता का निदर्शन करने वाले न्यायाधीशों से न्यायालय को मुक्त करना सम्भव है। इसलिए लोक पुनर्विलोकन का यह उपबंध संविधान का सर्वाधिक

---

१ Everyman's library edition के पृष्ठ २४० से अनुवादित।

२ Burks, A. W. "It is doutful······that this referendum has constituted an effective check because the business of the courts although of a tremendous social and political significance, is not performed in an atmosphere of dramatic publicity." *The Government of Japan*, 1961, p. 160.

परित्याज्य प्रकरण प्रतीत होता है।"[3] इस उपबन्ध का दोषपूर्ण प्रभाव सर्वोच्च न्यायालय के अब तक के ही निर्णयों से स्पष्ट हो गया है। सर्वोच्च न्यायालय ने निरन्तर कार्यपालिका के कार्यों तथा व्यवस्थापिका द्वारा पारित विधियों को असंवैधानिक घोषित करने से इन्कार किया है। उसने स्वयं पालायनवादी नीति अपना ली है और सन्दिग्ध संवैधानिकता वाले विधेयकों का उपचार जनता का चुनाव अधिकार बतलाया है।

२. महाभियोग प्रक्रिया—न्यायाधीशों को कर्त्तव्योपेक्षा और असम्मानीय आचरण के लिए कदाचार के अपराध पर महाभियोग पद्धति से पदच्युत किया जा सकता है। महाभियोग का आरोप प्रतिनिधि सभा द्वारा किया जा सकता है और उसका परीक्षण और निर्णय चौदह सदस्यों की एक समिति द्वारा किया जायेगा। इसे संविधान में महाभियोग न्यायालय कहा गया है। इस समिति में प्रतिनिधि सभा तथा पारिषद् सभा दोनों के सात-सात सदस्य होंगे। अभी तक किसी न्यायाधीश के विरुद्ध महाभियोग प्रक्रिया प्रयुक्त नहीं हुई है। यद्यपि न्यायाधीशों के विरुद्ध महाभियोग की व्यवस्थापिका द्वारा की जाने वाले प्रक्रिया का उपबन्ध किसी न किसी रूप में प्रत्येक प्रमुख राज्य के संविधान में पाया जाता है पर इसका परीक्षण और निर्णय करने वाली उपयुक्त संस्था व्यवस्थापिका का कोई सदन या समिति नहीं है। यह कार्य पूर्व वर्णित किसी निष्पक्ष स्वतंत्र एवं वैधानिक व्याख्या करने में कुशल समिति द्वारा किया जाना चाहिए।

३. न्यायिक निर्णय—न्यायिक सेवा के विरुद्ध न्यायाधीशों के अपराधों

---

[3] "At best, this is a formal gesture in the direction of popular sovereignty; at worst, it might have the unfortunate effect of injecting a political bias into the decisions of some justice, with an eye toward the coming approval of his tenure, or, conversely it could be used by pressure groups to attempt to sway judicial opinion. Under the law, it is possible to rid the bench of justices who demonstrate unfitness in any way. The "popular review" provision seems, therefore, to be the most dispensable item in the consitution." John M. Maki, *Government and Politics, of Japan*, 1962, p. 106.

और उनकी शारीरिक और मानसिक क्षमता की परीक्षा करने का अधिकार स्वयं न्यायालय को है। वह किसी गलती पर उनको दंड दे सकता है। उसे मानसिक या शारीरिक रूप से अक्षम घोषित करने का भी अधिकार है। सन् १९५० में न्यायालय ने अपने चार सहयोगियों को दंड विधि के एक नये नियम को न देखने के अपराध में त्याग-पत्र देने की आज्ञा दी और उस आज्ञा का पालन न करने पर उन पर दस दस हजार येन का जुर्माना कर दिया। पर दंडों का यह अन्तर स्पष्ट बताता है कि न्यायालय के न्यायाधीश अपने सहयोगियों के विरुद्ध द्वेष भाव से कार्यवाही कर सकते हैं या उदारता से नाम मात्र का दंड दे सकते हैं। दस हजार येन तो एक न्यायाधीश के चार दिन के वेतन के भी बराबर नहीं है।

वेतन—मुख्य न्यायाधीश को एक लाख दस हजार येन और अन्य न्याया-धीशों को अट्ठासी हजार येन मासिक वेतन मिलता है। मुख्य न्यायाधीश का वेतन प्रधान मंत्री और प्रतिनिधि सभा तथा पारिषद सभा के अध्यक्षों के वेतन के समान है और अन्य न्यायाधीशों का वेतन मंत्रियों तथा उपाध्यक्षों के वेतन के समान है। संविधान के अनुसार किसी भी न्यायाधीश का वेतन उसके कार्य काल में कम नहीं किया जा सकता।

निवन्धन—सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों और अन्य न्यायाधीशों को निम्नांकित कार्य प्रतिषेध कर दिये गये हैं :

(१) संसद या स्थानीय लोक सत्ताओं की सभाओं का सदस्य होना या राजनैतिक आन्दोलनों में भाग लेना;
(२) सर्वोच्च न्यायालय की स्वीकृति बिना प्राप्त किए अन्य वैतनिक पद धारण करना,
(३) कोई वाणिज्य सम्बन्धी कारबार या एक ऐसा कारबार करना जिसका उद्देश्य आर्थिक लाभ हो।

उपरोक्त प्रतिषेध न्यायिक स्वतन्त्रता तथा निष्पक्षता के लिए आवश्यक है और उनके विरुद्ध कोई आपत्ति नहीं की जा सकती है।

कार्य—सर्वोच्च न्यायालय राज्य की सर्वोच्च न्यायिक संस्था है और न्याय-

पालिका तथा कार्यपालिका के कार्य सम्बन्धी पृथक्करण के कारण सर्वोच्च न्याया-लय को न्यायिक कार्यों के साथ अन्य कई प्रकार के कार्य करना पड़ते हैं। इन सभी कार्यों को निम्नाङ्कित भागों में बाँटा जा सकता है :

(१) न्यायिक;

(२) नियम निर्माण सम्बन्धी;

(३) न्यायिक प्रशासन सम्बन्धी;

(४) प्रशिक्षणात्मक;

(५) अनुसन्धान सम्बन्धी;

(६) पर्यवेक्षण सम्बन्धी;

(१) न्यायिक कार्य—सर्वोच्च न्यायालय देश का सबसे ऊँचा न्यायालय है। इसलिए उसके अधिकांश न्यायिक कार्य नीचे के न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध अपीलें सुनना है। यद्यपि अन्तिम न्यायालय के रूप में सर्वोच्च न्यायालय किसी भी प्रकार की अपील सुन सकता है पर साधारणतया वह दंडीय (criminal) और व्यावहारिक (civil) दोनों प्रकार के विवादों में निम्नाङ्कित अपीलें सुनता है :

अ—उच्च न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध द्वितीय स्थिति के न्यायालय के रूप निम्न प्रकार के वादों में द्वितीय अपीलों को सुनना :

क—संविधान से सम्बन्ध रखने वाले प्रश्नों वाले वाद;

ख—न्यायिक दृष्टान्तों के प्रतिकूल निर्णय वाले वाद; और

ग—विधियों और अध्यादेशों का सारपूर्ण उल्लंघन।

आ—प्रक्रिया संहिता में वर्णित प्रक्रिया सम्बन्धी विशेष शिकायतों को सुनना।

इसके अतिरिक्त अपने तथा उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के न्यायिक सेवा के स्तर के विरुद्ध अपराधों और उनकी मानसिक तथा शारीरिक क्षमता सम्बन्धी विवादों का निर्णय करने तथा राष्ट्रीय कार्मिक शक्ति के आयुक्तों के विरुद्ध संसद द्वारा लाये महाभियोग आरोपण के परीक्षण के लिए सर्वोच्च न्यायालय को मौलिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है।

संविधान के अनुच्छेद ८१ के अनुसार किसी विधि, आज्ञा, नियम या अधिकारिक कार्य की संवैधानिकता की परीक्षा करने और इस कार्य के लिए संविधान की व्याख्या करने का अन्तिम अधिकार सर्वोच्च न्यायालय को ही है। जापान की शासन व्यवस्था में सन् १९४७ में प्रथम बार यह अधिकार किसी न्यायालय को दिया गया। न्यायिक पुनर्विलोकन का यह कार्य सम्पूर्ण न्यायाधीशों की बड़ी बेंच द्वारा किया जा सकता है और कम से कम ९ व्यक्तियों के बहुमत से ही किसी विधि, नियम या आज्ञा को असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है। संवैधानिकता के प्रश्न पर जिला न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील सीधे सर्वोच्च न्यायालय में जा सकती है।

न्यायिक पुनर्विलोकन की व्यवस्था संयुक्त राज्य अमेरिका के आदर्श पर की गयी है पर जापान में न तो वहाँ का शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त अपनाया गया है और न वहाँ के विधि शास्त्रियों में विचार स्वतंत्रता की ही परिपाटी है। फलतः वहाँ के न्यायाधीश इस अधिकार का प्रयोग करने में हिचकिचाहट अनुभव करते हैं। अब तक एक भी महत्वपूर्ण विधि या प्रशासकीय कार्य को असंवैधानिक नहीं घोषित किया है। न्यायालय ने यह भी घोषित किया है कि निश्चित वाद के निर्णय करते समय ही न्यायालय किसी विधि या आज्ञा की संवैधानिकता पर विचार कर सकता है। उसे संवैधानिकता की अमूर्त समस्याओं पर विचार करने का अधिकार नहीं है। १६ दिसम्बर सन् १९५९ के एक निर्णय में न्यायालय सुरक्षा सन्धि की संवैधानिकता का विचार उसे राजनैतिक प्रश्न कह कर अपने क्षेत्राधिकार के बाहर घोषित कर दिया है।

२. **नियम निर्माण सम्बन्धी कार्य**—न्याय से सम्बन्ध रखने वाले विषयों पर व्यवस्थापिका द्वारा बनायी विधियों को कार्यान्वित करने के लिए और जिन विषयों के सम्बन्ध में व्यवस्थापिका ने कोई विधि निर्माण ही न की हो उन्हें नियमित करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय नियम बनाता है। संविधान के अनुच्छेद ७७ में लिखा है कि "सर्वोच्च न्यायालय में वह नियम निर्माणात्मक शक्ति निहित है जिसके अन्तर्गत वह प्रक्रिया और प्रचलन के और न्यायवादियों, न्यायालयों का अनुशासन और न्यायिक विषयों के प्रशासन के

नियम निर्धारित करेगा। राजकीय अभियोक्ता सर्वोच्च न्यायालय की नियम निर्माणिक शक्ति के आधीन हैं। सर्वोच्च न्यायालय निम्न न्यायालयों के लिए नियम निर्माण करने की शक्ति को ऐसे न्यायालयों को हस्तान्तरित कर सकता है।" वह जिला न्यायालयों द्वारा मारशलों की नियुक्ति और विभिन्न न्यायालयों द्वारा न्याय से सम्बन्ध रखने वाले अधिकारियों की नियुक्ति और पदोन्नति सम्बन्धी नियम भी बनाता है। उच्च न्यायालयों, जिला न्यायालयों और परिवार न्यायालयों द्वारा न्यायिक अनुसन्धान अधिकारियों, सचिवालय के प्रधान के अतिरिक्त न्यायालय के अन्य सचिवों, लिपिकों, सहायक लिपिकों, स्टेनोग्राफरों, सहायक स्टेनोग्राफरों, परिवार न्यायालय के परिवीक्षण अधिकारियों (Probation Officer) और न्यायालयों के प्रावैधिक अधिकारियों की नामोदिष्टि सम्बन्धी नियम सर्वोच्च न्यायालय द्वारा ही बनाये जाते हैं। न्यायिक अपरैण्टिसों की नियुक्ति के अध्ययन और परीक्षा सम्बन्धी विषयों के नियम भी सर्वोच्च न्यायालय ही बनाता है।

सर्वोच्च न्यायालय यह नियम निर्माण सम्बन्धी कार्य एक न्यायिक सभा (Judicial Assembly) द्वारा करता है। इस सभा के सदस्य सर्वोच्च न्यायालय के समस्त न्यायाधीश होते हैं और उसका सभापति मुख्य न्यायाधिपति होता है।

३. **न्यायिक प्रशासन सम्बन्धी कार्य**—सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक प्रशासन के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्वपूर्ण अधिकार प्रदान किए गये हैं। वह मन्त्रिपरिषद द्वारा की जाने वाली सर्वोच्च न्यायालय के अतिरिक्त अन्य न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्तियों के लिए योग्य व्यक्तियों की सूचियाँ बनाता है। मंत्रिपरिषद इसी सूची में लिखे व्यक्तियों को ही न्यायाधीश के पदों पर नियुक्त कर सकती है। सर्वोच्च न्यायालय किसी भी उच्च न्यायालय के क्षेत्र में उस न्यायालय की शाखाएँ स्थापित कर सकता है और उनको उच्च न्यायालय के कार्यों के कुछ भाग हस्तान्तरित कर सकता है। शाखाएँ स्थापित करने पर वह उसमें कार्य करने वाले न्यायाधीशों को नामोदिष्ट कर सकता है। विशेष परिस्थितियों में सर्वोच्च न्यायालय एक उच्च

न्यायालय के न्यायाधीश को दूसरे उच्च न्यायालय में या दूसरे उच्च न्यायालय के ही क्षेत्र के जिला या परिवार न्यायालय के न्यायाधीश को उसके क्षेत्र के उच्च न्यायालय में कार्य करने की आज्ञा दे सकता है। इसी प्रकार विशेष परिस्थितियों में सर्वोच्च न्यायालय एक जिला न्यायालय के न्यायाधीशों को दूसरे जिला न्यायालय में कार्य करने की आज्ञा दे सकता है। वह उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को भी जिला न्यायालय में कार्य करने की आज्ञा दे सकता है। सर्वोच्च न्यायालय किसी जिला न्यायालय की शाखाएँ स्थापित कर सकता है और उसमें कार्य करने के लिए न्यायाधीश नामोदिष्ट कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय प्रत्येक जिला न्यायालय के एक न्यायाधीश को मुख्य न्यायाधीश के रूप में नामोदिष्ट करता है जो जिला न्यायालय के प्रशासकीय कार्यों का पर्यवेक्षण करता है और न्यायालय की न्यायिक सभा की अध्यक्षता करता है। जिस शीघ्र निर्णायक न्यायालय में से एक से अधिक न्यायाधीश होते हैं सर्वोच्च न्यायालय उनमें एक न्यायाधीश को प्रशासकीय कार्यों को प्रशासित करने के लिए नामोदिष्ट करता है। सर्वोच्च न्यायालय निम्न न्यायालयों के न्यायाधीशों को उनके पदों पर नियत करता है। वही उच्च न्यायालयों, जिला न्यायालयों और परिवार न्याया-लयों के सचिवालयों के मुख्य अधिकारी को न्यायालयों के सचिवों में से नियुक्त करता है। वही परिवार न्यायालय के प्रोबेशन अधिकारियों में से एक को मुख्य प्रोबेशन अधिकारी नियुक्त करता है। वह अपने न्यायालय के न्याय से सम्बन्ध न रखने वाले अधिकारियों को नियुक्त करता है। न्यायिक अपरेंटिस सर्वोच्च न्यायालय द्वारा ही नियुक्त और पदच्युत किये जाते हैं। सर्वोच्च न्यायालय के तीनों संस्थानों के अध्यापकों तथा अन्य प्रथम श्रेणी के अधिकारियों की नियुक्ति तथा उन पर अनुशासनात्मक कार्यवाही सर्वोच्च न्यायालय की संस्तुति पर मन्त्रिपरिषद करती है। द्वितीय श्रेणी के व्यक्ति सर्वोच्च न्यायालय द्वारा ही नियुक्त और नियंत्रित होते हैं। वह संस्थानों के अध्यापकों में से उनके प्रधानों को नियुक्त करता है

४. **प्रशिक्षणात्मक कार्य**—सर्वोच्च न्यायालय के अन्तर्गत तीन संस्थान हैं : १—विधि प्रशिक्षण तथा अनुसन्धान संस्थान; २—न्यायालय लिपिक हेतु

अनुसन्धान तथा प्रशिक्षण संस्थान; ३—परिवार न्यायालय प्रोबेशन अधिकारी संस्थान। यह संस्थान न्यायाधीशों, अन्य अधिकारियों, लिपिकों, अपरिण्टसों आदि को प्रशिक्षा देते हैं। प्रथम संस्थान में उच्च लोक सेवा की न्यायिक परीक्षा पास विद्यार्थी प्रशिक्षा ग्रहण करते हैं। चार मास के प्रारम्भिक परीक्षण में वाद-विवाद के आधार पर कानून का प्रायोगिक पक्ष और निर्णय लिखना समझाया जाता है। इसी समय वह अवलोकनात्मक भ्रमण करते हैं। इसके पश्चात् १६ मास की प्रयोगात्मक प्रशिक्षा होती है जिसमें आठ मास जिला न्यायालय में, चार मास लोक अभियोक्ता के कार्यालय में और चार मास वकील संघ में प्रशिक्षा दी जाती है। इसके पश्चात् चार मास संस्थान में सामूहिक प्रशिक्षा होती है। अन्तिम परीक्षा पास करने पर, जो मुख्य न्यायाधीश की अध्यक्षता में एक समिति द्वारा ली जाती है, सफल व्यक्ति सहायक न्यायाधीश के पद पर नियुक्त होने के योग्य हो जाते हैं और दस वर्ष के अनुभव के बाद पूर्ण न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए योग्य हो जाते हैं। वकील तथा अभियोक्ता का कार्य भी इस परीक्षा के उत्तीर्ण करने पर ही किया जा सकता है। न्यायाधीशों की एक सेवाकालीन वार्षिक परीक्षा भी होती है जो सर्वोच्च न्यायालय द्वारा ही ली जाती है।

५. **अनुसन्धान सम्बन्धी कार्य**—न्यायिक विषयों पर अनुसन्धान का कार्य 'विधि प्रशिक्षण तथा अनुसन्धान संस्थान' और 'न्यायालय लिपिक हेतु अनुसन्धान तथा प्रशिक्षण संस्थान' द्वारा किया जाता है। प्रथम संस्थान न्यायिक विषयों पर तथा द्वितीय संस्थान लिपकीय कार्य पर अनुसन्धान करता है। कुछ न्यायिक अनुसन्धान अधिकारी सर्वोच्च न्यायालय में भी होते हैं जो न्यायाधीशों की आज्ञा पर न्यायिक प्रक्रिया पर अनुसन्धान करते हैं। संस्थान में प्रशिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को एक-एक विषय पर अनुसन्धान लेख लिखना पड़ता है।

६. **पर्यवेक्षण सम्बन्धी कार्य**—सर्वोच्च न्यायिक और न्यायिक प्रशासन की संस्था के रूप में सर्वोच्च न्यायालय और उसके मुख्य न्यायाधीश को बहुत से पर्यवेक्षी अधिकार प्राप्त हैं। सर्वोच्च न्यायालय को अपने अधिकारियों, निम्न न्यायालयों और उनके अधिकारियों का पर्यवेक्षण करने का अधिकार प्राप्त है। पर यह

पर्यवेक्षण अधिकार न्यायालयों के न्यायिक शक्ति को प्रभावित नहीं कर सकता है। मुख्य न्यायाधीश सर्वोच्च न्यायालय के सचिवालय का पर्यवेक्षण करता है और उसी के पर्यवेक्षण में 'विधि प्रशिक्षण तथा अनुसन्धान संस्थान', 'न्यायालय लिपिकों हेतु अनुसन्धान तथा प्रशिक्षण संस्थान', और 'परिवार न्यायालय के प्रोबेशन अधिकारी संस्थान' के प्रधान तथा सर्वोच्च न्यायालय पुस्तकालय का निदेशक कार्य करते हैं।

उच्च न्यायालय

संगठन—सर्वोच्च न्यायालय के नीचे जापान में ८ उच्च न्यायालय और उनकी ६ शाखाएँ हैं। प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक अध्यक्ष और सात से चौसठ तक अन्य न्यायाधीश होते हैं। आवश्यकता पड़ने पर उच्च न्यायालय अपने क्षेत्र के किसी जिला न्यायालय के न्यायाधीश को उसमें कार्य करने की आज्ञा दे सकता है। सर्वोच्च न्यायालय अन्य उच्च न्यायालय या दूसरे उच्च न्यायालय के क्षेत्र के जिला न्यायालय या परिवार न्यायालय के न्यायाधीश को उच्च न्यायालय में कार्य करने की आज्ञा दे सकता है। उच्च न्यायालय परिषदों के रूप में कार्य करता है और प्रत्येक परिषद में तीन न्यायाधीश होते हैं पर दंड संहिता के अनुच्छेद ७७ से ७६ तक लिखे अपराधों को ५ व्यक्तियों की परिषद में निर्णय किया जाता है। न्यायालय का नियम निर्माण प्रशासन कार्य एक न्यायिक सभा (Judicial Assembly) द्वारा होता है। इसमें न्यायालय के सभी न्यायाधीश सदस्य होते हैं और अध्यक्ष इसका प्रधान होता है। न्यायालय में अध्यक्ष का व्यक्तिगत सचिव, अनुसन्धान अधिकारी, सचिव, स्टेनोग्राफर, लिपिक आदि कर्मचारी भी होते हैं।

नियुक्ति—उच्च न्यायालय के अध्यक्ष तथा अन्य न्यायाधीशों को मंत्रिपरिषद द्वारा नियुक्त किया जाता है। पर यह नियुक्तियाँ सर्वोच्च न्यायालय द्वारा चुने गये नामों की एक सूची में वर्णित नामों से ही की जाती हैं। अध्यक्ष की नियुक्ति और पदच्युति सम्राट् द्वारा अभिप्रमाणित की जाती है।

अर्हताएँ—उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर नियुक्ति के लिए न्यायालय संगठन विधि द्वारा निम्नांकित योग्यताएँ विहित हैं :—

१. अभ्यर्थी साधारण राजकीय अधिकारी के पद पर नियुक्त किए जाने के योग्य हो;

२. उसने कभी कारावास का दण्ड न पाया हो;

३. वह महाभियोग न्यायालय द्वारा पदच्युत न किया गया हो, और

४. उसने निम्नाङ्कित में से एक या अधिक पदों पर दस वर्ष तक कार्य किया हो :—

अ—सहायक न्यायाधीश;

आ—शीघ्र निर्णायक न्यायालय का न्यायाधीश;

इ—लोक अभियोक्ता;

ई—वकील;

उ—किसी न्यायालय का अनुसन्धान अधिकारी, या 'विधि प्रशिक्षण तथा अनुसन्धान संस्थान' या 'न्यायालय लिपिकों हेतु अनुसन्धान तथा प्रशिक्षण संस्थान' के अध्यापक;

ऊ—विधि द्वारा निश्चित विद्यालयों के प्रोफेसर या सहायक प्रोफेसर।

न्यायाधीशों के अधिकार और निबन्धन—किसी भी न्यायाधीश को महाभियोग या न्यायालय द्वारा शारीरिक या मानसिक रूप से अक्षम घोषित किए जाने के अतिरिक्त उसकी इच्छा के विरुद्ध पदच्युत, स्थानान्तरित या निलम्बित नहीं किया जा सकता। उसका वेतन भी कम नहीं किया जा सकता है। कोई भी न्यायाधीश अपनी पदावधि में संसद या किसी स्थानीय लोक सत्ता का सदस्य नहीं हो सकता है, किसी राजनैतिक आन्दोलन में सक्रिय भाग नहीं ले सकता है, बिना सर्वोच्च न्यायालय की स्वीकृति के कोई अन्य वैतनिक पद नहीं धारण कर सकता है और न कोई वाणिज्य सम्बन्धी कारबार या आर्थिक लाभ का कारबार कर सकता है।

कार्यकाल—उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों का कार्यकाल उनकी नियुक्ति के समय से दस वर्ष पर्यन्त तक माना जाता है। नियुक्ति के दस वर्ष पश्चात् न्यायाधीश का कार्यकाल समाप्त हो जाता है पर उसकी नियुक्ति पुनः की जा

सकती है। न्यायाधीश ६५ वर्ष की आयु पर अवकाश ग्रहण करता है। अपना स्तर नीचा करने पर, अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा करने पर, या मार्गच्युत होने पर उन पर सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की भाँति महाभियोगारोपण किया जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय इनकी मानसिक और शारीरिक क्षमता की परीक्षा कर सकता है और अनुशासनात्मक कार्यवाही भी कर सकता है।

कार्य—उच्च न्यायालय के कार्य को हम दो भागों में बाँट सकते हैं, १. न्यायिक, २. न्यायिक प्रशासन सम्बन्धी।

१. न्यायिक कार्य—उच्च न्यायालय का न्यायिक कार्य मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है: अ. दंडीय विवाद, आ. व्यवहारिक विवाद।

अ. दंडीय विवाद—उच्च न्यायालय जिला न्यायालयों, परिवार न्यायालयों और शीघ्र निर्णायक न्यायालयों के निर्णयों के विरुद्ध प्रथम अपीलीय न्यायालय के रूप में अपीलें सुनता है और उन न्यायालयों की व्यवस्थाओं और आज्ञाओं के विरुद्ध शिकायतें सुनता है। यह सारी अपीलें ३ न्यायाधीशों के मंडलों द्वारा सुनी जाती हैं। पर दंड सहिता के अनुच्छेद ७७ से ७६ तक के अभियोगों का परीक्षण ५ व्यक्तियों के मंडलों द्वारा सुने जाते हैं। यह अभियोग सरकार के सम्बन्ध में है। इन पर उच्च न्यायालय को मौलिक क्षेत्राधिकार प्राप्त है।

व्यवहारवाद—यह न्यायालय व्यवहारवादों (Civil cases) में जिला न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध द्वितीय अपीलीय न्यायालय के रूप में द्वितीय अपीलें सुनता है और शीघ्र निर्णायक न्यायालयों के विरुद्ध प्रथम अपील भी सुनता है। वह अर्द्ध न्यायिक अभिकरणों जैसे साम्य व्यापार आयोग (Fair Trade Commission), पैटेन्ट ब्यूरो, तथा निर्वाचनों के निर्णयों के विरुद्ध भी अपीलें सुनता है।

यह न्यायालय भी अपने वादों पर विचार करते समय संविधान की व्याख्या कर सकते हैं और विधियों, नियमों, उपनियमों और आज्ञाओं की संवैधानिकता पर विचार कर सकते हैं।

न्यायिक प्रशासन सम्बन्धी कार्य—उच्च न्यायालय न्यायिक प्रशासन सम्बन्धी

विषयों पर अपनी सभा में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा हस्तान्तरित विषयों पर नियम निर्माण करते हैं। आवश्यकता के समय वह अपने आधीनस्थ जिला या परिवार न्यायालय को उच्च न्यायालय में कार्य करने की आज्ञा दे सकते हैं। वह अपने अधीन एक जिला न्यायालय के न्यायाधीश को दूसरे जिला न्यायालय में कार्य करने की आज्ञा दे सकते हैं। इसी प्रकार वह आवश्यकता के समय एक जिला न्यायालय या शीघ्रनिर्णायक न्यायालय के न्यायाधीश को दूसरे शीघ्र निर्णायक न्यायालय में कार्य करने की आज्ञा दे सकते हैं। वह सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बनाये नियमों के अनुसार न्याय कार्य से सम्बन्ध न रखने वाले कर्मचारियों की नियुक्ति, पदोन्नति और पदच्युति करते हैं और उन न्यायालयों को जहाँ न्यायिक अनुसन्धान अधिकारी, न्यायालय सचिव, न्यायालय लिपिक, स्टेनोग्राफर, परिवार न्यायालय प्रोबेशन अधिकारी और प्रावैधिक अधिकारी कार्य करते हैं उनको नामोदिष्ट करते हैं। प्रत्येक उच्च न्यायालय को अपने अधिकारियों, अपने क्षेत्र के जिला, परिवार तथा शीघ्र निर्णायक न्यायालयों और उनके कर्मचारियों पर पर्यवेक्षण करने का अधिकार भी है।

जिला न्यायालय

जैसा पहले लिखा जा चुका है, जापान में ४९ जिला न्यायालय और उनकी २४० शाखाएँ हैं। जिला न्यायालय में कुछ न्यायाधीश और कुछ सहायक न्यायाधीश होते हैं। इन न्यायालयों के न्यायाधीशों की अर्हता उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की अर्हता के समान ही है। इनका कार्यकाल, प्राधिकार और निबन्धन भी उनके ही समान है। सहायक न्यायाधीश न्यायिक अपरेण्टिस परीक्षा पास किये व्यक्ति ही होते हैं और यह कभी भी स्वतन्त्र निर्णय नहीं ले सकते हैं। एक न्यायिक मंडल में एक से अधिक सहायक न्यायाधीश भाग नहीं ले सकते हैं। सर्वोच्च न्यायालय प्रत्येक जिला न्यायालय के एक न्यायाधीश को मुख्य न्यायाधीश के रूप में नामोदिष्ट करता है। न्यायालय का प्रशासन सम्बन्धी कार्य एक न्यायिक सभा द्वारा किया जाता है। इस सभा के सदस्य सभी न्यायाधीश होते हैं और मुख्य न्यायाधीश इसका अध्यक्ष होता है। सर्वोच्च न्यायालय जिला न्यायालय की शाखाएँ स्थापित कर सकता है।

जिला न्यायालय प्रथम न्यायालय के रूप में उन सभी दंड वादों का परीक्षण करता है जिन पर शीघ्र निर्णायक न्यायालय का क्षेत्रधिकार नहीं होता। व्यवहार वादों में प्रारम्भिक न्यायालय के रूप में तीस हजार येन के अधिक वाद जिला न्यायालय द्वारा सुने जाते हैं। यह शीघ्र निर्णायक के निर्णय के विरुद्ध अपीलें भी सुनते हैं। वह सम्पति विभाजन, कम्पनियों का विघटन और पुनर्संगठन, न्यासों के प्रशासकों की, नियुक्ति न्यास सम्पत्ति के प्रशासन सम्बन्धी और भूमि तथा भवनों सम्बन्धी विवादों का भी निर्णय करते हैं।

परिवार न्यायालय

जिन स्थानों पर जिला न्यायालय या उनकी शाखाएँ हैं उन सभी स्थानों पर परिवार न्यायालय हैं। इनके न्यायाधीशों का अर्हता, वेतन, कार्यकाल अधिकार तथा निबन्धन उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के ही समान हैं। प्रत्येक न्यायाधीश के पास ३ से ४ तक प्रोबेशन अधिकारी होते हैं। यह लोग समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और शिक्षाशास्त्र के स्नातक होते हैं और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा ली गयी एक परीक्षा उर्त्तीण करने पर नियुक्त किए जाते हैं। परिवार न्यायालय तीन प्रकार के विवाद निर्णय करते हैं : १. किशोरो सम्बन्धी, २. वयस्कों के दंडीय अपराध, और ३. परिवार विषय। सभी प्रकार के दंडीय अपराध जो २० वर्ष तक की आयु के किशोरों द्वारा किये जाते हैं या जो उनके सम्बन्ध में होते हैं इन्हीं न्यायालयों द्वारा सुने जाते हैं। १६ वर्ष या अधिक के किशोरों द्वारा गम्भीर अपराध साधारण रूप में लोक अभियोक्ता द्वारा ही चलाए जाते हैं। परिवार न्यायालय अवज्ञाकरी, घर से अनुपस्थित रहने वाले, अनुचित व्यक्तियों के साथ या स्थानों पर समय बिताने वाले और अनैतिक कार्य करने वाले किशोरों के विवाद सुनता है। इन अपराधों को करने वाले १४ वर्ष से कम आयुवाले किशोरों के अपराध शिशु कल्याण केन्द्रों द्वारा देखे जाते हैं। वह वयस्क व्यक्ति जो किशोरों के विरुद्ध अपराध करते हैं पर इन अपराधों के अन्तर्गत संरक्षकों के उपेक्षा सम्बन्धी कार्य में नहीं आते इन न्यायालयों के अन्त-र्गत नहीं आते। परिवार विषयों में तलाक, दत्तक सम्बन्धों का विच्छेद,

सम्पत्ति के विभाजन और संयुक्त स्वामित्व के विवाद भी इसी न्यायालय के अन्तर्गत हैं। परिवार न्यायालय प्रारम्भ में सुधार और समझौते के लिए प्रयत्न करते हैं।

शीघ्रनिर्णायक न्यायालय

शीघ्र निर्णायक न्यायालय (Summary Courts) जापान के सबसे निचले न्यायालय हैं। इनमें प्रायः एक ही न्यायाधीश होता है। इस न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति ३ या अधिक वर्ष तक सहायक न्यायाधीश, लोक अभियोक्ता, वकील, न्यायालय का अनुसन्धान अधिकारी, न्यायालय लिपिक हेतु अनुसंधान तथा प्रशिक्षण संस्थान, या विधि प्रशिक्षण या अनुसंधान संस्थान का अध्यापक, न्यायमंत्रालय का सचिव या शिक्षा अधिकारी, या विधि द्वारा विनिश्चित विश्वविद्यालय का प्रोफेसर या सहायक प्रोफेसर रहा हो। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति के लिए एक समिति होती है जो उपरोक्त अर्हता न रखने वाले पर योग्य व्यक्तियों को भी नियुक्त कर सकती है। यह लोग ७० वर्ष की आयु तक पुनर्नियुक्त हो सकते हैं पर अन्य अधिकार व निबन्धन जिला न्यायालय के न्यायाधीशों के ही समान हैं। दंडीय विधि के अन्तर्गत ऐसे अपराध जिनमें जुर्माना, साधारण कारावास, ऐसा कारावास जिसके बदले में जुर्माना किया जा सके और चोरी, गबन, चोरी के माल के अभियोग, जिनमें तीन साल तक का दंड दिया जा सके, इन न्यायालयों द्वारा निर्णय किए जाते हैं। व्यवहार विधि के अन्तर्गत ये न्यायालय तीस हजार येन तक मूल्य के विवाद का निर्णय कर सकते हैं। ये न्यायालय बन्दी बनाने, तलाशी लेने और सामान जब्त करने के वारंट भी जारी करते हैं। इनकी प्रक्रिया अत्यन्त सरल है जिससे निर्णय शीघ्रता से होता है।

अविज्ञ जनों का न्यायिक प्रक्रिया में भाग लेना

अविज्ञ व्यक्ति स्वाभाविक रूप से साक्षी के रूप में तो सभी देशों की न्यायिक प्रक्रिया में भाग लेते ही हैं। इसके अतिरिक्त अविज्ञ व्यक्तियों द्वारा न्यायिक

प्रक्रिया में भाग लेने के अन्य कई रूप हैं जिनमें जूरी पद्धति सर्वाधिक प्रचलित है। जापान में दंडीय वादों में जूरी पद्धति सन् १६२८ में लागू की गयी थी। लेकिन जनता ने इसे पसन्द नहीं किया और सन् १६४३ में वह समाप्त कर दी गयी। फिर भी वहाँ पर अविज्ञ मनुष्य पाँच अन्य रूपों में न्यायिक कार्य में भाग लेते हैं :

१. न्यायिक आयुक्त—शीघ्र निर्णायक न्यायालयों में व्यवहार वादों में न्यायिक आयुक्त न्यायाधीश को राय देते हैं और न्यायाधीश द्वारा वादी प्रतिवादी में समझौते की संस्तुति करने में सहायता देते हैं।

२. विशेषज्ञ समिति—जिला न्यायालय में भवन या भूमि के पट्टे (Lease) सम्बन्धी विवादों में विशेषज्ञ समिति न्यायाधीश को समस्या से सम्बन्धित प्रश्नों पर व्यवसायिक ज्ञान और अनुभव पर आधारित राय देती है।

३. परिषद्—परिवार न्यायालयों में परिवार सम्बन्धियों में पदों के सम्बन्ध के निर्माण, परिवर्तन या अन्त करने के सम्बन्ध के विवादों में परिषदें न्यायाधीश को राय देतीं हैं।

४. समाधान समिति (Conciliation Committee)—जिला न्यायालयों, परिवार न्यायालयों तथा शीघ्र निर्णायक न्यायालयों में दो अविज्ञों और एक न्यायाधीश की बनी समाधान समिति वादी प्रतिवादी में समझौते की बातचीत करती है।

५. अभियुक्ति जाँच (Inquerst of Prosecution) समिति—यह जूरी पद्धति के समान है। समिति में ग्यारह सदस्य होते हैं। जब किसी सम्बन्ध में लोक अभियोक्ता मुकदमा नहीं चलाता तो यह समिति उस पर विचार करती है और आवश्यक समझने में वह अभियोक्ता को मुकदमा चलाने की संस्तुति करती है। वह अभियुक्ति कार्य के सम्बन्ध में अन्य आवश्यक प्रस्थापनाएँ भी करती है। इस समय देश भर में २०४ अभियुक्ति जाँच समितियाँ हैं।

जापान की न्यायप्रणाली की विशेषताएँ

जापान की न्यायप्रणाली के उपरोक्त वर्णन के अध्ययन से कुछ विशेषताएँ

स्पष्ट रूप से प्रतीत होती हैं। सबसे पहले, जापान के न्याय संगठन की स्थिति ऊँची है। सर्वोच्च न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश का वेतन प्रधान मंत्री तथा संसद के अध्यक्षों के तुल्य है और उसके सहायक न्यायाधीश अन्य मंत्रियों तथा संसद के उपाध्यक्षों के समान वेतन पाते हैं। यह केवल वेतन की ही समता नहीं है वरन् इसमें पदों की भी समता का भाव पाया जाता है। मंत्रि-परिषद कार्यपालिका विभाग का प्रधान है और संविधान कार्यपालिका शक्ति को उसी में निहित करता है। इसी प्रकार सर्वोच्च न्यायालय न्यायपालिका विभाग का प्रधान है और संविधान न्यायपालिका शक्ति को सर्वोच्च न्यायालय तथा निम्न न्यायालयों में निहित करता है। जनता द्वारा पुनर्विलोकन की व्यवस्था सर्वोच्च न्यायालय को एक प्रकार का प्रतिनिधि रूप भी प्रदान करता है।

दूसरे, जापान में न्यायपालिका कार्यपालिका से पृथक है। यद्यपि न्याया-धीशों की नियुक्ति मंत्रीपरिषद द्वारा ही होती है पर नियुक्ति के पश्चात् वह वैधानिक दृष्टि से ही मंत्रीपरिषद से पूर्ण स्वतंत्र है। वह न्यायाधीशों पर कोई अनुशासनात्मक कार्यवाही नहीं कर सकती है। उनके कार्यकाल में उनका वेतन कम नहीं किया जा सकता है। वह न्यायपालिका सम्बन्धी नियम स्वयं बनाती है और अभियोक्ता तक उसकी नियामक शक्ति के अन्तर्गत होते हैं। जापान में अभियोक्ताओं को उनके नाम समान होने पर भी रूस के अभियो-क्ताओं की भाँति कोई विशेष अधिकार प्राप्त नहीं है। वह रूस के अभियोक्ताओं की तरह वारंट जारी नहीं कर सकते हैं। जापान में वारंट केवल न्यायालय द्वारा ही जारी किया जा सकता है। रूस के प्रधान अभियोक्ता की भाँति यहाँ के प्रधान अभियोक्ता को मंत्रालयों के कार्यों पर देख-रेख करने और सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के साथ बैठ कर निर्णयों के पुनर्विलोकन का भी अधिकार नहीं है। इनकी स्थिति भारत के महान्यायवादी, महाधिवक्ता और राजकीय अधिवक्ताओं या वकीलों के समान है। यद्यपि महाअभियोक्ता और उसके सहायक की नियुक्ति मंत्रिपरिषद सम्राट् के अभिप्रमाणन से करता है पर उसका कार्य मंत्रिपरिषद को वैधानिक सलाह देना और सरकार की ओर से मुकदमों की पैरवी करना है। सर्वोच्च न्यायालय ही निम्न न्यायालयों की

नियुक्ति के लिये अर्हता-युक्त-योग्य व्यक्तियों की सूची बनाता है जिससे मंत्रि-परिषद विभिन्न न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति करती है। सर्वोच्च न्यायालय न्यायपालिका विभाग का आय-व्यय-लेखा तैयार करता है, बहुत से न्याय कार्य से सम्बन्ध न रखने वाले कर्मचारियों की नियुक्ति करता है और सभी न्यायालयों का पर्यवेक्षण करता है।

तीसरे, जापान की न्यायपालिका को न्यायिक पुनर्विलोकन का अधिकार प्राप्त है। संविधान देश की सर्वोच्च विधि घोषित किया गया है और उसके प्रतिकूल विधियों, अध्यादेशों, सम्राट् की आज्ञप्तियों तथा अन्य राजकीय कार्यों को अवैध और अशक्त घोषित किया जा सकता है। इस प्रतिकूलता या अनुकूलता की परीक्षा न्यायपालिका ही करती है। इस कार्य के लिए वह संविधान की व्याख्या करती है और उसका संरक्षण करती है। एक विशेष बात यह है कि यह न्यायिक पुनरीक्षण का अधिकार केवल सर्वोच्च न्यायालय या उच्च न्यायालय को ही नहीं है। सन् १६४६ के निर्णय के अनुसार निम्न न्यायालय भी न्यायिक पुनर्विलोकन करने के अधिकारी हैं।

चौथे, जापान की न्यायपालिका अब मूलाधिकारों की भी रक्षक है। मेइजी संविधान के अन्तर्गत न्यायपालिका को यह अधिकार प्राप्त नहीं था इसलिए मूलाधिकार कार्यपालिका की इच्छा के आधीन थे। पर वर्तमान संविधान के अन्तर्गत भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका की भाँति जापान में भी मूलाधिकारों की रक्षा का भार न्यायपालिका को ही दे दिया गया है। न्यायपालिका बन्दी प्रत्यक्षीकरण विधि प्रवृत्त करती है। वही वारंट भी जारी करती है। अभियोक्ता और पुलिस अधिकारी अब वारंट जारी नहीं कर सकते हैं।

पाँचवें, जापान में अब न्यायपालिका से स्वतंत्र क्षेत्राधिकार वाले प्रशासकीय न्यायालय नहीं हैं। यद्यपि अब भी कुछ कार्यपालिका अभिकरण प्रारम्भिक न्याय कार्य करते हैं और इसलिए यह कहना उचित प्रतीत नहीं होता कि जापान में प्रशासकीय न्याय व्यवस्था है नहीं। पर साधारण न्यायालयों में प्रशासकीय अभिकरणों के विरुद्ध अपील की जा सकती है और यह अपील केवल विधि के प्रश्न पर ही नहीं वरन् तथ्य के प्रश्न पर भी हो सकती है।

छठे, जापान की न्याय व्यवस्था में अब जूरी पद्धति नहीं है। मेइजी संविधान के अन्तर्गत जूरी पद्धति थी। पर न्यायाधीश को यह अधिकार था कि वह बिना कारण बताए जूरी के मत को अस्वीकार कर दें। इसलिए जूरी प्रथा लोक प्रिय नहीं थी और सन् १९४३ में उसका अन्त कर दिया गया। वर्तमान संविधान में उसे पुनः स्थापित करने का प्रयत्न नहीं किया गया है।

सातवें, जापान में जूरी प्रथा न होने पर भी वहाँ की न्यायप्रणाली में अविज्ञ लोग अनेक प्रकार से भाग लेते हैं। उसमें न्यायिक आयुक्त, विशेषज्ञ समिति, पारिषद् समाधान समिति, अभियुक्त जाँच आदि रूप में जनता के साधारण लोग न्याय प्रक्रिया में भाग लेते हैं।

आठवें, जापान की न्यायिक संगठन के सभी कर्मचारी अत्यन्त उच्च रूप में प्रशिक्षित हैं। न्यायाधीश, वकील, अभियोक्ता, प्रोबेशन अधिकारी, क्लर्क आदि प्रशिक्षित होते हैं। इस कार्य के लिए तीन संस्थान हैं। एक में न्याया-धीश, अभियोक्ता, वकील आदि का व्यवसाय करने के इच्छुक व्यक्तियों को विश्वविद्यालय की विधि शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् दो वर्ष की विधिवत् प्रशिक्षा दी जाती है, दूसरे में न्यायालयों में लिपिक पद पर नियुक्त होने को इच्छुक व्यक्ति प्रशिक्षित किए जाते हैं, और तीसरे में परिवार न्यायालयों में काम करने वाले व्यक्तियों की प्रशिक्षा की व्यवस्था है।

नवें, जापान में एक ऐसी अपील की व्यवस्था है जिस में दंडीय अपराध के मुकदमे में नये सिरे से (de novo) परीक्षण होता है। इन अपीलों को कोसो (Koso) अपीलें कहा जाता है। मेइजी संविधान के अन्तर्गत अपीलों की यह प्रथा यूरोप के महाद्वीपीय देशों से अपनायी गयी थी और यह ब्रिटिश अमरीकी पद्धति से भिन्न है। यद्यपि नवीन संविधान के अन्तर्गत स्थापित न्याय व्यवस्था में इसमें कुछ परिवर्तन किया गया है और वादी को लिखित आरोप देने पड़ते हैं। इससे सारहीन आरोप लगाना कम हो गया है। पर परीक्षण अब भी लगभग नए सिरे से ही होता है।

दसवें, जापान के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों पर लोक नियंत्रण है। प्रत्येक न्यायाधीश की नियुक्ति के पश्चात होने वाले प्रतिनिधि सभा के

महानिर्वाचन में उसकी नियुक्ति पर लोक परिपृच्छा होती है और इसके दस वर्ष पश्चात् होने वाले प्रतिनिधि सभा के महानिर्वाचन में उस पर पुनः लोक परिपृच्छा होती है। यह परिपृच्छा क्रम न्यायाधीश के निवृत्त होने तक इसी प्रकार जारी रहता है। लोक परिपृच्छा में दिए गये मतों की बहुसंख्या न्यायाधीश की पदच्युति के पक्ष में होने पर न्यायाधीश पदच्युत कर दिया जायगा। पर अभी तक किसी भी न्यायाधीश की पदच्युति के पक्ष में साढ़े बारह प्रतिशत से अधिक मत नहीं दिए गये हैं।

ग्यारहवें, जापान के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के अतिरिक्त अन्य सभी न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति केवल दस वर्ष की लघु अवधि के लिए की जाती है। पर इन न्यायाधीशों को उनके अवकाश ग्रहण करने के काल तक पुनः नियुक्त किया जा सकता है।

बारहवें, न्यायाधीशों पर महाभियोग का परीक्षण करने के लिए एक महाभियोग न्यायालय की व्यवस्था है। इस महाभियोग न्यायालय में संसद के दोनों सदनों के केवल सात-सात सदस्य होते हैं। इस प्रकार न्यायाधीशों पर महाभियोग चलाने में प्रतिनिधि सभा का विशेष हाथ है। प्रतिनिधि सभा महाभियोग का आरोपण करती है और पुनः आरोपों का परीक्षण करने वाले न्यायालय में भी उसके आधे सदस्य होते हैं। पारिषद् सभा केवल महाभियोग परीक्षण में ही अपने सात सदस्यों द्वारा भाग लेती है।

जापान की न्याय-व्यवस्था के दोष

पिछले लगभग पन्द्रह वर्ष के कार्यकरण में जापान के विद्वानों ने अपनी न्याय-व्यवस्था के संगठन और कार्य प्रणाली में अनेक दोष बताए हैं जिनमें से प्रमुख दोष निम्नाङ्कित हैं :

सर्व प्रथम, जापान में उच्च प्रशासकीय न्यायालय न होने से जनता की कठिनाई बढ़ गयी है। मेइजी संविधान के अनुच्छेद ६१ के अन्तर्गत एक ऐसे प्रशासकीय न्यायालय की व्यवस्था थी जिसे प्रशासकीय अभिकरणों द्वारा किए गये समस्त अवैधानिक कार्यों से उत्पन्न वादों पर क्षेत्राधिकार प्राप्त था।

वर्तमान संविधान के अनुच्छेद ७६ की द्वितीय कंडिका ऐसी व्यवस्था का प्रतिषेध करती है और साधारण न्यायालय प्रशासकीय अभिकरणों को सकारात्मक कार्यों को निदेश नहीं देते हैं क्योंकि ऐसा करना प्रशासकीय शक्ति का न्यायपालिका द्वारा अतिक्रमण समझा जायेगा। वर्तमान पद्धति में पीड़ित पक्ष उन अभिकरणों के द्वारा कार्य किए जाने से होने वाली हानि के लिए व्यवहार वाद (Civil case) चला सकता है। पर इस व्यवस्था में व्यय अधिक होता है। पुराने प्रशासकीय न्यायालय में तो पीड़ित पक्ष अनुयोगीय प्रक्रिया (Inquisitorial procedure) के अन्तर्गत बिना वकील के ही अपने कष्ट का निवारण करा सकता था। यह भी कहा जाता है कि अधिकांश न्यायाधीशों को प्रशासकीय विवादों का विशेष ज्ञान और अनुभव नहीं होता। इससे तर्क उच्च कोटि के नहीं होते और विधि का निश्चित आशय समझना कठिन हो जाता है। इससे न्याय प्राप्त करने में विलम्ब भी होता है।

दूसरे, जापान में जूरी पद्धति नहीं है। जापान सरकार के न्याय मंत्रालय का मत है कि जूरी पद्धति से न्यायकार्य में जनता का विश्वास उत्पन्न होता है। जापान में जूरी पद्धति की पहले की असफलता तत्सम्बन्धी विधि के दोष के कारण हुई और विधेयक में संशोधन करके उस पद्धति की पुनर्स्थापना करना आवश्यक है।

तीसरे, जापान में संसदीय विधियों और न्यायालय द्वारा बनाए हुए नियमों का सम्बन्ध निश्चित नहीं है। संसद देश की अनन्य विधायक संस्था है और न्यायालयों को भी नियम निर्माण करने का अधिकार संविधान से ही प्राप्त है। कुछ विद्वान संसदीय विधियों को प्रधान मानते हैं और उनके प्रतिकूल न्यायालयों द्वारा निर्मित नियमों को अवैधानिक कहते हैं। अभी तक इस सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय ने कोई मत प्रकट नहीं किया है पर ऐसा प्रतीत होता है कि उसके मत में नियम की स्थित विधियों से स्वतंत्र हैं और सर्वोच्च न्यायालय द्वारा बनाए गये ही ऐसे कई नियम प्रचलित हैं जो तत्सम्बन्धी संसदीय विधियों के प्रतिकूल हैं।

चौथे, जापान में न्यायिक प्रक्रिया सम्बन्धी विधीय उपबन्ध अत्यन्त विस्तृत

हैं। वर्तमान समय में व्यवहार प्रक्रिया संहिता (Civil Procedure Code) में ८०५ अनुच्छेद और दंडीय प्रक्रिया संहिता (Criminal Prócedure Code) में ५०६ धाराएँ हैं। इस कारण नियम के लिए अत्यन्त सूक्ष्म विषय रह गये हैं। विद्वानों का मत है कि विधियाँ केवल मूल सिद्धान्तों के सम्बन्ध में ही होनी चाहिए।

पाँचवें, संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या निश्चित नहीं है। इससे यह भय है कि किसी समय अवसर के अनुसार न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाकर न्यायालय को परिवेष्टित (pack) किया जा सकता है। इसी कारण भारतीय संविधान में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या निश्चित है और संविधान का संशोधन करने से ही उस संख्या में परिवर्तन किया जा सकता है।

छठे, सर्वोच्च न्यायालय का कार्य भार व क्षेत्राधिकार अधिक हैं। उसके सामने आने वाले वादों की संख्या भी अधिक है जिससे बहुत से वाद बहुत समय तक अनिर्णीत बने रहते हैं। सन् १९५९ के अन्त में उसके विचाराधीन ५२३८ वाद थे। इससे न्याय में विलम्ब होता है। कुछ विद्वानों का मत है कि न्यायालय के न्यायाधीशों की संख्या बढ़ा देनी चाहिए। पर अन्य विद्वानों का मत है कि उसका क्षेत्राधिकार अधिक सीमित कर देना चाहिए।

सातवें, जापान के विद्वानों का मत है कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राजनैतिक आधार पर की जाती है। संविधान प्रवृत्त होने पर प्रथम नियुक्तियाँ एक मंत्रणा समिति के द्वारा बनी सूची में वर्णित व्यक्तियों में से की गयी थी। इस समिति को सन् १९४८ में उन्मूलित कर दिया गया। उस समय से सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति मंत्रिपरिषद अपने इच्छानुसार करती है। विद्वानों का मत है कि मंत्रणा समिति (Advisory Committee) पुनः स्थापित होना चाहिए।

आठवें, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति का जनता द्वारा पुनर्विलोकन दोष पूर्ण बताया जाता है। अभी तक कोई भी न्यायाधीश इस

प्रक्रिया से पदच्युत नहीं किया गया है और उनकी पदच्युति के पक्ष में दिए गये मतों की संख्या भी दिए मतों के साढ़े बारह प्रतिशत से अधिक कभी नहीं हुई है। इस कारण इस प्रक्रिया को प्रभावहीन और व्यर्थ बताया जाता है। इस पद्धति का गुण भी विवादग्रस्त है। विद्वानों का मत है कि इससे न्यायपालिका की स्वतंत्रता नष्ट होने का भय है।[1] साथ ही अधिकांश मत-दाता प्रत्येक न्यायाधीश के व्यक्तित्व और क्षमता से परिचित नहीं होते हैं। इसलिए इस कार्य में लगा हुआ सार्वजनिक धन व्यर्थ में व्यय होता है।

नवें, जापान में किसी विधि, अध्यादेश या अन्य राजकीय कार्य की संवैधानिकता का निर्णय करने में विलम्ब होता है। सर्वोच्च न्यायालय के एक निर्णय के अनुसार न्यायालय संवैधानिकता के अमूर्त (abstract) प्रश्नों पर विचार करने का अधिकारी नहीं है। उस पर किसी निश्चित वाद के सम्बन्ध में ही विचार किया जा सकता है। इससे एक असंवैधानिक विधि बहुत समय तक प्रवृत्त रह सकती है। कुछ विद्वानों का मत है कि संवैधानिकता के अमूर्त प्रश्नों पर विचार करने के लिए एक पृथक न्यायालय स्थापित होना चाहिए। पर दूसरे बहुत से विद्वान वर्तमान सर्वोच्च न्यायालय को ही इस प्रकार का अधिकार देने के पक्ष में हैं। इस प्रकार सभी विद्वान इस सम्बन्ध में कोई व्यवस्था चाहते हैं।

दसवें, विद्वानों का मत है कि छोटे-बड़े सभी न्यायालयों को विधि, अध्या-देश, सम्राट् की आज्ञप्ति तथा अन्य राजकीय कार्यों की संवैधानिकता पर विचार करने का अधिकार उचित नहीं है। इससे अन्तिम निर्णय होने में विलम्ब होता है। साथ ही यदि किसी एक ही प्रश्न पर दो निम्न न्यायालयों में परस्पर विरोधी निर्णय दिया जाता है और सम्बन्धित पक्ष किसी कारण से उन निर्णयों के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील नहीं करते हैं तो इससे सन्देहपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाती है। इसलिए विद्वानों का विचार है कि यदि किसी वाद में संवैधानिकता सम्बन्धी प्रश्न उठता है तो उसे सीधे सर्वोच्च न्यायालय भेज देने की व्यवस्था होनी चाहिए।

---

[1] पृष्ठ २०२ से प्रारम्भ 'लोक पुनर्विलोकन' प्रकरण देखिए।

ग्यारहवें, विद्वानों द्वारा उच्च न्यायालयों तथा अन्य निम्न न्यायालयों के न्यायाधीशों की लघु कार्यावधि दोषपूर्ण बतायी जाती है। इससे न्यायाधीशों की स्वतंत्रता और क्षमता प्रभावित होती कही जाती है। इस पद्धति से न्याय-पालिका पर कार्यपालिका का भी प्रभाव पड़ता है। जापान में निम्न न्यायालयों के न्यायिक पुनर्विलोकन अधिकार के कारण इस दोष का प्रभाव अधिक हानि-कर कहा जाता है।

बारहवें, जापान की प्रथम (Koso) अपील पद्धति के अन्तर्गत दंडीय वाद में नये सिरे से विचार करने की प्रक्रिया अनुचित कही जाती है। इससे न्याय में विलम्ब होता है और अपीलों की संख्या भी बढ़ जाती है। ब्रिटेन में प्रथम कार्यवाही के न्यायालयों के निर्णय के विरुद्ध केवल सात प्रतिशत वादों में उच्च न्यायालयों में अपील होती है। अमेरिका में यह संख्या २ प्रतिशत से भी कम है। पर जापान में यह संख्या तेरह प्रतिशत से भी अधिक है। जापान में दोहरी आशंका (Double jeopardy) का सुप्रसिद्ध विचार भी पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया जाता है, यद्यपि संविधान के अनुच्छेद ३९ में इसका उपबन्ध है।

तेरहवें, जापान के न्यायाधीशों को दंड निश्चय करने में विधि से अत्यधिक स्वतंत्रता दी गयी है। उदाहरणार्थ, दंड संहिता के अनुच्छेद ९९ के अन्तर्गत नरहत्या के अपराध में तीन वर्ष से लेकर आजीवन कारावास और मृत्यु दंड तक दिया जा सकता है। इसी अपराध में दंड संहिता के अनुच्छेद २५ के अन्तर्गत तीन वर्ष से कम का और निलम्बित दंड भी दिया जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में न्यायाधीश प्रायः अल्पतम से कुछ अधिक दंड देते हैं और यह कहा जाता है कि 'जापानी न्यायाधीश आरोप किये जाने वाले दण्ड का विनिश्चय करने में अत्यन्त उदार हैं।'[1]

---

[1] "the Japanese judges are very lenient in their determination of the amount of penalty to be imposed." *Supreme Court of Japan, Outline of Criminal Justice in Japan.*" (1959)

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. एक प्रजातंत्र देश में न्यायपालिका के महत्व को बतलाते हुए जापान की न्यायपालिका की स्थिति की विवेचना करिए।

२ 'समाधान कुछ भी हो, अधिकारों के निर्वहण के लिए न्यायिक शक्ति का पृथक्करण तथा उच्चता आवश्यक है' (लास्की) इस कथन को ध्यान में रखते हुए जापान की न्यायपालिका की स्थिति की परीक्षा करिए।

३. जापान की न्याय व्यवस्था का संक्षेप में वर्णन करिए।

४. जापान के सर्वोच्च न्यायालय के गठन का वर्णन करिए और भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के गठन से उसकी तुलना करिए।

५. 'कार्यों और अधिकारों की दृष्टि से जापान का सर्वोच्च न्यायालय विश्व के सर्वाधिक शक्ति वाले न्यायालयों में एक है।' इस कथन की समीक्षा करिए।

६. न्यायाधीशों को जनता के प्रति उत्तरदायी रखने के लिए जापान के संविधान में कौन-कौन उपबन्ध किए गये हैं और उनका न्यायाधीशों की स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ा है ?

७. जापान के उच्च न्यायालयों के संगठन, कार्यों और अधिकारों का वर्णन करिए।

८. जापान की न्याय प्रणाली की विशेषताओं का संक्षेप में वर्णन करिए।

९. जापान की न्यायव्यवस्था में कौन-कौन से दोष पाये जाते हैं और उनको किस प्रकार दूर किया जा सकता है ?

८ | मूलाधिकार और कर्त्तव्य

"Every State is known by the rights that it maintains."

H. J. Laski.

व्यक्ति और सरकार में अति प्राचीन काल से संघर्ष हो रहा है। सरकार सदैव यह प्रयत्न करती है कि वह सर्वव्यापी हो जाये। वह व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक पक्ष पर, चाहे वह समाज से सम्बन्ध रखता हो या न रखता हो, नियंत्रण रखे। इसके विरुद्ध व्यक्ति यद्यपि वह यह स्वीकार करता है कि वह एक सामाजिक प्राणी है, बिना समाज के उसका जीवन-निर्वाह असम्भव है, और समाज के अस्तित्व की रक्षा के लिए व्यक्ति के आचरण का नियमन आवश्यक है, पर उसका यह दावा है कि जीवन के प्रत्येक पक्ष और उसके प्रत्येक कार्य पर समाज के नियामक अवयव का नियंत्रण होने से उसकी प्रतिभा कुंठित हो जायेगी और वह अपने व्यक्तित्व का विकास, जो उसके जीवन का परम लक्ष्य है, पूर्ण न कर सकेगा। इसलिए उसके ऐसे कार्यों पर जो समाज को प्रत्यक्ष रूप में हानि नहीं पहुँचाते, सरकार का नियंत्रण नहीं होना चाहिए

और उसे स्वविवेक से उन्हें करने का निर्बाध रूप से अवसर मिलना चाहिए। दूसरे शब्दों में, सरकार का कार्यक्षेत्र सीमित होना चाहिए।

इसके अतिरिक्त दूसरी समस्या यह है कि समाज की सरकार किसी व्यक्ति की सरकार होती है। व्यक्ति नियंत्रण स्थापित करने और सरकार द्वारा होने वाले लाभों को प्रदान करने में भी पक्षपात कर सकता है। राजतंत्र और अल्पतंत्र सरकारों के अन्तर्गत तो यह समस्या सभी अनुभव करते हैं, प्रजातंत्र सरकार के अन्तर्गत भी इस समस्या का महत्व किसी प्रकार कम नहीं होता है। प्रजातंत्र सरकार को जनता की सरकार 'स्व-सरकार' कहा जाता है। उसे जनता की इच्छानुसार कार्य करते बताया जाता है। पर जैसा, स्वतंत्रता विषय पर अपने समय के सर्वोत्तम लेख के लेखक, जान् स्टुअर्ट मिल ने लिखा है "'जनता' जो शक्ति का प्रयोग करती है सदैव वही जनता नहीं होती जिसके ऊपर वह प्रयोग की जाती है और 'स्व-सरकार' कहीं जाने वाली सरकार प्रत्येक की अपने ऊपर नहीं वरन् प्रत्येक पर अन्य सभी के द्वारा सरकार है। इसके अतिरिक्त जनता की इच्छा का क्रियात्मक अर्थ जनता के सर्वाधिक संख्यक या सर्वाधिक सक्रिय भाग, बहुमत या उनकी जो अपने को बहुमत के रूप में स्वीकार कराने में सफल हो गये हैं, की इच्छा है; जनता परिणाम-स्वरूप अपनी संख्या के एक भाग को पीड़ित करने की इच्छा कर सकती है; और अन्य किसी प्रकार के शक्ति के दुरुपयोग की भाँति उसके विरुद्ध भी पूर्वोपायों की उतनी ही आवश्यकता है। इसलिए व्यक्ति के ऊपर सरकार के शक्ति का परिसीमन शक्ति के ग्रहणकर्त्ताओं का समाज के प्रति अर्थात् उसके सर्वाधिक शक्ति वाले दल के प्रति लेखादेय होने पर अपने किसी महत्व को नहीं खोता है।"[१]

---

[१] "The "people" who exercise the power are not always the same people with those over whome it is exercised; and the "self government" spoken of is not the government of each by himself, but of each by all the rest. The will of the people, moreover, practically means the will of the most numerous or the most active *part* of the people; the majority, or those who succeed in making

उपरोक्त कारणों से सरकार की शक्ति का परिसीमन इतना आवश्यक समझा है कि जिस सरकार की शक्ति परिसीमित नहीं होती है उसे सर्वाधिकारी (Totalitarian) सरकार कहते हैं। सर्वाधिकारी सरकार अत्याचारी सरकार समझी जाती है। इसके विरुद्ध परिसीमित शक्ति की सरकार को उदार (liberal) सरकार कहा जाता है और उदार सरकार प्रजातन्त्रीय शासन-व्यवस्था का एक अनिवार्य लक्षण बताया जाता है। सरकार की शक्ति के परिसीमन का वास्तविक अभिप्राय व्यक्ति को, उन कार्यों को जो उसके व्यक्तित्व के विकास के लिये सामान्यतया या सम्बन्धित समाज की तत्कालीन परिस्थितियों में आवश्यक समझे जाते हैं करने, उसमें सहायक वस्तुओं तथा सरकार से आपेक्षित अन्य लाभों का उपभोग करने, और सरकार के नियंत्रण के भार को सभी व्यक्तियों पर समान रूप से वितरण करने की प्रत्याभूति करना है। इसलिए सरकार की शक्ति और उसके प्रयोग पर लगाए गये विभिन्न परिसीमनों और प्रतिबन्धों तथा व्यक्ति के विभिन्न आवश्यक कार्यों को करने की स्वतंत्रता को मूलाधिकार की संज्ञा दी जाती है। वर्तमान समय में मूलाधिकारों का महत्व इतना अधिक माना जाता है कि रूस ऐसे सर्वाधिकारी राज्य ने भी अपने संविधान में अन्य किसी उद्देश्य से न सही तो प्रदर्शन के उद्देश्य से ही उनको स्थान दिया है। अगर उनका वर्णन न किया जाय तो बहुत से व्यक्ति उस संविधान के ही विरुद्ध हो जायें और संविधान स्वीकार ही न किया जाय। मूलाधिकारों का महत्व इतना अधिक होने पर भी प्रायः सभी विचारशील व्यक्ति यह स्वीकार करते हैं कि यदि सरकार को प्रभावपूर्ण बनाना है तो व्यक्ति को अत्यन्त कम अधिकार ही पूर्ण रूप में दिए जा सकते हैं। यदि व्यक्ति को ऐसे महत्वपूर्ण

themselves accepted as the majority; the people, consequently may desire to oppress a part of their number; and precautions are as much needed against this as against any other abuse of power. The limitation, therefore, of the power of government over individuals loses none of its importance when the holders of power are regularly accountable to the community, that is, to the strongest party therein." J. S. Mill : *Utilitarianism, Liberty, Representative Government*, Everyman's Edition, 1954, pp. 67-68.

अधिकारों जैसे भाषण-स्वतन्त्रता, प्रकाशन-स्वतन्त्रता, एकत्र होने या सभा करने की स्वतन्त्रता, जुलूस बनाने की स्वतन्त्रता और व्यक्ति तथा गृह की अनुलंघ्यता की पूर्ण रूप में प्रत्याभूति कर दी जाये तो व्यवस्था का अन्त हो जायेगा। इस लिये इन अधिकारों पर भी प्रतिबन्ध आवश्यक है जिससे व्यवस्था और लोक-कल्याण को हानि न पहुँचायी जा सके। इस प्रकार सरकार और व्यक्ति दोनों के अधिकारों का परिसीमन आवश्यक है।

मूलाधिकारों की प्रत्याभूति की पद्धतियाँ—विभिन्न राज्यों द्वारा की गई अधिकारों की प्रत्याभूति की पद्धतियों का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि मूलाधिकारों की प्रत्याभूति करने की मुख्य तीन पद्धतियाँ हैं : प्रथम, संविधान लिखित हो तथा उनमें इन अधिकारों को अपरिसीमित रूप में वर्णन कर दिया जाये और इस प्रकार सरकार पर उनके सम्बन्ध में कठोर परिसीमन लगा दिए जायें। द्वितीय, संविधान में उनका वर्णन ही न किया जाये और उनको व्यवस्थापिका के द्वारा निश्चय के लिये छोड़ दिया जाये। तृतीय, इसके मध्य की पद्धति, अर्थात्, संविधान में उनके सिद्धान्तों का वर्णन कर दिया जाये और यह लिख दिया जाये कि वह बाद में व्यवस्थापिका द्वारा, अधिक निश्चित रूप में और उन परिस्थितियों सहित जिनमें वे वैध होंगे, अधिनियमित किए जायेंगे। संक्षेप में, एक पद्धति में सरकार पर पूर्ण परिसीमन लगाए जाते हैं, दूसरी में उस पर कोई परिसीमन नहीं लगाया जाता और तीसरी में दोनों के मध्य का मार्ग ग्रहण किया जाता है।

तीनों पद्धतियों के गुण-दोषों पर विचार करने से यह ज्ञात होता है कि प्रथम पद्धति, जो संयुक्त राज्य अमेरिका में अपनायी गयी है, देखने में बड़ी सुन्दर प्रतीत होती है। उसमें संविधान में मूलाधिकारों का वर्णन बिना किसी परिसीमन के होता है। पर उससे अत्यधिक मुकदमेबाजी होती है। सरकार आवश्यक वैधानिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा आर्थिक सुधार करने में भी विवशता का अनुभव करती है। कोई भी ऐसा महत्वपूर्ण विधेयक पास नहीं किया जाये जिसकी वैधानिकता को तुरन्त ही न्यायालय में चुनौती न

दी जाये। न्यायालयों को भी अपनी व्याख्या में एक निश्चित मत देने में कठिनाई होती है और उनके एक ही विषय पर भी मतों में परिवर्तन होता है। उदाहरण के लिए, सन् १६४० में एक विवाद (Minersville School District Vs. Gobitis, 310 U. S. 586) में संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय को यह विचार करना पड़ा कि क्या विद्यालयों में अमरीकी ध्वज को प्रणाम करना 'जेहोवीय साक्षियों' (Jehovah's Witnesses') के धर्म का उल्लंघन करने के कारण असंवैधानिक है? न्यायालय ने एक के विरुद्ध आठ के बहुमत से यह निर्णय दिया कि वह संवैधानिक है पर असहमत न्यायमूर्ति एच० एम० स्टोन ने उसे भाषण तथा धर्म दोनों की संविधान द्वारा प्रत्याभूत स्वतन्त्रताओं का उल्लंघन करना माना। सन् १६४२ में एक विवाद (Jones Vs. Opelika, 316 U. S. 584) में उसी न्यायालय ने यह स्वीकार किया कि उसका पूर्व निर्णय गलत था और सन् १६४३ में जब न्यायमूर्ति स्टोन मुख्य न्यायाधीश थे तथा दो न्यायाधीश परिवर्तित हो चुके थे, न्यायालय ने एक अन्य वाद (West Virginia Board of Education Vs. Barnette, 319 U. S. 624) में अपना १६४० का निर्णय परिवर्तित कर दिया। ऐसी स्थिति में सरकार के कार्यों और व्यक्ति की स्वतन्त्रता की सीमा निश्चित रूप से बताना असम्भव नहीं तो कठिन हो जाता है। विद्वानों का यह भी कथन है कि संविधान में मूलाधिकारों का वर्णन करने मात्र से जनता उसका प्रयोग नहीं कर लेती है। आवेश काल में कार्यपालिका भी मूलाधिकारों के सभी वर्णन को व्यर्थ बना सकती है और अमेरिका के दक्षिणी नीग्रों की भाँति अल्पसंख्यक वर्ग कार्यपालिका और न्यायपालिका दोनों की सहायता न पाकर राजनैतिक समानता ऐसे महत्वपूर्ण अधिकार से वञ्चित रह सकते हैं। प्रो० के० सी० व्हेयर का कहना है कि "जब संयुक्त राज्य ऐसे देश में यह वस्तुएँ हो सकती हैं, तो उन लोगों में, जहाँ कार्यपालिका संविधान की अपेक्षा अधिक श्रद्धायुक्त भय से देखी जाती है, अधिकारों की घोषणा का शब्दों से अधिक महत्व होने की सम्भावना कितनी अधिक होगी।...... इसलिए आदर्श संविधान में अधिकारों की घोषणाएँ कतिपय या नहीं होंगी,

यद्यपि विधि की आदर्श पद्धति बहुत से अधिकारों को निर्धारित तथा प्रत्याभूत करेगी।"[1]

दूसरी पद्धति में, जो इंगलैण्ड में प्रचलित है, सरकार के विरुद्ध जनता को कोई भी औपचारिक संरक्षण प्राप्त नहीं होता है। यद्यपि इंगलैण्ड की जनता अमेरिकावासियों के तुल्य ही अधिकारों का उपभोग कर रही है पर सरकार की शक्ति पर कोई वैधानिक परिसीमन नहीं है। इसलिए शक्तिवान् कार्यपालिका किसी समय उनका संशोधन, लघुकरण या उन्मूलन करा सकती है। इंगलैण्ड में ही "साम्राज्य परिरक्षा विधि (The Defence of the Realm Act) का विस्तार यह दिखाता है कि एक शक्तिपूर्ण कार्यपालिका व्यवस्थापिका को ऐसा धराशायी कर सकती है कि मूल स्वतन्त्रताएँ कार्यपालिका विवेक की कृतियाँ बन जायें।[2] सरकार की इस निरंकुशता को केवल जनता के हृदय में अधिकारों के प्रति पायी जाने वाली निष्ठा ही नियंत्रित करती है। यद्यपि इस पद्धति में अमेरिका में अनुभव की गई कठिनाइयाँ नहीं होतीं हैं और सुधार कार्य में सरकार के हाथ बँधे नहीं होते हैं, पर मूलाधिकारों को वह परिरक्षा भी प्राप्त नहीं होती है जो उनके लिए वांच्छनीय समझी जाती है। इसके अतिरिक्त, जैसा स्वर्गीय प्रो० लास्की ने कहा है, "कार्यपालिका पर एक विधि के निबन्धों द्वारा, जिन्हें उसने स्पष्ट रूप से उल्लंघन किया है, आक्रमण कर सकने में समर्थ होना सदैव मूल्यवान है; और लिखित अधिनियम जनता को सदैव यह स्मरण

[1] "If these things can happen in a country like the United States......how much more likely is it that declarations of rights may prove to be in practice little more than words in communities where the Executive is held in greater awe than the Constitution......The ideal Constitution, then, would contain few or no declarations of rights, though the ideal system of law would define and guarantee many rights." K. C. Wheare : *Modern Constitutions*, 1952, p. 71.

[2] "the ambit covered by the Defence of the Realm Act shows that a powerful executive may so sweep a legislative off its feet, that fundamental liberties may become the creatures of executive discretion." H. J. Laski : *A Grammar of Politics*, 1956, p. 305.

दिलाने का कार्य करता है कि उसे अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करना है।"[1] प्रो० फाइनर का भी मत है कि "एक प्रजातन्त्र में लोक रक्षा के लिए मूलाधिकारों की प्रत्याभूति के साथ सुरक्षा का उपबन्ध करने वाला संविधान स्थापित किया जाता है।" प्रो० हरमेन्स के अनुसार एक प्रजातन्त्र सरकार की तीन आवश्यकताएँ हैं; प्रथम राजनैतिक शक्ति के प्रभावपूर्ण संगठन की स्थापना; द्वितीय, उसे उस पथ में निर्देश करना जो उद्देश्यात्मक नियम समूहों को उनके अन्तर्गत कार्य करने वाले व्यक्तियों से उच्चतर बनाएँ; और तृतीय नागरिकों के अत्याज्य अधिकारों की प्रत्याभूति के अभिप्राय से शक्ति का परिसीमन। एक ओर राजनैतिक शक्ति के उचित रूप से पथमान् संगठन में अन्तर्निहित निग्रह से यह प्रत्याभूति परिणत होती है जो सरकार को मूलाधिकारों का सम्मान करने को सहमत बनाती है और दूसरी ओर प्रभावपूर्ण रूप से प्रत्याभूत मानवीय अधिकार प्रजातंत्रीय सरकार को वह बल देते हैं जो उनके परिपालन की प्रत्याभूति के लिए आवश्यक है।

मूलाधिकारों की लिखित संवैधानिक व्यवस्था और उनको अलिखित छोड़ने से होने वाली सुविधाओं और असुविधाओं पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रजातंत्र देश के संविधान में इन मूलाधिकारों का वर्णन करना आवश्यक है, पर उनका वर्णन पूर्ण रूप में बिना प्रतिबन्धों के नहीं होना चाहिये। इसी विचार से बीसवीं शताब्दी के संविधान निर्माताओं ने अपने संविधानों में एक ओर सरकार पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए मूलाधिकारों की व्यवस्था की है और दूसरी ओर मुकदमेबाजी, अनिश्चय, और आवश्यक सुधारों के मार्ग में उनसे होने वाली बाधाओं को कम करने में लिए उन मूलाधिकारों को भी परिसीमित कर दिया है। भारतीय गणतन्त्र का संविधान और जापान का नवीन संविधान इस द्विपक्षीय परिसीमन का उपबन्ध करने वाले संविधानों

---

[1] "It is always valuable to be able to attack the executive in terms of law it has clearly offended and the written enactment always serves to remind a people that it has had to fight for its rights." H. J. Laski : *A Grammar of Politics*, 1956, pp. 103-104

के अच्छे उदाहरण हैं। रूसी गणतन्त्र का सन् १९३४ का संविधान, आयरलैण्ड का संविधान, इटली गणतन्त्र का सन् १९४८ का संविधान भी इसी कोटि में आते हैं पर इनमें, विशेष कर रूस में, परिसीमन इतने अधिक व्यापक हैं कि वर्णित मूलाधिकार एक दिखावा मात्र रह जाते हैं।

मूलाधिकारों के पूरक तत्व—संविधान में मूलाधिकारों के वर्णन मात्र से जनता के अधिकारों का परिरक्षा नहीं होती है। यद्यपि इससे जनता के समक्ष एक लक्ष्य उपस्थित अवश्य हो जाता है जिसकी प्राप्ति के लिए वह प्रयत्न कर सकती है। लेकिन इसके अतिरिक्त वह मृत-अक्षर रहते हैं। मूलाधिकारों को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए विधि शासन होना आवश्यक है। इसके लिये दो आवश्यकताएँ हैं, प्रथम, न्यायपालिका स्वतन्त्र हो अर्थात् वह अपने कार्य के लिए केवल अपने अन्तःकरण के प्रति ही उत्तरदायी हो। "कार्यपालिका उनके निश्चय से घृणा करती है इस कारण वह पदच्युतीय नहीं होना चाहिए। उनका निर्णय जनता की सनक को आघात पहुँचाती है इसलिए उसे परिवर्तनीय नहीं होना चाहिये।....अधिकारी के पोषण की पूर्णता के लिये न्यायपालिका शक्ति का पृथक्करण और उसकी उच्चता आवश्यक है।"[१] इसके लिए यह भी आवश्यक है कि संविधान सर्वोच्च हो और न्यायपालिका को न्यायिक पुनरीक्षण का अधिकार हो। संविधान की सर्वोच्चता के लिए उसका कुपरिवर्तनशील होना आवश्यक है और न्यायिक पुनरीक्षण का अर्थ है कि न्यायपालिका में व्यवस्थापिका द्वारा अधिनियमित विधियों और कार्यपालिका द्वारा जारी किए अध्यादेशों, आज्ञप्तियों और नियमों, विनियमों तथा उसके प्रत्येक कार्य की संविधान अनुकूलता की परीक्षा करने और प्रतिकूल पायी जाने वाली विधि, आज्ञा या कार्य को अवैध और अशक्त घोषित करने का अधिकार हो।

---

[१] "They must not be removable because the executive dislikes their decisions. They must not be changeable because some judgment has affended the whim of the public.......the separation and superemacy of the judicial power is integral to the maintenance of rights." H. J. Laski : *A Grammar of Politics*, 1956, p. 129-130.

जापान के संविधान की मूलाधिकार व्यवस्था की विशेषताएँ

जापान के संविधान में, जैसा ऊपर कहा गया है, मूलाधिकारों के वर्णन की मध्यम पद्धति का अनुसरण किया गया है। इसमें नागरिकों के अधिकारों, स्वतन्त्रताओं और सरकार के ऊपर लिखे प्रतिबन्धों का वर्णन है। पर साथ-ही-साथ मूलाधिकारों के परिसीमनों का भी वर्णन कर दिया गया है। इस प्रकार इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका और इंगलैण्ड दोनों राज्यों में प्रचलित पद्धति के गुणों को ले लेने तथा दोनों की त्रुटियों को निकाल देने का प्रयत्न किया गया है। वर्णन पर्याप्त रूप से विस्तृत है। संविधान के एक सम्पूर्ण अध्याय में जनता के अधिकारों और कर्त्तव्यों का वर्णन है। इस अध्याय में ३१ अनुच्छेद हैं जब कि सम्पूर्ण संविधान में केवल १०३ अनुच्छेद हैं। इस अध्याय के ३१ अनुच्छेदों में से केवल तीन अनुच्छेदों में ही कर्त्तव्यों का वर्णन है, शेष २८ अनुच्छेदों में अधिकार वर्णन किये गये हैं।

अधिकारों में वे सभी अधिकार सम्मिलित हैं जो अन्य प्रजातन्त्र देशों के संविधान में पाये जाते हैं। पर उन अधिकारों के अतिरिक्त दो अन्य अधिकारों का भी वर्णन है जो दूसरे देशों के संविधानों में दिखायी नहीं पड़ते हैं। ये अधिकार विदेश जाने और राष्ट्रीयता त्याग करने के हैं। अधिकारों के परिसीमन भी आयरलैण्ड या भारत के समान अधिक व्यापक नहीं है। संकटकाल में उनके स्थगन आदि के लिये कोई विशेष उपबन्ध नहीं है।

जैसा पूर्व अध्याय में वर्णन किया जा चुका है, न्यायपालिका को कार्यपालिका और व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र किया गया है। न्यायाधीशों के कार्य-काल में उनका वेतन कम नहीं किया जा सकता है और कार्यपालिका उन पर अनुशासनीय कार्यवाही भी नहीं कर सकती है।

संविधान को सर्वोच्च घोषित ही नहीं किया गया है वरन् उसे क्रियात्मक रूप में भी सर्वोच्च कर दिया गया है। वह कुपरिवर्तनशील है। उसके प्रतिकूल विधियों, आज्ञप्तियों, अध्यादेशों, नियमों-विनियमों और अन्य राजकीय आज्ञाओं तथा कार्यों को वैधानिक और अशक्त घोषित कर दिया है और इस

घोषणा को प्रवृत करने के लिए न्यायपालिका को इनके न्यायिक पुनरीक्षण अर्थात् संवैधानिकता की परीक्षा करने का अधिकार दिया गया है।

अधिकार पद्धति में कुछ त्रुटियाँ भी हैं। संविधान में उनका वर्णन-क्रम ठीक नहीं है। उदाहरणार्थ अनुच्छेद २३ और २६ के बीच में, जो दोनों शिक्षा सम्बन्धी अधिकारों से सम्बन्ध रखते हैं, दाम्पत्य सम्बन्ध, स्त्री-पुरुष अधिकार-समानता तथा जीवन-स्तर सम्बन्धी अधिकारों का वर्णन किया गया है। अधिकारों और कर्त्तव्यों को पृथक्-पृथक् नहीं किया गया है। मूलाधिकारों से सम्बन्धित एक अनुच्छेद अध्याय १० में है। कुछ ऐसे अनुच्छेद हैं जिनको प्रवृत्त करने के लिए सरकार को विवश नहीं किया जा सकता है और जो आयरलैण्ड और भारत के संविधानों में वर्णित है 'राज्य के नीति निर्देशक तत्वों' के समान हैं। उदाहरणार्थ, संविधान के अनुच्छेद २५ में कहा गया है कि "जीवन के सभी क्षेत्रों में लोक-कल्याण और सुरक्षा, तथा लोक-स्वास्थ्य की उन्नति और विस्तार करने को राज्य अपने प्रयासों का प्रयोग करेगा।" इसी प्रकार अनुच्छेद २७ को केवल एक नीति-उद्घोषणा मात्र कहा गया है जिसे हमारे संविधान सम्भवतः नीति निर्देशक तत्वों के साथ लिखा गया होता। यदा-कदा पुनरावृत्ति भी है, अनावश्यक अनुच्छेदों का समावेश है, भाषा शिथिल है और इस कारण निश्चित व्याख्या करने की भी कहीं-कहीं कठिनाई होती है। उदाहरण के लिए 'सर्वोच्च विधि' शीर्षक के दसवें अध्याय में लिखित ६७ अनुच्छेद में कहा गया है, "इस संविधान द्वारा जापान की जनता को प्रत्याभूत मूल मानव अधिकार मनुष्य के स्वतन्त्र होने के युग-प्राचीन संघर्ष के फल हैं। उन्होंने अपने टिकाऊपन के लिए अनेक कठोर परीक्षण पार किए हैं और इस तथा भविष्य की पीढ़ियों को न्यास में सदैव के लिए अनातिक्रमित रूप में धारण करने को प्रदान किए गये हैं।" कुछ विद्वानों के अनुसार इस अनुच्छेद से ऐसा आभास होता है कि संविधान में वर्णित मूलाधिकारों का लघुकरण नहीं किया जा सकता है। पर संविधान का कोई अंश पूर्ण रूप से अपरिवर्तनीय होना किसी प्रकार से युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होता है और साथ ही भविष्य की सन्तति पर वह सबसे बड़ा अत्याचार भी होगा। इस कारण इस अनुच्छेद का अर्थ विवाद-

ग्रस्त है और जापान के सर्वोच्च न्यायालय ने इस सम्बन्ध में अपना मत प्रकट नहीं किया है।

जापान के मूलाधिकार व्यवस्था की अन्य अति महत्वपूर्ण त्रुटि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की पदावधि लोक परिपृच्छा के आधीन कर देना है। इसके परिणामस्वरूप वह बहुमत की सनक को आघात पहुँचाने पर परिवर्तनीय कर दी गयी है। इस उपबन्ध ने जनता के सर्वाधिक क्रियाशील वर्ग के अधिनायकवाद को लागू करने का मार्ग खोल दिया है। सर्वोच्च न्यायालय अब ऐसे वर्ग के विरुद्ध और महत्वपूर्ण प्रश्नों पर स्वतंत्रतापूर्वक अपने अन्तःकरण के निदेश के अनुसार निर्णय नहीं कर सकता है। वह बहुसंख्यक वर्ग के विरुद्ध अल्पसंख्यक वर्ग की रक्षा करने में समर्थ हो गया है। नीचे के न्यायाधीशों का कार्यकाल दस वर्षीय और पुनर्नियुक्तीय करके उन पर कार्यपालिका का भी नियंत्रण स्थापित करना सरल कर दिया गया है। इन कारणों से 'इला' नाम की जापानी आदिवासी प्रजाति तथा कोरिया की राष्ट्रीयता वाले जापानी नागरिकों के विरुद्ध संविधान के सिद्धान्तों का उल्लंघन करके भेद-भाव की नीति बर्ती जा रही है।[1] जापान का सर्वोच्च न्यायालय भी अपनी सर्वोच्चता के पुनरीक्षण अधिकार का प्रयोग भी बहुत ही कम करता है।

जापान के संविधान में वर्णित मूलाधिकार

जापान के संविधान में विभिन्न प्रकार के अधिकारों का वर्णन भारतीय संविधान की भाँति पृथक्-पृथक् शीर्षकों के अन्तर्गत नहीं किया गया है। उनके वर्णन में कोई क्रम भी नहीं है। इन कारणों से निश्चयपूर्वक कहना कि जापान का संविधान कितने प्रकार के अधिकार प्रदान करता है अत्यन्त कठिन है। फिर भी वर्णन की सुगमता की दृष्टि से हम उनको निम्नाङ्कित शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित कर सकते हैं :—

१. जीवन और स्वाधीनता का अधिकार,

२. कार्य का अधिकार,

---

[1] माकी : पूर्व उद्धरित, पृ० २१७।

३. शिक्षा अधिकार,
४. समानता अधिकार,
५. शोषण के विरुद्ध अधिकार,
६. राजनैतिक शक्ति अधिकार,
७. याचिका अधिकार,
८. क्षति पूर्ति अधिकार,
९. स्वतन्त्रता अधिकार,
१०. धार्मिक स्वतन्त्रता अधिकार, और
११. सम्पत्ति अधिकार।

१. जीवन और स्वाधीनता का अधिकार—जापान के संविधान का अनुच्छेद ३१ यह उपबन्धित करता है कि "किसी व्यक्ति को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य प्रकार से जीवन या स्वाधीनता से वंचित न किया जायेगा और न कोई अन्य अपराधी शास्ति आरोपित की जायेगी। इस उपबन्ध के अनुसार न्यायालय व्यवस्थापिका द्वारा अधिनियमित विधियों को, यदि वे जीवन और स्वाधीनता को प्रभावित करती हैं, असंवैधानिक घोषित नहीं कर सकता है। न्यायालय का कर्त्तव्य केवल यह देखना है कि कार्यपालिका बिना अपने कार्य को विधि अनुकूल किए हुए किसी व्यक्ति की जीवन और स्वाधीनता में हस्तक्षेप न कर पाये। भारतीय संविधान का अनुच्छेद २१ जापान के संविधान के इसी अनुच्छेद पर आधारित है। संयुक्त राज्य अमेरिका के न्यायालय वहाँ जीवन और स्वाधीनता अधिकार की सुरक्षा करने वाले संविधान के पाँचवें संशोधन-अनुच्छेद में "विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया" के स्थान पर "विधि की उचित प्रक्रिया" (due process of law) शब्द प्रयुक्त होने के कारण प्रक्रिया के औचित्य के आधार पर व्यवस्थापिका के कार्य पर भी नियंत्रण करते हैं।

इस अनुच्छेद में वर्णित 'जीवन' का अर्थ 'प्राण' से ही नहीं है। 'जीवन से वंचित' न करने का अर्थ उन अंगों और गुणों से भी वंचित न करना है

जिनसे जीवन का उपभोग किया जाता है। इसलिए यह अनुच्छेद अंग-भंग करने का भी निषेध करता है।

'स्वाधीनता' शब्द शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से बड़ा व्यापक है। भारतीय संविधान में इसलिए 'दैहिक स्वाधीनता' शब्द प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ बन्दी या अभित्रासित किये जाने से बचाव है। केवल 'स्वाधीनता' शब्द का प्रयोग संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में है। लेकिन वहाँ पर न्यायालयों ने उसे दैहिक स्वतन्त्रता के समतुल्य ही माना है। स्वाधीनता अपहरण के अतिरिक्त अन्य अपराधी शास्ति भी बिना निश्चित प्रक्रिया के आरोपित नहीं की जा सकती है।

इस अनुच्छेद के अन्तर्गत 'जीवन और स्वाधीनता' के अपहरण के सम्बन्ध में प्रक्रिया स्थापित करने के राजकीय अधिकार को अनुच्छेद ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८ और ३९ के द्वारा परिसीमित किया गया है।

अनुच्छेद ३२ में कहा गया है कि किसी व्यक्ति को न्यायालय-प्रवेश अधिकार से इन्कार न किया जायेगा। पर भारतीय संविधान के अनुच्छेद २२ (२) की तरह इस अनुच्छेद में बन्दी की न्यायालय में उपस्थिति का समय निश्चित नहीं है। अनुच्छेद ३२ उपबन्धित करता है कि "किसी व्यक्ति को यदि वह अपराध करते समय ही पकड़ा नहीं जाता, सक्षम न्यायिक अधिकारी द्वारा जारी किए वारन्ट के अतिरिक्त, जिसमें व्यक्ति पर आरोपित किए अपराध का वर्णन हो, पकड़ा न जायेगा। इस उपबन्ध के होते हुए भी दण्ड प्रक्रिया संहिता के अनुच्छेद २१० में उपबन्धित है कि इस सन्देह का पर्याप्त आधार होने पर कि किसी व्यक्ति ने मृत्यु दंड, आजीवन कारावास या ३ वर्ष से अधिक अवधि के कारावास वाला अपराध किया है या परिस्थितियों के कारण न्यायालय गये बिना तत्कालीन बन्दीकरण की आवश्यकता है, तो उसे बिना वारन्ट के भी बन्दी बनाया जा सकता है। पर इस प्रकार बन्दी करने पर भी व्यक्ति को बन्दी किए जाने का कारण बताना और बन्दीकरण के बात तुरन्त वारन्ट प्राप्त करना आवश्यक है। सर्वोच्च न्यायालय ने इस अनुच्छेद को संवैधानिक माना है। भारतीय दंड संहिता के अनुच्छेद ५४ में भी ऐसी बहुत-सी परिस्थितियों का

वर्णन है जब कि पुलिस बिना वारन्ट के किसी व्यक्ति को बन्दी कर सकती है। पर भारतीय संविधान के अन्तर्गत बिना वारन्ट के बन्दी करना प्रतिषिद्ध नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के चौथे संशोधन में बिना वारन्ट के बन्दी किया जाना प्रतिषिद्ध है पर वहाँ भी कुछ परिस्थितियों में बिना वारन्ट के बन्दी बनाया जा सकता है।

अनुच्छेद ३४ में कहा गया है कि किसी व्यक्ति को तुरन्त उसके विरुद्ध आरोपों को सूचित किए या वकील के तत्कालीन विशेपाधिकार के बिना बन्दी या निरोधित न किया जायेगा, न वह बिना पर्याप्त कारण के निरुद्ध किया जायेगा, और किसी व्यक्ति की माँग पर ऐसे कारणों को तुरन्त खुले न्यायालय में उसके और उसके वकील के सामने दिखाया जायेगा। इस अनुच्छेद के उपबन्ध की पूर्ति के लिए दो प्रक्रियाएँ स्थापित की गयी हैं; प्रथम, बन्दी प्रत्यक्षी-करण अधिनियम (The Habeas Corpus Act) १६४८ के अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण प्रक्रिया, और दूसरा 'निरोध कारण दिखाने' की प्रक्रिया, जिसकी व्यवस्था दंड प्रक्रिया संहिता के ८२वें से ८६वें अनुच्छेद तक वर्णित है। इसके अन्तर्गत बन्दी को केवल निरोध का कारण खुले न्यायालय में दिखा दिया जाता है।

अनुच्छेद ३५ में उपबन्धित है कि सभी व्यक्तियों का अपने गृहों, प्रपत्रों, और सम्पति के सम्बन्ध में प्रवेशों, तलाशियों और अभिग्रहण के विरुद्ध सुरक्षित होने का अधिकार, बिना पर्याप्त कारण पर जारी किए गये और विशेष रूप से तलाशी किए जाने वाले स्थानों और अभिग्रहण की जाने वाली वस्तुओं का वर्णन करने वाले अधिपत्र, या जैसा अनुच्छेद ३३ में उपबन्धित है, के अतिरिक्त विनष्ट न किया जायेगा। दंड प्रक्रिया में उपर्युक्त अनुच्छेद का आदर किया गया है पर प्रशासनात्मक प्रक्रिया के अन्तर्गत बिना अधिपत्र के भी उपरोक्त कार्य किए जा सकते हैं। भारतीय दंड प्रक्रिया संहिता के अनुच्छेद ४७ के अन्तर्गत भी बिना अधिपत्र के गृह प्रवेश और तलाशी की स्वीकृति है पर भारतीय संविधान में बिना अधिपत्र के प्रवेश और तलाशी प्रतिषिद्ध नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के चौथे संशोधन में

जापान के संविधान के अनुच्छेद ३५ के समान ही उपबन्ध है पर सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयानुसार पीछा किए जाने वाले अपराधी के किसी मकान में छिप जाने पर उस मकान की या नाव, मोटर, वायुयान आदि की तलाशी बिना अधिपत्र के भी ली जा सकती है ।

अनुच्छेद ३६ से लोक अधिकारियों द्वारा यातना देना या निर्दयतापूर्ण दंड देना वर्जित है । पर ऐसा प्रतीत होता है कि पुलिस-अधिकारी कांड की खोज के समय संदेह किए गये व्यक्तियों को यातना देते हैं । सर्वोच्च न्यायालय के सन् १९४८ के निर्णय के अनुसार मृत्यु दंड एक निर्दयतापूर्ण दंड नहीं है ।

अनुच्छेद ३७ में घोषित किया गया है कि सभी दंडीय विवादों में अभियुक्त निष्पक्ष अधिकरण द्वारा शीघ्रतापूर्ण और खुले परीक्षण के अधिकार का उपयोग करेगा । उसे सभी साक्षियों की परीक्षा करने के पूर्ण अवसर की स्वीकृति दी जायेगी और उसे राजकीय व्यय पर अपने लिए साक्षी प्राप्त करने की अनिवार्य प्रक्रिया का अधिकार होगा । अभियुक्त को सदैव सक्षम वकील की सहायता मिलेगी । यदि अभियुक्त अपने प्रयत्नों से वकील प्राप्त करने में असमर्थ है तो वह उसके प्रयोग के लिए राज्य द्वारा दिया जायेगा । प्राप्त सूचना के अनुसार राज्य को इस अनुच्छेद के अन्तर्गत सारे दण्डीय वादों के ४० प्रतिशत वादों में वकील की व्यवस्था करनी पड़ती है ।

अनुच्छेद ३८ में यह उपबन्ध किया गया है कि कोई भी व्यक्ति अपने विरुद्ध साक्ष्य देने को विवश न किया जायेगा । दबाव, यातना या धमकी, अथवा दीर्घकाल की गिरफ्तारी या निरोध के पश्चात् प्राप्त की गयी अपराध-स्वीकृति प्रमाण रूप में मानी न जायेगी । किसी व्यक्ति को ऐसे मुकदमों में दोष-सिद्ध या दण्डित न किया जायेगा जिनका उसके विरुद्ध एक मात्र प्रमाण उसकी निजी स्वीकृति होगी । इस अनुच्छेद को प्रवृत्त करने के लिए जापान की दण्ड-प्रक्रिया संहिता के अनुच्छेद ३११ में यह घोषित किया गया है कि अभियुक्त प्रक्रिया भर मौन रह सकता है या वह किन्हीं प्रश्नों का उत्तर देने से इन्कार कर सकता है । अनुच्छेद १९८ और २९१ में न्यायाधीश, अभियोक्ता और

पुलिस अधिकारियों को निदेश दिया गया है कि वह अभियुक्त को सूचित कर दें कि उसे उत्तर देने से इन्कार करने का अधिकार है। वह जिस विषय पर पहले कुछ कह चुका हो उस पर पुनः कहने से भी इन्कार कर सकता है। जापानी अभियुक्त कोई बयान शपथ पर नहीं देता है। इसलिए वह मिथ्या साक्ष्य के लिए भी दंडित नहीं किया जा सकता है। भारतीय दंड-प्रक्रिया संहिता के अनुच्छेद ३४२ में भी इसी प्रकार का उपबन्ध है। दंड-प्रक्रिया संहिता के अनुच्छेद ३१६ (२) के अनुसार दोष सिद्ध करने के लिए अपराध-स्वीकृति की पुष्टि करने वाले साक्ष्य की आवश्यकता है। पर सर्वोच्च न्यायालय के सन् १६४६ के एक निर्णय के अनुसार खुले न्यायालय में अपराध स्वीकृति पर दोष सिद्ध किया जा सकता है। अनुच्छेद ३६ के अनुसार कोई भी व्यक्ति ऐसे कार्य के लिए दंड दायित्वी नहीं हो सकता है जो करने के समय वैध हो या जिसके लिए वह अपील न्यायालय द्वारा निर्दोषित घोषित किया जा चुका हो। वह दोहरी आपत्ति में भी नहीं डाला जा सकता है। पर प्राप्त सूचना के अनुसार जापान में इस उपबन्ध का पूर्ण आदर नहीं होता है। जापान के संविधान में भारतीय संविधान में उपबन्धित निवारक-निरोध की व्यवस्था नहीं की गयी है। इसलिए किसी व्यक्ति का बिना परीक्षण के निरोध नहीं किया जा सकता है। पर पुलिस अधिकारी अपराध की जाँच करने के उपालम्भ से व्यक्तियों को बहुत समय तक अपने बन्धन में रखते हैं।

२. कार्य अधिकार—यद्यपि बहुत कम संविधान व्यक्ति के कार्य अधिकार की प्रत्याभूति करते हैं पर राजनीतिशास्त्र के विद्वानों का यह मत है कि "नागरिक को कार्य करने का अधिकार है"। कार्य करने के अधिकार से तात्पर्य जीविकोपार्जन का अधिकार है। इसलिए व्यक्ति को कार्य के अधिकार के साथ अपने श्रम की समुचित मजदूरी मिलना चाहिए जिससे वह उस जीवन-स्तर की प्राप्ति कर सके जो रचनात्मक नागरिकता के लिये आवश्यक है। इसका गूढ़ार्थ यह भी है कि कार्य के न होने पर, जब तक नियुक्ति फिर कार्य का अवसर दे, जीविका का उपबन्ध हो। समुचित वेतन के अधिकार का प्रत्यक्ष उपसाध्य श्रम के न्यायसंगत घंटों का अधिकार है जिससे व्यक्ति को नागरिक

के रूप में विचारात्मक और रचनात्मक कार्यों का अवकाश मिल सके। साथ ही कार्य की अन्य परिस्थितियाँ ऐसी हों जिससे वह स्वस्थ रह सके। इस प्रकार कार्य के अधिकार के साथ उचित वेतन, कार्य के उचित घंटों, अवकाश कार्य की उचित दशाओं तथा बेरोजगारी के भत्ते का अधिकार सम्बद्ध है।

जापान के संविधान का अनुच्छेद २७ सभी व्यक्तियों के कार्य करने के अधिकार की प्रत्याभूति करता है और साथ ही सरकार का कर्तव्य बताता है कि वह वेतन, कार्य के घंटे, विश्राम और कार्य की दूसरी दशाओं को निश्चित करे। अनुच्छेद २५ सभी लोगों को स्वस्थ और संस्कृत जीवन के अल्पतम स्तर का पोषण करने का अधिकार प्रदान करता है और सरकार को यह निदेश देता है कि वह जीवन के सभी क्षेत्रों में लोक-कल्याण तथा सुरक्षा और लोक-स्वास्थ्य की उन्नति और विस्तार करने में अपने प्रयासों को प्रयोग करें। पर जैसा सर्वोच्च न्यायालय ने अपने २६ सितम्बर के निर्णय में २५वें अनुच्छेद की व्याख्या की है उसमें की गयी घोषणा एक वैधानिक अधिकार न होकर एक नीति निर्देशक तत्व मात्र है। इसलिए अनुच्छेद २८ कर्मचारियों को संगठित होने और सामुहिक रूप से सौदा करने तथा कार्य करने का अधिकार देता है। सर्वोच्च न्यायालय के मई १८ सन् १९४९ के निर्णय के अनुसार कर्मचारी अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए हड़ताल कर सकते हैं। पर, जैसा सर्वोच्च न्यायालय ने अपने १५ नवम्बर, सन् १९५० के निर्णय में घोषित किया है, कर्मचारियों का यह अधिकार संविधान में उल्लिखित अन्य मूलाधिकारों का, जिसमें सम्पत्ति अधिकार भी सम्मिलित है, उचित ध्यान करके प्रयोग करना चाहिए। अप्रैल ८ सन् १९५३ के निर्णय के अनुसार लोक अधिकारी यद्यपि कर्मचारी हैं पर उन पर लोक-कल्याण का आभार अधिक होने के कारण उनका अनुच्छेद २८ का अधिकार निर्बन्धित है। उनको सन् १९४८ में ही सामूहिक सौदे और हड़ताल के अधिकार से वंचित कर दिया गया था। बाद में यह विधि स्थानीय सरकारों के कर्मचारियों पर भी लागू कर दी गयी है। सरकारी कर्मचारियों को यद्यपि सामूहिक सौदा करने का अधिकार है पर हड़ताल

करने से वह भी प्रतिषिद्ध हैं।[1] वर्तमान स्थिति में सभी विद्यार्थी स्नातक हो जाने पर कार्य पा जाने की भी आशा नहीं करते।[2]

३. शिक्षा-अधिकार—नागरिक को नागरिकता के कार्यों के लिए उपयुक्त बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे उन उपादानों को प्रदान किया जाय जिससे वह उन कार्यों को कर सके। इस कार्य के लिए शिक्षा परमावश्यक है। अन्ततोगत्वा शक्ति भी उन्हीं के हाथ में होती है जो विचारों को समायोजित कर सकते हैं और उन्हें समझ सकते हैं। शिक्षा के अभाव में मनुष्य अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता है। इसी कारण प्लेटो, बेन्थम, जान स्टुअर्ट मिल, ग्रीन, गाँधी और लास्की ऐसे विद्वानों ने नागरिकों की शिक्षा को आवश्यक बताया है। शिक्षा के अधिकार का अर्थ यह नहीं है कि सभी लोगों को समान शिक्षा दी जाये। इसका अर्थ केवल यह है कि एक आवश्यक स्तर तक सबको समान शिक्षा दी जाये और इसके उपरान्त प्रत्येक व्यक्ति को उसकी क्षमता के अनुसार आगे शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए। जान स्टुअर्ट मिल के अनुसार राज्य को सार्वभौमिक शिक्षा को तो प्रवृत्त करना चाहिए और दीन वर्ग के शिक्षा के व्यय को देना चाहिए पर उसे सभी के लिए एक सामान्य राज्य शिक्षा की व्यवस्था न करनी चाहिए। राज्य द्वारा स्थापित और नियन्त्रित शिक्षा अनेक प्रतियोगी प्रयोगों में केवल एक होना चाहिए और व्यक्ति को स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वह अपने बच्चों को कहीं भी शिक्षा दिलाये।[3]

जापान के संविधान में उपरोक्त सिद्धान्त का ही समर्थन किया गया है। अनुच्छेद २३ में घोषणा कर दी गई है कि शिक्षा स्वतन्त्रता की प्रत्याभूति की जाती है। अनुच्छेद २६ में बताया गया है कि सभी व्यक्तियों को विधि में उपबन्धित स्थिति के अनुसार अपनी क्षमता के अनुसार समान शिक्षा पाने का अधिकार है। अपने परिरक्षण के सभी लड़कों और लड़कियों को विधि में

---

१ Dening, E. : JAPAN. 1960, p. 141.

२ Ibid p. 177.

3 Mill, J. S., *Op. cit.*, pp. 160-161.

उपबन्धित स्थिति के अनुसार साधारण शिक्षा प्राप्त कराना नागरिकों का आभार है। ऐसी अनिवार्य शिक्षा निःशुल्क होगी। मार्च सन् १६४७ की बेसिक शिक्षा विधि राज्य के विद्यालयों की ६ वर्ष की शिक्षा अनिवार्य और निःशुल्क बनाती है। ये विद्यालय प्रारम्भिक और माध्यमिक कक्षाओं के हैं और जिला मंडलों और स्थानीय मंडलों के आधीन हैं जो शिक्षा मंत्रालय द्वारा निर्धारित स्तर के अनुसार पाठ्यक्रम निश्चित करते हैं, पुस्तकें विहित करते हैं, अध्यापकों की नियुक्ति करते हैं, विद्यालयों को स्थापित करते हैं और उनका प्रवर्तन तथा नियन्त्रण करते हैं। इन मंडलों के विद्यालयों के अतिरिक्त जापान में बहुत से मिशनरी तथा पब्लिक स्कूल भी हैं। संरक्षकों को स्वतन्त्रता है कि वह अपने बच्चे को कहीं भी शिक्षा दें पर उसे देना आवश्यक है। जापान में बहुत से विश्वविद्यालय भी स्थानीय सरकारों और व्यक्तिगत प्रबन्धों के अन्तर्गत हैं। सन् १६६० में जापान में कुल २३४ पूरे कोर्स के विश्वविद्यालय थे जिनमें केवल ७२ विश्वविद्यालय राज्य के आधीन थे, ३२ स्थानीय सरकारों के हाथ में थे, और १३० व्यक्तिगत संस्थाएँ थीं। इस प्रकार शिक्षा-स्वतन्त्रता का उपभोग करने का पर्याप्त अवसर है।

४. **समानता का अधिकार**—प्रजातन्त्र राज्य में यह परमावश्यक है कि सभी व्यक्ति कानून के अन्तर्गत समान समझे जायें। समानता का अर्थ व्यवहार की समानता नहीं है। जब तक मनुष्य क्षमता और आवश्यकताओं में असमान है व्यवहार में समानता हो ही कैसे सकती है? समानता की प्रथम आवश्यकता विशेषाधिकारों का न होना है। इसका अभिप्राय यह है कि राजनीतिक विषयों में प्रत्येक व्यक्ति एक के बराबर माना जाये, कोई व्यक्ति एक से अधिक न माना जाये। सभी मनुष्यों को समान अधिकार मिलें। सभी व्यक्तियों को उन्नति का समान अवसर मिले।

जापान के संविधान द्वारा उपर्युक्त सभी प्रकार से समानता स्थापित करने का उपबन्ध किया गया है। अनुच्छेद १४ घोषित करता है कि 'विधि के अन्तर्गत सभी व्यक्ति समान हैं और जाति, पंथ, सामाजिक स्थिति या वंश

उद्भव के कारण राजनैतिक, आर्थिक और सामाजिक विभेद न किया जायेगा।' इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राज्य को लार्ड की उपाधियों को मान्यता देने से प्रतिषिद्ध कर दिया गया है। साथ ही यह भी कहा गया है कि सम्मान, विभूषण या उपाधि प्रदत्ति के साथ कोई विशेषाधिकार न होगा और न ऐसी प्रदत्ति ग्रहण किए हुए व्यक्ति, या इसको जो व्यक्ति आगे प्राप्त करें, के जीवन काल के आगे वैध होगी। अनुच्छेद २४ के अनुसार विवाह केवल स्त्री-पुरुष की परस्पर सहमति से हो सकता है और उसे पति-पत्नी के समान अधिकारों के आधार पर पारस्परिक सहयोग पर स्थापित रखने का निदेश है। अनुच्छेद की दूसरी कंडिका यह उपबन्धित करती है कि राज्य पति-पत्नी के चुनाव, सम्पत्ति अधिकार, उत्तराधिकार, निवास-चुनाव, तलाक तथा विवाह और परिवार सम्बन्धी अन्य विषयों में वैयक्तिक प्रतिष्ठा और स्त्री-पुरुष की सारभूत समानता के दृष्टिकोण से विधि-निर्माण करेगी। अनुच्छेद १४ के अन्तर्गत विभेद प्रतिषेध केवल अनुचित विभेद के सम्बन्ध में ही है। सर्वोच्च न्यायालय के ११ अक्टूबर सन् १९५० के निर्णय के अनुसार सरकार उचित विभेद कर सकती है। उसी न्यायालय ने अपने १४ दिसम्बर सन् १९५५ के एक निर्णय में विदेशियों के प्रति किए विभेद को वैधानिक माना है। एक और निर्णय के अनुसार अपने या स्त्री के कुल-क्रमागतों की हत्या पर अधिक दण्ड की व्यवस्था करने वाला दण्ड संहिता का अनुच्छेद २०० वैध है।

अनुच्छेद २४ के अनुसार उत्तराधिकार विधि में लिंग भेद आधार पर कोई अन्तर नहीं किया गया और कृषि-भूमि तथा अन्य सम्पत्ति में स्त्री-पुरुष को समान अधिकार दिया गया है। पर प्रयोग रूप में लड़कियाँ पिता की सम्पत्ति में भाग नहीं लेतीं। जापान में वेश्यावृत्ति प्रतिषेध करने वाली विधि भी लागू कर दी गई है और अन्य प्रकार की समानताओं को भी स्थापित करने का प्रयत्न भी किया गया है। पर जापान की विधि स्त्रियों से प्रगत है और अधिकांश स्त्रियाँ अपने अधिकार-प्रयोग की ओर ध्यान नहीं देतीं। स्थिति बहुत कुछ भारत जैसी ही है पर यहाँ पर हिन्दू विधि और भूम्याधिकार विधियों में उत्तरा-

धिकार ऐसे महत्वपूर्ण विषयों में भी स्त्री-पुरुष में पूर्ण समानता स्थापित नहीं की गयी है। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी लिंग के आधार पर पूर्ण समानता स्थापित नहीं हुई है।

भारत के संविधान के अनुच्छेद १८ (१) में भी राज्य द्वारा खिताब प्रदान प्रतिषेध किया गया है पर भारत सरकार 'भारत रत्न', 'पद्म विभूषण' आदि उपाधियों को प्रदान करती है। यद्यपि वह उन्हें खिताब नहीं कहती पर उनके आधार पर विशेषाधिकार प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए भारत सरकार का अग्राधिकार अधिपत्र (The Warrant of Precedence) इन उपाधि-धारियों की उच्च स्थिति स्वीकार करता है। इस प्रकार "वैधानिक रूप में यह सम्मान सरकार द्वारा खिताब न माने जायँ। पर प्रभाव रूप में वह लगभग उन्हीं के समान होते हैं।"[1]

५. शोषण के विरुद्ध अधिकार—हम देख चुके हैं कि नागरिकता के कर्त्तव्य के पालन और अपने जन्म के उद्देश्य की सिद्धि के लिए व्यक्ति को स्वाधीन होना चाहिए, उसे कार्य का अधिकार होना चाहिये, शिक्षा का अधिकार होना चाहिए, उसको अन्य व्यक्तियों के साथ समानता का अधिकार होना और उसका व्यक्ति के रूप में आदर होना चाहिए। इन सभी अधिकारों का आवश्यक उपसाध्य है कि किसी मनुष्य का दूसरे के द्वारा साधन के रूप में प्रयोग नहीं होना चाहिए। उसे परवश नहीं होना चाहिए। जापान के संविधान का अनुच्छेद १८ घोषित करता है कि किसी व्यक्ति को बन्धन में नहीं रखा जायेगा। अपराध के दंड के अतिरिक्त अनैच्छिक सेवाभार प्रतिषिद्ध है। यह उपबन्ध संयुक्त राज्य अमेरिका के १३वें संशोधन के समान है जिसमें कहा गया है कि न तो दासत्व और न अनैच्छिक सेवाभार, अपराध के दंड के अतिरिक्त, जिसके लिये पक्ष उचित रूप से दोष सिद्ध किया जायेगा, संयुक्त राज्य और

[1] "Legally these honours may not be recognized by the Government as titles. Yet in effect they almost amount to the same." M. V. Pylee : *Constitutional Government in India*, 1960, p. 212.

उसके क्षेत्राधिकार के आधीन अन्य प्रदेश के अन्दर विद्यमान रहेगी। अनैच्छिक सेवाभार (Involuntary servitude) के अन्तर्गत वे सभी नियंत्रण आ जाते हैं जिनके द्वारा एक व्यक्ति की दैहिक सेवा दूसरे के लाभ के लिए प्रवृत्त की जाती है या काम आती है। यह भारतीय संविधान में शोषण के विरुद्ध अधिकार प्रत्याभूत करने वाले अनुच्छेद २३ में प्रयुक्त मानव पण्य (Traffic in human beings) और बेगार दोनों शब्दों के भाव को प्रकट करता है। पर प्रतिषिद्ध सेवाभार में गृह सम्बन्धों में सेवा का नियमन, नौ-सेवा करने वाले व्यक्तियों का अवधि पूरक कार्य, अनिवार्य सैनिक सेवा, और सार्वजनिक कार्य जैसे बाँध और सड़कें बनाने के लिए विहित श्रम सम्मिलित नहीं होता। इस प्रकार जापान के संविधान का अनुच्छेद १८ संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान का संशोधक अनुच्छेद १३ और भारत के संविधान का अनुच्छेद २३ समान प्रभाव के हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद २४ की भाँति जापान के संविधान का अनुच्छेद २७ (२) किशोरों के शोषण को प्रतिषिद्ध करता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में भी इसी आशय का २३ संशोधन सन् १९६० में हो गया है।

६. **राजनैतिक शक्ति अधिकार**—प्रजातन्त्र सरकार जनता की सरकार कही जाती है, पर किसी भी राज्य में जो प्लेटो के नगर-राज्य के समान छोटा न हो, जनता प्रत्यक्ष रीति से स्वयं सरकार नहीं चला सकती है। उसे शासन चलाने के लिए अपना प्रतिनिधि चुनना होगा। छोटे नगर-राज्यों में भी नित्य-प्रति के कार्य-पालिका कार्यों को चलाने के लिए अधिकारियों को चुनना पड़ता है। अन्ततोगत्वा राज्य की शक्ति इसी निर्वाचक वर्ग में आ जाती है और वही लोग राज्य से होने वाले लाभों का उपभोग करते हैं। जो वर्ग सदैव के लिये मताधिकार से वंचित हो जाता है वह उसके लाभों के उपयोग से भी वंचित हो जाता है। इसलिये एक प्रजातन्त्र देश में सभी व्यक्तियों को जो नागरिकता के कर्त्तव्य करने योग्य हैं अपने शासकों के निर्वाचन करने का अधिकार होना चाहिए। पर निर्वाचन बिना बाह्य दबाव के स्वतन्त्रतापूर्वक किया जाये। यह तभी सम्भव

है जब अपने मत के लिए मतदाता उत्तरदायी न हों और वह अपना मतदान गुप्त रूप से करें। गुप्त मतदान के अभाव में मत मतदाता की इच्छा को नहीं वरन् उन पर पड़ने वाले दबावों को प्रकट करेगा।

एक सच्चे प्रजातंत्र देश के संविधान की भाँति जापान का संविधान अपने १५वें अनुच्छेद में सभी जनता के अपने लोक कर्मचारियों को चुनने और पदच्युत करने के अत्याज्य अधिकार को स्वीकार करता है। वह घोषित करता है कि लोक अधिकारी किसी समूह के नहीं वरन् समस्त जनता के भृत्य हैं। लोक अधिकारियों के निर्वाचन के लिए सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार प्रत्याभूत किया जाता है। सभी निर्वाचनों में मत पत्र की गोपनीयता का उल्लंघन न किया जायेगा, कोई मतदाता किए गये चुनाव के लिए सार्वजनिक या व्यक्तिगत रूप में उत्तरदायी न होगा।

संविधान द्वारा किया गया उपर्युक्त उपबन्ध एक वैधानिक अधिकार नहीं कहा जा सकता है क्योंकि राज्य के सभी अधिकारी न तो जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुने ही जाते हैं और न अपदस्थ ही किए जाते हैं। जैसा पिछले अध्यायों से प्रकट है इस अधिकार के सीमित प्रयोग की ही व्यवस्था है। पर यह व्यवस्था राजनैतिक शक्ति के प्रयोग के लिए पर्याप्त है।

७. याचिका अधिकार— अपने प्रतिनिधियों और अधिकारियों को अपनी इच्छा सूचित करने के लिए प्रजातंत्र देश की जनता को याचिका भेजने का अधिकार दिया जाता है। वास्तव में यह राजनैतिक शक्ति को प्रवृत्त करने का एक साधन है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान में मूलाधिकारों का समावेश करते समय इस अधिकार को सबसे अधिक महत्वपूर्ण समझा गया था और उसे प्रथम संशोधन में ही स्थान दिया गया है।

संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान के प्रथम संशोधक अनुच्छेद की प्रेरणा से ही जापान के संविधान में भी इस अधिकार को स्थान दिया गया है। अनुच्छेद १६ में घोषित किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी परिवेदना के उपचार, लोक अधिकारियों की पदच्युति, विधियों, अध्यादेशों और विनियमों

के अधिनियमन, निरसन या संशोधन और अन्य विषयों के लिए शान्तिपूर्ण याचिका देने का अधिकार होगा और ऐसी याचिका के प्रारम्भ करने के कारण किसी व्यक्ति के विरुद्ध विभेद न किया जायेगा।

यह अधिकार सिद्धान्त रूप में बड़े महत्व का होने पर भी प्रभाव रूप में अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकता है क्योंकि याचिका देने के अधिकार से याचिका सुनवाने का अधिकार प्राप्त नहीं होता है और संयुक्त राज्य अमेरिका की ही भाँति जापान में भी व्यवस्थापिका प्रतिसत्र सहस्रों याचिकाएँ प्राप्त करती हैं जो उसके द्वारा समितियों को भेज दी जाती हैं और विरले ही कभी उन पर कोई कार्यवाही की जाती है। फिर भी उचित प्रार्थना पत्रों को सदस्यों द्वारा अनुधावित होने पर समिति अपनी संस्तुतियों सहित मंत्रिपरिषद् के पास भेजती है जो परिवेदना का उपचार करने का प्रयत्न करती है।

८. क्षतिपूर्ति अधिकार—राज्य अधिकारी मनुष्य होते हैं। वह द्वेष भावना से किसी नागरिक को हानि पहुँचा सकते हैं। उनसे भूल भी हो सकती है और उनकी भूल से नागरिक हानि उठा सकता है। द्वेष-भावना या भूल से किए गये कार्यों से नागरिक की रक्षा और अधिकारियों को ऐसे कार्यों को करने से रोकने के लिए यह आवश्यक है कि पीड़ित व्यक्ति वैधानिक रूप से क्षति-पूर्ति प्राप्त कर सके।

जापान का संविधान अपने अनुच्छेद १७ और ४० के द्वारा नागरिकों को क्षतिपूर्ति प्राप्त करने का अधिकार देता है। अनुच्छेद १७ में कहा गया है कि किसी सार्वजनिक कर्मचारी के अवैधानिक कार्य से हानि उठाने पर प्रत्येक व्यक्ति, जैसा विधि द्वारा उपबन्धित है, राज्य या एक लोक सत्ता के विरुद्ध क्षति-पूर्ति के लिए व्यवहार ला सकता है। अनुच्छेद ४० में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति गिरफ्तारी और निरोध के पश्चात् निर्दोष घोषित कर दिया जाता है तो वह, जैसा विधि द्वारा उपबन्धित है, क्षतिपूर्ति हेतु राज्य के विरुद्ध व्यवहार ला सकता है।

यद्यपि भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधानों में इस प्रकार के

उपबन्ध नहीं हैं पर इन देशों में क्षति विधि (Law of Tort) के द्वारा क्षति-पूर्ति कराने की व्यवस्था है।

६. स्वतंत्रता अधिकार—अपने व्यक्तित्व के विकास करने और नागरिक कर्त्तव्यों को समुचित रूप से पूरा करने के लिए प्रत्येक प्रजातंत्र देश के नागरिक को कुछ मूल स्वतंत्रताओं का अधिकार प्रदान किया गया है। लिखित संविधान वाले देश में यह स्वतंत्रताएँ संविधान द्वारा प्रदान की जाती हैं और अलिखित संविधान के देशों में यह स्वतंत्रताएँ विधि द्वारा प्रदान की जाती हैं। जापान के संविधान में भी अनुच्छेद २१ और २२ के द्वारा निम्नाङ्कित स्वतंत्रताएँ प्रदान की गयी हैं :

क. वाक्, प्रकाशन और विविध प्रकार की अभिव्यक्ति स्वतंत्रता [अनु० २१ (१)]
ख. सम्मेलन स्वतंत्रता [अनु० २१ (१)]
ग. संघ बनाने की स्वतंत्रता [अनु० २१ (१)]
घ. निवास स्वतंत्रता [अनु० २२ (१)]
ङ. विदेश जाने की स्वतंत्रता [अनु० २२ (२)]
च. राष्ट्रीयता के त्याग की स्वतंत्रता [अनु० २२ (२)]
छ. व्यवसाय स्वतंत्रता [अनु० २२ (१)]

अनुच्छेद २१ के अन्तर्गत सम्मेलन, संघ, वाक्, समाचार तथा अन्य प्रकार की अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की प्रत्याभूति की गयी है और राज्य द्वारा सेन्सर लगाना और संचार साधनों की गोपनीयता का उल्लंघन करना प्रतिषेध किया गया है। सर्वोच्च न्यायालय ने अपने २० जुलाई सन् १९६० के निर्णय में प्रदर्शनों को भी विचार अभिव्यक्ति की एक पद्धति माना है पर लोक सुरक्षा के आधार पर उनके लिए पूर्व स्वीकृति लेने की आवश्यकता का उपबन्ध करने वाले स्थानीय अध्यादेश की संवैधानिकता को स्वीकार किया है। सन् १९५२ में जापान ने विध्वन्सात्मक कार्य नियंत्रण अधिनियम को पारित किया जिसके द्वारा सरकार विध्वन्सात्मक कार्यवाही करने वाले संघों को उन्मूलित कर सकती है।

१३ मार्च सन् १९५७ को सर्वोच्च न्यायालय ने 'लेडी चैटर्लेज़ लव्हर (Lady Chatterley's Lover) नामक पुस्तक के प्रकाशक को अश्लील प्रकाशन के कारण दंडित किए जाने को लोक कल्याण की प्रतिरक्षा करने के आधार पर न्यायोचित बताया है। निर्वाचन के सम्बन्ध में प्रकाशनों और सभाओं का परिसीमन करने वाली विधि को भी १६ अप्रैल सन् १९५७ के निर्णय में आर्थिक विषमता के निर्वाचन पर प्रभाव को हटाने के आधार पर उचित माना गया है। सीमा-कर अधिकारियों को लोक सुरक्षा और नैतिकता के आधार पर पुस्तकों और फिल्मों के आयात का प्रतिषेध करने का अधिकार है।

अनुच्छेद २२ में निवास स्थान चुनने और परिवर्तन करने और व्यवसाय करने की स्वतन्त्रता उस सीमा तक प्रदान करने की घोषणा की गयी है जहाँ तक वह लोक कल्याण में हस्तक्षेप नहीं करती। विदेश जाने और राष्ट्रीयता त्याग की स्वतंत्रता तो अलंघ्य घोषित की गयी है।

लोक कल्याण शब्द ने निवास स्थान चुनने व परिवर्तित करने तथा व्यवसाय करने की स्वतंत्रता को परिसीमित करने का बड़ा विस्तृत आधार दे दिया है। विदेश जाने और राष्ट्रीयता त्याग की घोषित अलंघ्य स्वतंत्रता भी वास्तव रूप में अलंघ्य नहीं है। पार पत्र अधिनियम (Passport Act) के अनुच्छेद १३ में यह उपबन्ध है कि उन व्यक्तियों को जिन पर यह विश्वास करने का कारण है कि वह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से राष्ट्रीय हित के विरुद्ध हानिकर कार्य कर सकते हैं, पार-पत्र देने से इन्कार किया जा सकता है और इस आधार पर ऐसे राजनैतिक सम्मेलनों को भाग लेने के इच्छुक व्यक्तियों को, जिनके उद्देश्य राष्ट्रीय हित को हानिकारक समझे गये, और साम्यवादी दल के नेताओं को पार-पत्र देने से इन्कार कर दिया गया है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद १९ में (१) वाक् स्वातंत्र्य और अभिव्यक्ति स्वातंत्र्य का (२) शान्तिपूर्वक निरायुध सम्मेलन का, (३) सन्था और संघ बनाने का, (४) भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र अबाध संचरण का, (५) भारत राज्यक्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और बस जाने का, (६)

सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का, तथा (७) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने का अधिकार दिया गया है। यद्यपि भारत में इन स्वतंत्रताओं के परिसीमन के आधार कई हैं जैसे पहली स्वतंत्रता पर (१) राज्य सुरक्षा, (२) विदेशों से संबंध, (३) लोक व्यवस्था, (४) शिष्टाचार या सदाचार, (५) न्यायालय अवमान, (६) मान-हानि, और (७) अपराध उत्तेजना; दूसरी पर लोक व्यवस्था, तीसरी पर लोक व्यवस्था और सदाचार चौथी, पाँचवी और छठी पर सामान्य जनता के हितों और अनुसूचित आदिम जातियों के हितों का संरक्षण; और सातवीं पर व्यावसायिक या प्रावैधिक अर्हताओं या राज्य अथवा राज्य द्वारा स्वामित या नियंत्रित निगम द्वारा उन कार्यों के करने के आधार पर उचित परिसीमन और प्रतिषेध लगाया जा सकता है। पर जापान के संविधान में परिसीमन को आधार के लिए प्रयुक्त 'लोक-कल्याण' शब्द बहुत व्यापक है और उसके अंतर्गत भारतीय संविधान के सभी आधार आ जाते हैं। पर भारतीय संविधान में सेन्सर प्रतिषिद्ध नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका में भी राज्य द्वारा व्यवसाय करने के अतिरिक्त अन्य सभी आधारों पर परिसीमन लगाये जा सकते हैं पर सेन्सर केवल युद्ध-काल में ही लगाया जा सकता है। वहाँ के सर्वोच्च न्ययायालय द्वारा परिसीमन के औचित्य की परीक्षा के लिए प्रयुक्त 'पुलिस शक्ति सिद्धान्त' की व्याख्या 'लोक कल्याण' शब्द की व्यापकता के साथ ही की गयी है।

१०. धार्मिक स्वतंत्रता—धार्मिक स्वतंत्रता उन स्वतन्त्रताओं में से एक है जिनकी माँग विश्व में सबसे प्रथम की गयी थी। जापान का संविधान भी अपने १९वें और २०वें अनुच्छेद में विचार, अन्तःकरण और धर्म की स्वतन्त्रताओं की प्रत्याभूति करता है और किसी भी धार्मिक संघटन की राज्य से किसी विशेषाधिकार की प्राप्ति या उसके द्वारा राजनैतिक प्राधिकार का प्रयोग प्रतिषिद्ध करता है। वह यह भी उपबन्ध करता है कि किसी व्यक्ति को किसी धार्मिक कृत्य या उत्सव, संस्कार या प्रथा में भाग लेने के लिए विवश नहीं किया जायगा और राज्य और उसके अवयव धार्मिक शिक्षा या अन्य किसी प्रकार के कार्य से दूर रहेंगे। राज्य का कोई धन या सम्पत्ति किसी धार्मिक संस्था या संघ के प्रयोग,

लाभ या पोषण के लिए व्यय नहीं किया जा सकता है (अनु० ८९) और धर्म के आधार पर किसी व्यक्ति से राजनैतिक, आर्थिक या सामाजिक संबधों में विभेद नहीं किया जा सकता है (अनु० १४) । पर यह स्वतंत्रता भी पूर्ण नहीं है। विचार और अन्तःकरण की स्वतंत्रता के आधार पर कोई व्यक्ति मानहानि वाला झूठा विवरण नहीं प्रकाशित कर सकता है ।

धार्मिक स्वतंत्रता का अर्थ केवल धर्म मानने की स्वतंत्रता मात्र ही नहीं है । इसके अन्तर्गत धार्मिक विश्वास, धार्मिक कृत्य करने और धर्म का प्रचार करने, तीनों की स्वतन्त्रताएँ सम्मिलित हैं । पर धर्म के नाम पर कोई ऐसा कार्य नहीं किया जा सकता है जो लोक कल्याण के विरुद्ध हो । राज्य सांस्कृतिक आधार पर धार्मिक संस्थाओं को भी अनुदान देता है। पर यह जापान में ही नहीं होता है । भारत में भी ऐसे आधारों पर राजकीय अनुदान प्रदान किए गये हैं ।

११. सम्पत्ति अधिकार—'संपत्ति अधिकार' एक विवादग्रस्त अधिकार है । अधिकार का उद्देश्य मनुष्य के व्यक्तित्व का विकास करना है । यदि उस विकास के लिए संपत्ति आवश्यक है तो संपत्ति अधिकार होना भी आवश्यक कहा जा सकता है । पर केवल व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक होने से किसी अधिकार की पुष्टि नहीं की जा सकती है । अधिकार केवल व्यक्ति के कल्याण के लिए ही नहीं वरन् समाज कल्याण के लिए भी आवश्यक होना चाहिए । समाज कल्याण के लिए आवश्यक वस्तु ही समाज द्वारा पोषित की जा सकती है । पर समाज व्यक्तियों का संगठन है । जिस वस्तु से सभी व्यक्तियों का कल्याण हो उससे समाज का भी कल्याण होगा । इस दृष्टि से संपत्ति अधिकार को उसी समय तक न्यायोचित ठहराया जा सकता है जब तक वह एक व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक है और दूसरे व्यक्ति के समान विकास में बाधक नहीं सिद्ध होता है । अतः संपत्ति अधिकार कभी भी पूर्ण नहीं कहा जा सकता है ।

जापान का संविधान इसीलिए अत्यन्त रक्षित शब्दों में संपत्ति अधिकार प्रदान करता है । अनुच्छेद २९ में संपत्ति के स्वामित्व और धारण अधिकार

सर्वोच्च न्यायालय ने २६ सितम्बर सन् १६४८ के निर्णय में ही वैधानिक अधिकार मानने से इन्कार कर दिया है। इसी प्रकार अनुच्छेद २७ में वर्णित कार्य के अधिकार के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। बिना एक समाजवादी आधार के राज्य ऐसा अधिकार प्रवृत्त कर ही कैसे सकता है? वास्तव में इनमें ऐसे बहुत से उपबन्ध हैं जो इस समय अप्राप्य हैं। यद्यपि संस्थाएँ निर्मित हैं। विधियाँ अधिनियमित कर दी गयीं। लोक स्वाधीनताओं के रक्षण के लिए आयोग और ब्यूरो स्थापित किए गए हैं। पर कहा जाता है कि ऐसे विचारणीय साक्ष्य हैं जिनसे प्रकट होता है कि नयी सार्वजनिक और व्यक्तिगत संस्थाओं में प्रतिबिम्बित आदर्शवाद व्यवहार में प्रवर्तित नहीं है।[1] पुलिस का दुर्व्यवहार अब भी जारी है, शिक्षा, धर्म और प्रकाशन की स्वतन्त्रता को कम करने का प्रयत्न किया जा रहा है। बन्दी परीक्षण के पहले बहुत समय तक जेल में रक्खे जाते हैं। बन्दी प्रत्यक्षीकरण विधि की परिवंचना कर दी गयी है। बहुत सी ऐसी विधियाँ पास कर दी गयी हैं जो संविधान के अनुच्छेदों के प्रतिकूल कही जाती हैं। इन सब कार्यों के लिए कुछ तो प्राचीन परिपाटी उत्तरदायी है और कुछ संविधान में पायी जाने वाली अस्पष्ट शब्दावली, जो इसे संभव बनाती है, उत्तरदायी है। अनुच्छेद १२, १३ में कहा गया है कि जीवन स्वाधीनता और प्रसन्नता की प्राप्ति के अधिकार का उसी सीमा तक ध्यान किया जायेगा जहाँ तक वह लोक-कल्याण में हस्तक्षेप नहीं करता है। अनुच्छेद १२ में जनता को यह निदेश है कि वह उन अधिकारों के लोक-कल्याण में प्रयोग के लिए उत्तरदायी है। ये दोनों उपबन्ध पूरे अध्याय के अनुच्छेदों पर लागू हैं। संवैधानिक शिथिलता के कारण न्यायपालिका को व्यवस्थापिका के दृष्टिकोण का आदर करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त नीचे के न्यायाधीशों की दस-वर्षीय पदावधि और पुनर्नियुक्ति की व्यवस्था उनकी स्वतन्त्रता को यदि विनष्ट

---

[1] "Unhappily there is ponderable evidence that the idealism reflected in new institutions, public and private, is not fully operative in practice." Quigley and Turner : *The New Japan*, 1956, p. 183.

नहीं तो कम अवश्य ही करती है। सर्वोच्च न्यायालय स्वयं परिपृच्छा व्यवस्था के कारण राजनैतिक नेताओं की इच्छा के अधिक विरुद्ध नहीं जा सकता।

इन सब त्रुटियों के होते हुए स्थिति अत्यधिक निराशापूर्ण नहीं है। समाचार पत्रों की स्वतन्त्रता का उपभोग किया जाता है और उस को निबन्धित करने के प्रयत्न के विरुद्ध तत्काल प्रतिक्रिया होती है[१]। न्यायालय विधि की उचित प्रक्रिया को प्रभावित करने वाले कार्यों पर अपना निर्णय देने में स्वतंत्रता दिखाते हैं।[२] हमें यह न भूलना चाहिए कि प्रजातंत्र सरकार के लिए प्रजातांत्रिक समाज का होना आवश्यक है। निरंकुशतावाद, सैनिकवाद और भृत्य तंत्र से अभ्यस्त मनुष्य संवैधानिक अधिकारों का पूर्ण प्रयोग कठिनता से कर पाते हैं। वैधानिक और स्थायी उपबन्ध तो एक सीमा तक ही प्रभाव डाल सकते हैं।

कर्त्तव्य—संविधान में अधिकारों के साथ-साथ निम्नाङ्कित कर्त्तव्यों का भी वर्णन किया गया है :

१. जनता संविधान द्वारा प्रत्याभूत अधिकारों को सतत् रूप में पोषित करने का प्रयत्न करेगी (अनु० १२)

२. जनता अधिकारों के दुरुपयोग से दूर रहेगी (अनु० १२)

३. जनता अधिकारों को लोक कल्याण में प्रयोग करने के लिए उत्तरदायी होगी (अनु० १२)

४. जनता अपनी परिरक्षा के लड़के और लड़कियों को विधि द्वारा निश्चित निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा देगी।

---

१ "In the case of freedom of the Press,...not only is the sense of freedom enjoyed, but the Press reacts almost instantaneously to anything which might be interpreted as an attempt to restrict its liberties." Sir Esler Dening, JAPAN, 1960, p. 159.

२ "the courts have shown independence in their rulings affecting due process of law." Quigley and Turner, '*The New Japan*', 1956, p. 185.

५. सभी लोगों का कार्य का आभार है।

६. कोई बच्चों का शोषण न करेगा।

७. जनता विधि द्वारा निश्चित कर देने की दायित्वी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कर्त्तव्य न तो अधिक हैं और न असाधारण ही हैं। वास्तव में "नागरिकों के कर्त्तव्यों की अपेक्षा अधिकारों पर बहुत अधिक बल दिया गया है।"[1]

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. 'एक आदर्श संविधान में अधिकारों की उद्घोषणाएँ कतिपय या नहीं होंगी, यद्यपि विधि की आदर्श पद्धति बहुत से अधिकारों को निर्धारित और प्रत्याभूत करेगी' (व्हेयर)।

'ऐसी महत्वपूर्ण योजनाएँ व्यवस्थापिका के संयोगिक बहुमत की विषम परिस्थितियों को छोड़ी नहीं जा सकतीं' (लास्की)। उपरोक्त मतों में आप किस से सहमत हैं? सकारण उत्तर दीजिए।

२. जापान की मूलाधिकार व्यवस्था की विशेषताओं का वर्णन करिए।

३. नवीन संविधान की मूलाधिकार व्यवस्था मेइजी संविधान की मूलाधिकार व्यवस्था से किन रूपों में भिन्न है?

४. जापान के नवीन संविधान में किन-किन मूलाधिकारों का वर्णन है और व्यावहारिक रूप में वह कहाँ तक पाये जाते हैं?

५. जापान के नवीन संविधान में वर्णित मूलाधिकार की भारतीय संविधान के मूलाधिकारों से तुलना करिए।

६. अधिकारों के सफल निर्वहण के लिए किन पूरक तत्वों की आवश्यकता है और जापान के संविधान में वह कहाँ तक विद्यमान है?

७. जापान के नवीन संविधान की मूलाधिकार व्यवस्था संयुक्त राज्य अमेरिका की व्यवस्था से किस प्रकार भिन्न है?

---

[1] "Far greater emphasis has been placed on the rights than on the duties of the citizens". C. Yanaga, *The Japanese Government and Politics*, 1957, p. 353.

९ | स्थानीय स्वशासन

"Local assemblies of citizens constitute the strength of free nations. Town meetings are to liberty what primary schools are to science; they bring it within the people's reach; they teach men how to use and how to enjoy it. A nation may establish a system of free government, but without the spirit of municipal institutions it cannot have the spirit of liberty"

Toqueville.

वर्तमान युग को यदि केन्द्रवाद (Centralism) का युग कहा जाय तो अत्योक्ति न होगी। शक्ति पिपासु शासक, भृत्य वर्ग और एकरूपता तथा कुशलता के समर्थक अन्य व्यक्ति सभी स्थानीय स्वशासन का अनेकानेक आधारों का विरोध करते हैं। केन्द्रीय शक्ति निरन्तर बढ़ रही और स्थानीय उपक्रम और स्थानीय विषयों के आत्म निर्णय का क्षेत्र कुण्ठित और सीमित होता जा रहा है। स्थानीय स्वशासन के यह विरोधी प्रजातन्त्र देश की आवश्यकता को भली-भाँति नहीं समझते हैं। पर यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि प्रत्येक राज्य में जो जन-कल्याण

चाहता है स्थानीय स्वशासन की प्रभावपूर्ण व्यवस्था की आवश्यकता निर्विवाद है। प्रजातन्त्रीय सरकार के पूर्ण लाभ तभी भली-भाँति उपभोग किए जा सकते हैं जब यह स्वीकार कर लिया जाय कि बहुत से ऐसे विषय हैं जिनका केन्द्रीय सरकार से कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं है और इन विषयों पर उन्हीं व्यक्तियों द्वारा निर्णय किया जाना चाहिए जिन पर उन विषयों का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। प्रत्येक क्षेत्र की जनता में कुछ विषयों के सम्बन्ध में सामान्य हितों की सामान्य चेतना होती है और इन विषयों के बारे में उसका दृष्टिकोण अन्य क्षेत्रों की जनता से भिन्न होता है। उदाहरणार्थ, प्रत्येक नगर के लोगों में वहाँ की जल और प्रकाश व्यवस्था के बारे में एक सामान्य हित की भावना होती है, पर उसे दूसरे नगर की समान समस्या से कोई रुचि नहीं होती है। वह अपनी ऐसी समस्यायों का समाधान एक विशेष प्रकार से करना चाहती है और यह चिन्ता नहीं करती कि दूसरे नगरों के निवासी उन्हें किस प्रकार से समाधान करते हैं। मानव-स्वभाव की यह भी एक विशेषता है कि वह स्वकीय कार्य में अधिक सन्तोष का अनुभव करता है और यदि कोई अन्य व्यक्ति या संस्था उसी स्तर का कार्य करे तो उससे उतना सन्तोष नहीं होता है। जनता ऐसे कार्य में कोई रुचि नहीं लेती है और कभी-कभी उसमें उसके प्रति विरोध भावना भी उत्पन्न हो जाती है। प्रजातंत्र राज्य की सफलता के लिए यह भी आवश्यक है कि जनता अपनी समस्याओं और उनके निराकरणों में रुचि ले और यह सबल स्थानीय स्वशासन की स्थापना से ही हो सकता है।

स्थानीय स्वशासन के अन्य कई लाभ हैं। केन्द्रीय सरकार जो कार्य करेगी उनमें प्रायः एकरूपता होगी। ऐसी स्थिति में वह कार्य विविधता-पूर्ण स्थानीय आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त यदि कोई सेवा केवल एक क्षेत्र के अनन्य लाभ के लिए है तो यही उचित है कि केवल उस क्षेत्र के निवासी ही उसका व्यय दें। यदि नागरिक किसी सेवा का व्यय स्वयं वहन करते हैं तो वह उस पर अपना अधिकार भी

चाहेंगे और वही व्यक्ति उस सेवा के व्यय को बढ़ने से रोकने के लिए उसे अधिक कुशलता से चला सकते हैं। इस प्रकार स्थानीय स्वशासन से व्यय में कमी होती है। इसके अतिरिक्त साधारण व्यक्ति यदि वह केवल कुछ वर्षों के पश्चात् निर्वाचन में केवल मत ही देते हैं तो उनको अपनी स्वतंत्रता का कोई अनुभव न होगा और न वह नागरिकता के महत्व को ही भली प्रकार समझ सकेंगे। धीरे-धीरे राज्य की राजनीति में उनकी रुचि समाप्त हो जायगी और उनमें राजनैतिक अकर्मण्यता उत्पन्न हो जायगी। इससे भ्रष्टाचार, साम्प्रदायिकता तथा जातीयता ऐसे द्वेष उत्पन्न हो जायेंगे। स्थानीय स्वशासन इन दोषों को ही दूर नहीं रखता वरन् जनता को प्रजातांत्रिक प्रतिनिधि शासन की शिक्षा भी देता है। हेनरी सिजविक ने इसीलिए लिखा है कि प्रतिनिधि सरकार में जो कुछ शिक्षात्मक मूल्य उचित रूप में बताया जाता है वह अधिकांश में स्थानीय संस्थानों के विकास पर निर्भर है।[1] स्थानीय स्वशासन के अभाव से केन्द्रीभूत शासन स्थापित होता है। देश की छोटी-बड़ी सभी समस्यायों का समाधान एक ही सरकार को करना पड़ता है। एक ही व्यवस्थापिका कानून बनाती है। एक ही मंत्रिमण्डल नीति निश्चय करता है। पर व्यवस्थापिकाओं का कार्य-भार वैसे ही बढ़ा हुआ। उनके पास न तो इतना समय ही है कि वह प्रत्येक विषय की सूक्ष्म वस्तुओं पर विचार कर सकें और न उनके पास इतनी क्षमता ही है कि विविध स्थानीय समस्याओं के सभी पक्षों पर उचित निर्णय ले सकें। ऐसी स्थिति में संसदों द्वारा पास कानूनों में मूल सैद्धांतिक नियम लिखे होते हैं। उनके विस्तृत नियम निश्चित करना और उन्हें लागू करना प्रशासकीय विभागों पर छोड़ दिया जाता है और यह कार्य भृत्य वर्ग के कर्मचारी करते हैं। इससे भृत्य तंत्र दृढ़ होता है। इसीलिए विद्वानों ने यह मत प्रकट किया है कि भृत्य तन्त्र को रोकने का सुगम उपाय स्थानीय संस्थाओं का विकास करना

[1] "Whatever "Educative" value is rightly attributed to representative government largely depends on the development of local institutions."
Henry Sidgwick.

है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि एक पिछड़े हुए देश में स्थानीय विकेन्द्रीयकरण कर देने से सुधार-कार्य शीघ्रता से करने में बाधा पड़ सकती है। पर स्थानीय शासन से विकास कार्यों में अत्यन्त आवश्यक सहायता भी मिलती है। स्थानीय निकाय एक ही समस्या के समाधान के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की पद्धतियाँ कार्य में लाते हैं। इससे उन पद्धतियों के प्रयोगों की असफलता से होने वाली हानि का क्षेत्र सीमित हो जाता है। प्रयोगों में क्षेत्र सीमित होने के कारण व्यय भी अधिक नहीं होता है और उनसे बहुमूल्य अनुभव होते हैं। इन प्रयोगों में श्रेष्ठ सिद्ध होने वाली पद्धति को दूसरे क्षेत्र अनुकरण करके लाभ उठा सकते हैं। इस प्रकार स्थानीय स्वशासन संस्थाओं को प्रजातंत्रीय शासन पद्धति की प्रयोगशालाएँ कहा जा सकता है जिनमें केवल राजनीतिक ही नहीं वरन् आर्थिक और सामाजिक समस्याओं पर समान रूप से सफलता-पूर्वक प्रयोग किया जा सकता है। इन प्रयोगों से समाज विज्ञानों के विकास में तो योग मिलता है साथ ही देश का विकास भी सफलतापूर्वक और उच्च कोटि का किया जा सकता है। स्थानीय विकेन्द्रीयकरण से केन्द्रीय सरकार का भी शासन-भार कम हो जाता है जिससे वह महत्वपूर्ण राष्ट्रीय समस्याओं पर अधिक गंभीरता से विचार कर सकती है। ऐसी परिस्थिति का लाभ विशेष रूप से युद्ध-जनित संकट के समय दृष्टिगोचर होता है। ऐसे समय में केन्द्रीय सरकार का समस्त ध्यान उस समस्या पर ही केन्द्रित रहता है और स्थानीय समस्याओं की उपेक्षा होने से उनका शासन बिगड़ जाता है। जनता को कष्ट और तद्जनित असन्तोष होता है जिससे केन्द्रीय प्रयासों में उसका पर्याप्त सहयोग नहीं मिलता है। स्थानीय स्वशासन संस्थायें जनता को राजनैतिक प्रशिक्षा भी देती है जिससे नेतृत्व का निर्माण होता है जो आगे चलकर केन्द्रीय शासन-भार को सफलतापूर्वक वहन करने में सहायक होता है।

स्थानीय स्वशासन का पूरा लाभ तभी हो सकता है जबकि स्थानीय सरकारों के अधिकार पर्याप्त हों। जिन संस्थाओं को केवल मार्गों और नालियों

को बनाने, नलों को लगाने और मार्गों पर प्रकाश मात्र करने के अधिकार हैं वह प्रजातांत्रिक प्रणाली को परिपुष्ट नहीं कर सकती हैं। स्थानीय निकायों को अधिक-से-अधिक अधिकार प्रदान करना चाहिए। स्थानीय संस्थाओं के अधिकारों के सम्बन्ध में भारत की कौन कहे इङ्गलैण्ड की संस्थाएँ भी आदर्श नहीं कही जा सकतीं हैं। इङ्गलैण्ड के स्थानीय निकाय कोई भी ऐसा कार्य नहीं कर सकते हैं जिसे करने के लिए संसद ने विधि पारित करके अनुमति न दी हो। इसलिए यदि कोई स्थानीय निकाय कोई नया कार्य करना चाहता है तो उसे संसद के पास एक प्रार्थना पत्र भेजना होता है। इस प्रक्रिया में समय और व्यय दोनों ही अधिक होते हैं। इससे कोई निकाय कोई नया प्रयास करने का साधारणतया साहस ही नहीं करता है। स्थानीय निकायों के अधिकारों के सम्बन्ध में तो अवशिष्ट अधिकार (theory of residual powers) को लागू होना चाहिए। सभी निकायों को वह कार्य करने का अधिकार होना चाहिए जो विधि द्वारा वर्जित न किए गये हों। इस पद्धति का सर्वोत्तम उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका की केन्द्रीय और राज्य सरकारों के मध्य का सम्बन्ध है। ऐसे अधिकारों के दुरुपयोग के लिए संसद को निषेधाधिकार दिया जा सकता है। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व जर्मनी के स्थानीय निकायों को ऐसे ही अधिकार प्राप्त थे और इनके कारण देश का शासन निरंकुश होने पर भी वहाँ के नगरों ने उच्चकोटि की बौद्धिक, आर्थिक तथा सामाजिक उन्नति कर ली थी। अपने थियेटर और ट्रामवे स्थापित किए थे, नगर व्यापार सङ्गठित किया था, स्कूलों में चिकित्सा-सेवा और मध्याह्न-भोजन की व्यवस्था की थी, तथा जनता को विविध प्रकार की सुविधाएँ प्रदान की थीं।

जापान की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं का इतिहास

मेइजी पुनर्स्थापन के पूर्व जापान में सामन्तवादी विकेन्द्रित शासन स्थापित था पर पुनर्स्थापन केन्द्रवादी सिद्धान्त पर आधारित था। इसलिए सामन्तवाद का उन्मूलन करके सन् १८७१ में देश को ७५ जिलों में विभाजित किया गया और प्रत्येक जिले में केन्द्रीय सरकार द्वारा एक राज्यपाल की नियुक्ति की गयी।

जिले दो प्रकार थे। प्रथम, नगरी जिले, जिन्हें जापानी भाषा में फू (Fu) कहा जाता था; द्वितीय, ग्रामीण जिले, जिन्हें केन (Ken) कहा जाता था। फू नगर, वार्ड और ब्लाक में विभाजित थे। ग्रामीण जिलों की इकाइयाँ काउन्टी, कस्बे, ग्राम और भूमि इकाइयाँ (land units) थीं। नगरों में नगर-पालिकाएँ स्थापित की गयीं। नगरपालिकाओं के कार्यपालिका-प्रधान मेयर थे जो लोक-सेवा के कर्मचारी होते थे। वार्डों में एक प्रतिनिधि सभा और मेयर द्वारा नियुक्त प्रधान होता था।

स्थानीय शासन का मुख्य दायित्व राज्यपाल पर होता था। वह केन्द्रीय नियमित सेवा के द्वितीय वर्ग (Chokunin) का अधिकारी होता था और उसका वेतन केन्द्रीय मंत्रालयों के प्रशासकीय प्रधानों के बराबर होता था। वह जिलों के पुलिस प्रशासन को चलाता था, विद्यालय स्थापित करता था, निर्माण-कार्य कराता था और नगरपालिकाओं के कार्य की देख-रेख करता था। जिलों में प्रतिनिधि सभाएँ भी होती थीं जिनमें जनसंख्या के आधार पर २० से ४५ तक सदस्य होते थे। इनकी वर्ष में एक बैठक होती थी। इनका मुख्य कार्य ७ से १० सदस्यों की जिला परिषद का निर्वाचन करना था। परिषद का सभा-पति राज्यपाल होता था। जिलों के व्यय के लिए केन्द्रीय सरकार अनुदान देती थी। इसके अतिरिक्त जिलों को कुछ कर लगाने का भी अधिकार था। जिला सभाओं को गृह मंत्रालय भंग कर सकता था।

स्थानीय निकायों की प्रतिनिधि-सभाएँ परामर्शीय संस्थायें थीं। उनके निर्णयों को स्थानीय कार्यपालिकाएँ और केन्द्रीय गृह-मंत्रालय निषिद्ध कर सकते थे। नगरपालिका सभाएँ अपने मेयर को केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से चुनती थीं और गृह मंत्रालय नगरपालिका सभाओं को भंग भी कर सकता था।

सन् १६४३ में युद्धकालीन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देश को ६ प्रशासन क्षेत्रों में संगठित किया गया और उनमें प्रशासकीय परिषदें स्थापित की गयीं। इनके सदस्य क्षेत्रीय जिलों के राज्यपाल होते थे जिनमें से एक को उसका अध्यक्ष बना दिया जाता था। अध्यक्ष प्रथम श्रेणी (Shinnin) का

अधिकारी माना जाता था। वह सीधे प्रधान मंत्री के प्रति उत्तरदायी होता था। सन् १९४५ में क्षेत्रों को महा-अधीक्षण-क्षेत्रों (Superintendencies general) में परिवर्तित कर दिया गया और अध्यक्ष महा-अधीक्षक बना दिया गया। जिलों के अधिकांश अधिकार अधीक्षण क्षेत्रों को ही हस्तान्तरित कर दिए गये।

नवीन संविधान में स्थानीय स्वशासन की व्यवस्था

नवीन संविधान में स्थानीय स्वशासन को विशेष महत्व दिया गया है और अध्याय ८ में उसके मूल सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। इसमें कहा गया है कि स्थानीय लोक सत्ताओं के संगठन और प्रवर्तनों सम्बन्धी विनियम स्थानीय स्वायत्तता के सिद्धान्त के अनुसार विधि द्वारा निश्चित किए जायेंगे (अनुच्छेद ९२)। स्थानीय लोक सत्ताएँ विधि के अनुसार अपने विचार-विमर्शीय अवयवों के रूप में सभाओं की स्थापना करेंगी (अनुच्छेद ९३-१)। सभी स्थानीय लोक सत्ताओं के मुख्य कार्यपालिका अधिकारी, उनकी सभाओं के सदस्य और अन्य ऐसे अधिकारी, जो विधि द्वारा विनिश्चित किए जायें, अपनी विभिन्न समाजों में जनता के प्रत्यक्ष मत से निर्वाचित किए जाएँगे (अनु० ९३-२)। स्थानीय लोक सत्ताओं को अपनी सम्पत्ति, कार्यों और प्रशासन का प्रबन्ध करने और विधि के अन्तर्गत अपने निजी विनियम अधि-नियमित करने का अधिकार होगा (अनु० ९४)। केवल एक स्थानीय लोक सत्ता पर प्रयोज्य कोई विशिष्ट विधि सम्बन्धित लोक सत्ता के मतदाताओं के बहुमत की विधि के अनुसार प्राप्त की गई स्वीकृति के बिना अधिनियमित नहीं की जा सकती है (अनु० ९५)।

संवैधानिक उपबन्धों का महत्व—यदि गंभीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यह स्पष्ट होगा कि उपरोक्त संवैधानिक उपबन्ध विशेष महत्व के नहीं हैं। उपरोक्त उपबन्ध दो प्रकार के हैं: प्रथम, संगठन सम्बन्धी; और द्वितीय, अधिकार सम्बन्धी। अनुच्छेद ९३-२ संगठन सम्बन्धी है। इसके अनुसार अब यह आवश्यक हो गया है कि स्थानीय सत्ताओं के मुख्य कार्यपालिका अधिकारी

और स्थानीय सभाओं के सदस्य क्षेत्र की जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित किए जायें। यह स्थानीय सत्ताएँ नगर, कस्बों और ग्रामों के संगठन हैं। इनके अन्तर्गत प्रादेशिक क्षेत्र नहीं आते हैं। जहाँ तक नगर, कस्बों और ग्रामों की सत्ताओं के संगठन का सम्बन्ध है, अनुच्छेद आदेशात्मक हैं और उनका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता है। पर संगठन का स्वयं विशेष महत्व का नहीं होता है। संगठन का महत्व उसी समय होता है जब सत्ताओं को महत्वपूर्ण कार्यों के सम्पादन का अधिकार दिया जाता है। अधिकार सम्बन्धी अनुच्छेद ९२ और ९४ हैं। अनुच्छेद ९२ कहता है कि स्थानीय लोक सत्ताओं के संगठन और प्रवर्तन सम्बन्धी नियम "स्थानीय स्वायत्तता" के सिद्धान्त पर बनाये जायेंगे। पर "स्थानीय स्वायत्तता" शब्द स्वयं बहुत स्पष्ट नहीं हैं। यह शब्द निश्चित रूप से यह नहीं बताते कि स्थानीय सत्ताओं के अधिकार के अन्तर्गत कौन-कौन से विषय हैं? इसके उत्तर में यह कहा जाता है कि वे वह विषय हैं जो प्रकृति से स्थानीय हैं। पर यह उत्तर स्वयं अस्पष्ट है। अनुच्छेद ९४ इसी का पूरक है। पर वह भी स्थानीय सत्ताओं के अधिकार स्पष्ट नहीं करता है। इसलिए विद्वानों का मत है कि यदि 'स्थानीय स्वायत्तता' की रक्षा करना है तो संविधान का संशोधन करके कुछ विषयों को अनन्य स्थानीय क्षेत्राधिकार में कर देना चाहिए। इसके अभाव में संविधान के अनुच्छेद उद्घोषणात्मक मात्र है और उनका कोई विशेष महत्व नहीं है। अनुच्छेद ९५ को इस दृष्टि से महत्वपूर्ण कहा जा सकता है कि यह अल्पसंख्यकों के विरुद्ध किए जा सकने वाले संभावित पक्षपात के विरुद्ध रोक है। पर उस रोक को सामान्य विधि के द्वारा हटाया जा सकता है। बहुसंख्यक वर्ग तो सदैव केन्द्रीकरण के पक्ष में ही होता है जिससे वह केन्द्रीय सरकार के अधिकारों की वृद्धि करके अल्पसंख्यकों के स्थानीय विषयों के शासन को केन्द्र से स्वयं करने में सफल होता है। इसलिए कुछ लोगों ने यह मत प्रकट किया है कि अनुच्छेद ९५ निरर्थक (Superfluous) है।

वर्तमान स्थानीय सत्ताएँ

वर्तमान स्थानीय सत्ताओं का संगठन स्थानीय स्वयत्तता विधि (Local Autonomy Law) १९४७ के आधार पर किया गया है। इस विधेयक के द्वारा प्रारम्भ में शासन-व्यवस्था का इतना विकेन्द्रीकरण कर दिया गया था कि स्थानीय इकाइयाँ वस्तुतः स्वायत्तशासी हो गयी थीं। पर संयुक्त राज्य अमेरिका के सैनिक अधिग्रहण के अन्त होने के समय से शासन-प्रवृत्ति में परिवर्तन हो गया है और स्थानीय सरकार की इकाइयों पर केन्द्रीय नियंत्रण बढ़ रहा है। सन् १९५६ के स्थानीय स्वायत्तता विधि के एक संशोधन द्वारा महानगरों और जिलों पर केन्द्रीय नियंत्रण इतना अधिक हो गया है कि वह राष्ट्रीय सरकार के एजेन्ट कहे जाने लगे हैं। इसके साथ ही क्षेत्र की नगरपालिकाओं पर जिलों का नियंत्रण बढ़ा दिया गया है।[1] इस समय देश में छः प्रकार की स्थानीय सत्ताएँ हैं :—

१. महानगर (Metropolis), ये केवल दो हैं; १—टोकियो और २—होकैदो।

२. नगरी जिले (Urban Prefectures), यह भी केवल दो ही हैं; १—क्योतो और २—ओसाका

३. ग्रामीण जिले (Rural Prefectures), इनकी संख्या ४२ है।

४. नगर (Cities)
५. कस्बे (Towns)
६. ग्राम (Villages)
} इनकी कुल संख्या लगभग ३००० है।

महानगर और जिले

महानगरों और जिलों की संगठन व्यवस्था लगभग समान है। जिले नगर, कस्बों और ग्रामों की सत्ताओं के ऊपर और केन्द्रीय सरकार के नीचे की मध्य की सत्ता है। महानगर और नगरी जिले वार्ड और ब्लाक के ऊपर हैं।

[1] H. S. & Martin E. M.; The Structure of Local Governments Throughout the World (1961) p. 427.

इसलिए कभी-कभी इन सब का सम्बोधन जिलों (prefectures) के नाम से ही किया जाता है।

कार्यपालिका—जिलों का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी राज्यपाल (Governor) कहा जाता है। राज्यपाल वही व्यक्ति हो सकता है जो जापान का नागरिक हो और जिसकी आयु तीस वर्ष या इससे अधिक हो। राज्यपाल स्त्री और पुरुष दोनों ही हो सकते हैं। उसे अपने क्षेत्र का निवासी होने की भी आवश्यकता है।. राज्यपाल अपने कार्यकाल में संसद या किसी स्थानीय सभा का सदस्य नहीं हो सकता। राज्यपाल जिले के मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष मत द्वारा निर्वाचित किया जाता है। उसका कार्यकाल चार वर्ष का होता है। पर वह तीन रीतियों द्वारा पदच्युत्त किया जा सकता है :

(१) विधि या निदेशानुसार किसी राष्ट्रीय विषय का प्रशासन न करने पर प्रधानमंत्री उसे पदच्युत कर सकता है।

(२) जिला सभा अपने सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से अविश्वास प्रस्ताव पास करके उससे पद छोड़ने की प्रार्थना कर सकती है। ऐसी स्थिति में राज्य-पाल चाहे पद त्याग कर दे या सभा को भंग करके पुनर्निर्वाचन कराये। यदि पुनर्निर्वाचित सभा अपने दो-तिहाई सदस्यों की उपस्थिति में साधारण बहुमत से अविश्वास प्रस्ताव पास करे तो राज्यपाल को पद त्याग करना अनिवार्य है।

(३) क्षेत्र के मतदाताओं को यह अधिकार है वह अपने एक-तिहाई बहुमत से प्रत्यावाहन प्रार्थना करें। ऐसी प्रार्थना पर क्षेत्र के मतदाता मत देते हैं और मतदाताओं के महुमत के प्रत्यावाहन के पक्ष में मत देने पर राज्यपाल को त्याग-पत्र देना आवश्यक है।

राज्यपालों की सहायता के लिए एक से तीन तक उपराज्यपाल होते हैं। इनकी नियुक्ति राज्यपाल स्वयं करता है और वही उनके कर्त्तव्यों को निश्चित करता है। जहाँ एक से अधिक उपराज्यपाल होते हैं वहाँ यह भी सम्भव है कि एक या दो उपराज्यपाल राज्यपाल के दल से भिन्न दल के हों। राज्यपाल की अनुपस्थिति में उपराज्यपाल उसके हेतु कार्य करता है। राज्यपाल और उसके

सहायक दोनों के ही न होने पर प्रधान मन्त्री अस्थायी राज्यपाल नियुक्तकर सकता है।

राज्यपाल की दो स्थितियाँ हैं। वह राष्ट्रीय विषयों में क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार का प्रतिनिधि होता है और स्थानीय विषयों में वह निकाय का अधिकारी होता है। वह जिले के प्रमुख कर्मचारियों को नियुक्त और पदच्युत कर सकता है। वही इन कर्मचारियों के कार्यों की देख-रेख करता है। वह प्रशासन के विभागीय संगठनों में हेर-फेर कर सकता है। स्थानीय आय-व्यय लेखा को तैयार कराना, करों का संग्रह कराना, व्ययों का भुगतान करना, आय-व्यय के लेखा की परीक्षा करना, निकाय की सम्पत्ति का प्रबन्ध करना और सरकारी कागजातों की सुरक्षा करना उसके प्रमुख कर्त्तव्य हैं। आवश्यकता के समय वह प्रतिकर देकर व्यक्तिगत सम्पत्ति को सार्वजनिक हित में प्रयोग कर सकता है। वह बिना सभा की स्वीकृति के विनियम प्रवृत्त कर सकता है और उनका उल्लंघन करने वालों पर २००० येन तक जुर्माना कर सकता है।

विनियम प्रवृत्त करने के अतिरिक्त उसे अन्य विधायकी शक्तियाँ भी प्राप्त हैं। दो परिस्थितियों में वह सभा की विधायकी शक्ति का प्रयोग कर सकता है: प्रथम, आपद के समय जब तुरन्त कार्यवाही करने की आवश्यकता हो; और द्वितीय, जब सभा समावेत न हो या राज्यपाल द्वारा आवश्यक समझे गये विषय पर वह कार्यवाही न करे। इसी प्रकार वह सभा द्वारा अस्वीकार किए विषय पर अपनी इच्छानुसार धन व्यय कर सकता है। यदि सभा फिर भी इन व्ययों का विरोध करती है तो वह सभा के कार्य को अविश्वास प्रस्ताव के रूप में लेकर उसे भंग कर सकता है और यदि नव-निर्वाचित सभा पुनः अविश्वास प्रस्ताव पास करती है तो राज्यपाल पद त्याग कर देगा।

राज्यपाल अपने क्षेत्र की नगरपालिकाओं, कस्बों और ग्रामों के निकायों पर भी पर्याप्त अधिकार रखता है। वह नगरपालिका के मेयर को तथा अन्य निकायों के प्रधानों को राष्ट्रीय या जिले के विषयों को निदेशानुसार प्रशासित न करने पर पदच्युत कर सकता है। वह मेयर और उपमेयर तथा प्रधानों और

उपप्रधानों दोनों के ही अभाव में अस्थायी मेयर और प्रधान नियुक्त कर सकता है। वह जिले के कार्यों को मेयरों और प्रधानों को हस्तान्तरित कर सकता है और जिले के कार्यों को करने में उनकी सहायता ले सकता है। वह उसके वैधानिक कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए परमादेश लेख प्रक्रिया की व्यवस्था कर सकता है। उसे नगरपालिकाओं व अन्य स्थानीय निकायों के और राष्ट्रीय विषयों के प्रशासन में संयोजन स्थापित करने का अधिकार है और इस कार्य को करते हुए वह नगरपालिकाओं व स्थानीय निकायों का निदेशन और देख-रेख कर सकता, उनके कागजातों और लेखाओं की जाँच कर सकता है और मेयरों और कस्बों और ग्रामों के प्रधानों की आज्ञाओं को रद्द कर सकता है।

राज्यपाल बहुत से राजनैतिक और सामाजिक कार्य भी करता है। वह अपने दलीय कार्य भी करता है। जनता की शिकायतों को सुनता है। राज्यपाल पूर्ण समय का एक वैतनिक अधिकारी होता है।

जिला-सभा—प्रत्येक जिले में एक जिला-सभा होती है। इसका निर्वाचन जिले के मतदाता करते हैं। सभा के सदस्य वही व्यक्ति हो सकते हैं जिनकी आयु कम-से-कम २५ वर्ष की हो। उनके लिये जिले का निवासी होना आवश्यक नहीं है। सभा के सदस्यों की संख्या जिले की जनसंख्या के अनुसार ४० से १२० तक होती है। सदस्य अपने कार्यकाल में संसद या अन्य किसी स्थानीय सभा के सदस्य नहीं हो सकते हैं। सभा का कार्यकाल भी चार वर्ष होता है।

सभा की बैठकें साल में ६ बार होती हैं। आवश्यकता के समय विशेष बैठकें बुलाई जा सकती हैं। बैठकें राज्यपाल द्वारा बुलायी जाती हैं पर सभा के एक-चौथाई सदस्यों की माँग पर बैठक बुलाना आवश्यक है। बैठक की अवधि, अवकाश, विराम आदि का निश्चय स्वयं सभाएँ करती हैं। सभाएँ स्वयं अपने सभापति चुनती हैं। राजस्व के अतिरिक्त सदस्य किसी भी अधिकृत विषय पर उपविधि का विधेयक प्रस्तुत कर सकते हैं। विधेयक साधारण बहुमत से पारित होते हैं। सभाएँ स्वयं अपने प्रक्रिया सम्बन्धी नियम निश्चित करती है। सभाएँ नागरिकों के प्रार्थना पत्रों की भी सुनवायी करती हैं। सदस्यों को वेतन मिलता है और एक कार्यकाल की सेवा के पश्चात् ही पेन्शन की भी व्यवस्था है।

सभाओं को उपविधि निर्माण करने का अधिकार है जिनके उलङ्घन पर १ लाख येन तक के जुर्माना और २ वर्ष तक कारावास की व्यवस्था की जा सकती है। वह वार्षिक आय-व्यय निश्चित करती है और लेखा-परीक्षा प्रतिवेदन पर विचार करती हैं। वह कर लगाती है और लोक-सेवाओं के शुल्क निश्चित करती हैं। वह प्रशासन की जाँच कर सकती हैं और इस कार्य के लिए जिले के कर्मचारियों की अपने समक्ष उपस्थित की माँग कर सकती है। वह जिले के कर्मचारियों के कागजातों की भी जाँच कर सकती हैं।

जापान की जिला-सभाओं की राज्यपाल के समक्ष स्थिति अत्यन्त जटिल है। एक ओर सभा राज्यपाल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास कर सकती है। दूसरी ओर राज्यपाल सभा को भंग कर सकता है। यदि पुनर्निर्वाचित सभा पुनः अविश्वास प्रस्ताव पास करती है तो राज्यपाल को पद त्याग करना आवश्यक है। यह सम्बन्ध एक उत्तरदायी प्रधानमन्त्री के संसद के साथ के सम्बन्ध के समान है। पर राज्यपाल सभा द्वारा चुना नहीं जाता है। वह जिले की जनता द्वारा चुना जाता है। यह स्थिति संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति की स्थिति के समान कही जा सकती है। उसे उसके समान ही निषेधाधिकार भी प्राप्त है। पर स्थानीय विषयों में भी राज्यपाल के अधिकार ऐसे हैं जो न तो संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति को प्राप्त है और न ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री को ही। जापान के प्रधानमन्त्री की स्थिति भी इतनी सुदृढ़ नहीं है। वह आवश्यकता समझने पर, यदि सभा स्वयं वांच्छित कार्यवाही नहीं करती, स्वनिर्मित उपविधि प्रवृत्त कर सकता है। वह सभा द्वारा अस्वीकृत विषय पर या कम की गई राशि के विषय पर इच्छानुसार धन व्यय कर सकता है। वास्तव में राज्यपाल एक शक्तिशाली स्थानीय अधिकारी है और प्रधानमन्त्री के उसे पदच्युत करने के अधिकार के अंकुश से उसका प्रयोग स्थानीय विषयों पर केन्द्रीय नियन्त्रक के रूप में सफलतापूर्वक किया जा सकता है। स्थानीय सभा और जनता द्वारा उसे हटाने के प्रयत्न अधिक प्रभावपूर्ण नहीं प्रतीत होते हैं और अभी तक वे निष्फल सिद्ध हुए हैं।

जिला-निर्वाचन-समितियाँ—जिला-सभाएँ अपने क्षेत्र के लिए ६

सदस्यों की एक जिला-निर्वाचन-प्रशासन-समिति चुनती हैं। यदि जिला-सभाएँ किसी कारण से यह कार्य नहीं करतीं हैं तो प्रधानमन्त्री अस्थायी समिति मनोनीत कर सकता है। सदस्य के अर्हतापूर्ण मतदाता होना चाहिये और किसी भी राजनैतिक दल के दो से अधिक व्यक्ति समिति के सदस्य नहीं हो सकते हैं। समितियाँ अपना सभापति अपने सदस्यों में से स्वयं चुनती हैं। समितियों का कार्यकाल तीन वर्ष होता है।

निरीक्षण आयोग—प्रत्येक जिले में उसके प्रशासन की जाँच करने के लिए एक निर्वाचन आयोग होता है। इस आयोग में चार आयुक्त होते हैं। इनकी नियुक्ति राज्यपाल सभा की स्वीकृति से करता है। दो आयुक्त सभा के सदस्यों में से ही होते हैं। शेष दो सदस्य बाहर के होते हैं जिनकी नियुक्ति विशेष ज्ञान और अनुभव के आधार पर की जाती है। इन आयुक्तों का कार्य-काल दो वर्ष होता है और इन्हें अपनी सेवा का पारिश्रमिक मिलता है। आयोग जिला प्रशासन; लोक उद्योगों; और अनुदान, ऋण या सहायता प्राप्त संस्थाओं का निरीक्षण करता है। सभा उससे जिला के किसी भी कार्य का निरीक्षण करने का अनुरोध कर सकती है। वह अपना प्रतिवेदन राज्यपाल, जिला-सभा, शिक्षा परिषद, लोक सुरक्षा आयोग इत्यादि के सम्मुख भेजता है।

जिला-लोक-सेवा—जिलों की लोक-सेवा तत्सम्बन्धी विधि पर, जो संसद द्वारा दिसम्बर सन् १९५० में पारित की गयी थी, आधारित है। जिला लोक-सेवाएँ भी राष्ट्रीय लोक सेवा की भाँति नियमित और विशेष दो भागों में विभाजित हैं। निर्वाचित कर्मचारी विशेष सेवा के माने जाते हैं और उन पर लोक-सेवा सम्बन्धी नियम लागू नहीं होते हैं। नियमित सेवा के अन्तर्गत प्रशासन कर्मचारी, शिक्षा परिषद और स्थानीय पुलिस के व्यक्ति होते हैं। जिलों और पाँच बड़े शहरों—ओसाका, क्योतों, नगोया, कोवे और याकोहामा—में कार्मिक आयोग हैं। इनमें ३ सदस्य होते हैं जो स्थानीय सभाओं की स्वीकृति से राज्य-पाल या मेयर द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। इनका कार्यकाल ४ वर्ष होता है। इनके अवैधानिक और विध्वन्सात्मक कार्यों के अपराध पर या शारीरिक या मानसिक अक्षमता के कारण महादोषारोपण द्वारा इन्हें पदच्युत किया जा सकता

है। यह आयोग कर्मचारियों का वर्गीकरण, प्रशिक्षण, वेतन, परीक्षा, नियुक्ति आदि सम्बन्धी कार्य करते हैं। नियुक्तियाँ और पदोन्नति प्रतियोगात्मक परीक्षाओं और कार्यलेखा के आधार पर होती हैं। केन्द्रीय कार्मिक शक्ति द्वारा बनायी सूची से भी कर्मचारी नियुक्त किए जा सकते हैं। कर्मचारियों पर राजनैतिक कार्यों सम्बन्धी नियम केन्द्रीय लोक सेवा के कर्मचारियों पर लगे प्रतिबन्धों के समान ही लागू हैं। स्थानीय कार्मिक आयोग कर्मचारियों की कार्यदशा और वेतन आदि सम्बन्धी शिकायतें भी सुनते हैं। आयोग पदच्युत व्यक्ति को पुनः नियुक्त करके उसकी वेतन सम्बन्धी क्षति की पूर्ति कर सकते हैं। कर्मचारियों की बीमारी, मृत्यु और निवृत्ति काल के लिए उनके और उनके आश्रितों के कल्याण की उत्तम व्यवस्था है।

जिला शिक्षा—शिक्षा के प्रबन्ध के लिए प्रत्येक जिले और पाँचों बड़े नगरों में ७ सदस्यों की परिषद होती है। इसके ६ सदस्य जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं और एक सदस्य जिला या नगरपालिका सभा द्वारा निर्वाचित किया जाता है। इस परिषद का कार्यकाल भी चार वर्ष होता है। परिषद का कार्यपालिका अधिकारी एक अधीक्षक होता है। अधीक्षक की नियुक्ति परिषद स्वयं करती है। परिषद वित्त के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों के संचालन में स्वतन्त्र होती है। जिला परिषदें केन्द्रीय शिक्षा विभाग से अपने नीति सम्बन्धी विषयों में स्वतंत्र हैं। यह परिषदें विद्यालय की स्थापना करती हैं, शिक्षक नियुक्त करती हैं, पाठ्य पुस्तकें, प्रमाण-पत्र, और बजट निश्चित करती हैं। जिले के व्यक्तिगत विद्यालय राज्यपाल की नियमन शक्ति के अन्तर्गत होते हैं। जिला परिषदें विश्वविद्यालयों तथा उच्चतर शिक्षा की संस्थाओं को छोड़कर अन्य विद्यालयों का प्रबन्ध करती हैं। कुछ जिलों ने विश्वविद्यालय और उच्चतर संस्थायें भी स्थापित की हैं पर उनकी आन्तरिक व्यवस्था उनके हाथ में नहीं है।

जिलों की आर्थिक व्यवस्था—जिलों की अर्थ व्यवस्था अर्द्ध स्वतंत्र है। उनकी आय के निश्चित साधन हैं पर टैक्स की दरों को केन्द्रीय सरकार ही निश्चित करती है। जिले केन्द्रीय सरकार से पचास प्रतिशत समानकरण के आधार पर सहायता भी पाते हैं। जिले केन्द्रीय सरकार के स्थानीय वित्त आयोग

की स्वीकृति के बिना ऋण नहीं ले सकते हैं। इस आयोग की नियुक्ति प्रधानमन्त्री स्थानीय सत्ताओं के संघों की संस्तुति पर करता है। जिले नगरपालिकाओं तथा अन्य स्थानीय सत्ताओं के प्रशासन पर नियंत्रण रखते हैं और उनकी स्वीकृति के बिना वे ऋण नहीं ले सकती हैं। इन स्थानीय सत्ताओं की ऋण सम्बन्धी प्रार्थना जिलों और स्थानीय वित्त आयोग के द्वारा मन्त्रिपरिषद् के पास जाती है। सारे जिले के लिए कर-दरें जिले निश्चित करते हैं और अन्य स्थानीय निकायं उन पर १००% की वृद्धि कर अपनी आय का निर्माण करते हैं। जिले केन्द्रीय करों को भी संग्रह करते हैं।

जिला पुलिस—जिला पुलिस प्रशासन की स्थिति तीन बार परिवर्तित हुई है। युद्ध पूर्व काल में सिद्धान्त रूप में पुलिस प्रशासन केन्द्रीभूत था। पर व्यव-हार रूप में वह पर्याप्त रूप में विकेन्द्रित था, क्योंकि जिला राज्यपालों को नीति सम्बन्धी विषयों में पर्याप्त स्वतन्त्रता थी। सन् १९४७ की पुलिस विधि के अन्तर्गत केन्द्र, जिलों और नगरपालिकाओं में लोक सुरक्षा आयोग स्थापित किये गये जिनकी नियुक्ति क्रमशः प्रधानमन्त्री, राज्यपाल और नगरपालिका प्रधान करते थे। यह आयोग निर्दलीय और राजनीति से तटस्थ होते थे और अपने-अपने क्षेत्र की पुलिस शक्ति का नियंत्रण और देख-रेख करते थे। जिले की स्वयं कोई पुलिस न थी। जिला आयोग राष्ट्रीय ग्रामीण पुलिस की जिला इकाइयों के प्रवर्तन पर ही नियन्त्रण रखते थे। जिला आयोग को जनता प्रत्यावाहन द्वारा हटा सकती थी पर राज्यपाल के पास उसे प्रभावित करने की कोई वैधानिक शक्ति न थी। जुलाई १९५४ में विधि में एक संशोधन किया गया जिससे जिला पुलिस आयोग का जिला पुलिस पर अधिकार केवल परामर्शीय रह गया है। सभी महत्वपूर्ण विषय केन्द्रीय विधि द्वारा नियमित होते हैं। संगठन संख्या, व्यवस्था और स्थान के सम्बन्ध में भी केन्द्रीय अधिकारियों द्वारा स्थापित स्तरों से नियमित होते हैं और जिला आयोग केवल साधारण विषयों पर ही विचार करते हैं।

जिलों के कार्य—जिलों के उत्तरदायित्व का मुख्य भाग केन्द्रीय सरकार के स्थानीय अभिकरण के रूप में कार्य करना है। इसलिए वह अपने क्षेत्र के

नगरों, कस्बों और ग्रामों की स्थानीय-सरकार की संस्थाओं के कार्यों को निदेशित तथा उनकी देख-रेख करते हैं और विभिन्न सत्ताओं के कार्यों के मध्य संयोजन स्थापित करते हैं। वह केन्द्रीय सरकार और स्थानीय सत्ताओं के मध्य सम्पर्क स्थापित करते हैं। इन कार्यों के अतिरिक्त जिले उच्चतर शिक्षा की संस्थाओं की स्थापना द्वितीय श्रेणी की सड़कों का निर्माण तथा मरम्मत और क्षेत्र की पुलिस-सेवा का प्रबन्ध भी करते हैं।

नगर, कस्बे और ग्राम

३०,००० से अधिक जनसंख्या वाली बस्तियाँ जिनके ६० प्रतिशत निवासी नगरी व्यवसाय करते हैं और जो नगर की भाँति दिखाई पड़ती हैं नगर माने जाते हैं। ग्राम और कस्बों का भेद जिला और महानगरों की उपविधियों द्वारा किया जाता है। महानगरों के वार्डों को नगर का स्थान प्राप्त है और उनका शासन भी उसी प्रकार होता है। इन सभी सत्ताओं का शासन एक प्रकार से होता है।

इन सत्ताओं की कार्यपालिका शक्ति एक मेयर या प्रधान में निहित होती है जो क्षेत्र की जनता द्वारा प्रत्यक्ष मत से चुने जाते हैं। मेयर या प्रधान के पद के लिए चुनाव लड़ने वाले व्यक्ति की आयु कम-से-कम २५ वर्ष होना चाहिए। उसे जापान का नागरिक होना और अर्हतायुक्त मतदाता भी होना आवश्यक है। वह अपने कार्यकाल में, जो चार वर्ष का है, संसद या किसी स्थानीय सभा का सदस्य या अन्य किसी राजकीय पद का पदाधिकारी नहीं हो सकता है। राज्यपाल मेयर और प्रधानों को राष्ट्रीय या जिला विषयों को विधि या निदेशानुसार शासित न करने पर पदच्युत कर सकता है। उसे अविश्वास प्रस्ताव और प्रत्यावाहन प्रक्रिया द्वारा राज्यपाल के समान ही पदच्युत किया जा सकता है। मेयर और प्रधान राज्यपाल के समान ही अपने एक या अधिक सहायक नियुक्त और पदच्युत कर सकते हैं। वही अपने सहायकों के कर्त्तव्य निर्धारित करते हैं। सहायक मेयर या प्रधान की अनुपस्थिति में उसके कार्यों का सम्पादन करता है। मेयर या प्रधान और उनके सहायकों दोनों के अभाव में राज्यपाल अस्थायी

प्रधान नियुक्त कर सकता है। मेयर और प्रधान राज्यपाल के निदेश और देख-रेख में राष्ट्रीय और जिले के कार्यों को करते हैं। इसके अतिरिक्त ये अपने क्षेत्र के सम्बन्ध में उसी प्रकार कार्य करते हैं जिस प्रकार राज्यपाल जिले के सम्बन्ध में करता है। उनके अधिकार और क्षेत्र-सभा से सम्बन्ध भी उसी प्रकार के होते हैं।

क्षेत्रीय सभाएँ २० वर्ष या इससे अधिक आयुवाले क्षेत्र के निवासी मत-दाताओं द्वारा .जो निर्वाचन के पूर्व तीन माह तक क्षेत्र में रहे हों, चुनी जाती हैं। सदस्यों की न्यूनतम आयु २५ वर्ष और उन्हें क्षेत्र का निवासी होना चाहिए। सभाओं की सदस्य संख्या १२ से ४८ तक होती है। क्षेत्रीय सभाओं का भी कार्यकाल चार वर्ष का ही होता है। सदस्य संसद या जिला सभा के सदस्य नहीं हो सकते हैं। कस्बों और ग्रामों में सभाओं के स्थान पर सारे मतदाता भी कार्य कर सकते हैं। क्षेत्रीय सभाएँ जिला सभाओं की भाँति ही कार्य करती हैं। सभाओं के क्षेत्र सम्बन्धी अधिकार भी जिला सभाओं की भाँति होते हैं। क्षेत्र सम्बन्धी विषयों में इनके अधिकार संसदीय और जिला सभाओं के विधायकी अधिकारों के समवर्ती हैं। जिला सत्ताओं की भाँति नगरपालिकाओं के कार्य भी दो प्रकार के हैं। प्रथम, वह स्थानीय विषयों का प्रशासन करती हैं और द्वितीय, जिला संगठन इनको कुछ कार्य हस्तान्तरित कर देते हैं। स्थानीय विषय गृह-निर्माण व्यवस्था करना, स्थानीय सड़कें और पुल, अस्पताल तथा स्वास्थ्य केन्द्रों की स्थापना करना; स्वच्छता की व्यवस्था करना; ऋणदाता तथा स्त्रियों की नियुक्ति करने वाली संस्थाओं की स्थापना और संचालन कराना; और शिक्षा संस्थाएँ स्थापित तथा प्रशासित करना है। ये अपने व्ययों के लिए निर्धारित स्थानीय कर लगा सकती हैं। कुछ कार्यों के लिए केन्द्रीय अनुदान भी मिलता है। स्थानीय सत्ताओं की आय का लगभग ६० प्रतिशत भाग ऐसे ही अनुदानों से प्राप्त होता है।

नगरों, कस्बों और ग्रामों में भी जिलों की भाँति निर्वाचन प्रशासन समि-तियाँ होती हैं। इनमें केवल चार सदस्य होते हैं। यह समितियों की देखरेख में निर्वाचन सम्बन्धी कार्य करती हैं।

नगरों, कस्बों और ग्रामों को भी निरीक्षण आयोग नियुक्त करने का अधिकार है।

पाँचों मुख्य नगरों में जिलों के समान कार्मिक आयोग और अन्य सत्ताओं में न्याय्यता आयोग हैं। इनके सदस्यों को, जिनकी संख्या ३ ही होती है, क्षेत्र का कार्यपालिका प्रधान उनकी नियुक्ति करता है। कार्मिक आयोग के सदस्य पूर्ण समयी भी हो सकते हैं पर न्याय्यता आयोग के सदस्य अंश-समयी ही होते हैं। इनका वेतन सत्ता-सभाएँ निश्चित करती हैं पर योग्यता केन्द्र द्वारा निश्चित है। कार्मिक आयोग जिला कार्मिक आयोगों की भाँति लोक-सेवा आयोगों के कार्य करते हैं पर न्याय्यता आयोग केवल कर्मचारियों की शिकायतें मात्र सुनते हैं।

नगरों में ५ सदस्यों की शिक्षा परिषद होती है जिनका निर्वाचन सत्ता-सभा करती है। प्रत्येक परिषद एक अधीक्षक नियुक्त करती है। यह परिषदें अपने अवित्तीय कार्यों में सत्ता-सभा और कार्यपालिकाओं से स्वतंत्र होती हैं। इन्हें अपने कार्यों का वार्षिक प्रतिवेदन जिला शिक्षा परिषद को देना पड़ता है।

पुलिस विधि १९४७ से प्रत्येक नगर, कस्बे और ग्राम में जिसकी जन-संख्या ५,००० से अधिक थी स्वायत्त पुलिस की स्थापना की गयी थी। पाँच हजार से कम जनसंख्या वाले ग्रामों के लिये राष्ट्रीय ग्रामीण पुलीस की स्थापना की गयी थी। स्वायत्त पुलिस पर केन्द्रीय नियंत्रण केवल स्तर, अभिज्ञान, संचार, प्रशिक्षण, वैज्ञानिक अपराध-अनुसंधान तथा सांख्यकी के सम्बन्ध में था। आपद्‌काल में प्रधान मंत्री को पुलिस के सम्बन्ध में कुछ विशेषाधिकार थे। पुलिस के प्रशासन के लिए नगर लोक सुरक्षा आयोग स्थापित किए गए थे। इनके सदस्यों की नियुक्ति नगर-प्रधान सभाओं की स्वीकृति से करते थे। आयोग निर्दलीय होते थे और इनका कार्य पुलिस दल का नियंत्रण और देख-रेख करना था। सदस्य स्थानीय मतदाताओं द्वारा प्रत्यावाहित किए जा सकते थे पर नगर-प्रधान का सुरक्षा आयोग पर कोई वैधानिक नियंत्रण न था।

पुलिस के इस विकेन्द्रीकरण से भ्रष्टाचार, कुव्यवस्था, अकुशलता और गुंडागर्दी बढ़ी। पुलिस-शक्ति दुर्बल हो गयी। सरकार और पुलिस में पृथकता

आ गयी। संयोजन और सहयोग के स्थान पर विभिन्न क्षेत्रों की पुलिस में पारस्परिक अविश्वास और ईर्ष्या उत्पन्न हो गयी।

फलतः सन् १९५१ में पुलिस विधि में संशोधन करके छोटे नगरों को परिपृच्छा द्वारा अपनी पुलिस को राष्ट्रीय ग्रामीण पुलिस में विलय करने का अधिकार दिया गया और पहले ही निर्वाचनों में अस्सी प्रतिशत कस्बों और ग्रामों ने अपनी पुलिस का उन्मूलन कर दिया। यह परिपृच्छा प्रति वर्ष होती रही। सन् १९५४ में ५ बड़े नगरों को छोड़ कर अन्य सभी सत्ताओं की स्वायत्त पुलिस का अन्त कर दिया गया। जुलाई सन् १९५८ में अवशिष्ट पाँच नगरों की स्वायत्त पुलिस का भी अन्त कर दिया गया। इसके स्थान पर एक राष्ट्रीय सुरक्षा आयोग और राष्ट्रीय पुलिस परिषद की स्थापना की गयी। आयोग एक मंत्री के आधीन होता है और उसके सदस्य प्रधान मंत्री नियुक्त करता है। आयोग प्रधान मंत्री की स्वीकृति में परिषद को नियुक्त करती है। जिला पुलिस के प्रधान और उच्च अधिकारी राष्ट्रीय पुलिस के अधिकारी होते हैं। इस प्रकार पुलिस केन्द्रीभूत हो गयी है और स्थानीय सत्ताओं को उस पर कोई अधिकार नहीं है।

स्थानीय सरकार में जनता का भाग

जापान की स्थानीय सरकारों के कार्यवाहन में वहाँ के नागरिक कई महत्व-पूर्ण रीतियों से भाग लेते हैं। वे स्थानीय इकाइयों के अध्यक्षों और सभाओं को चुनते हैं। वे अध्यक्ष का प्रत्यावाहन कर सकते हैं। क्षेत्र के दो प्रतिशत मतदाता आर्थिक विषयों के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों पर उपविधि निर्माण, संशोधन तथा निरसन के लिए प्रार्थना कर सकते हैं। ऐसी प्रार्थना पर क्षेत्र की सभा का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उस पर विचार करे और कार्य-पालिका के प्रधान के द्वारा प्रार्थियों को उसके सम्बन्ध में सूचना दे। यह जनता का उपक्रम अधिकार कहा जा सकता है। क्षेत्र के तीन प्रतिशत मतदाता क्षेत्रीय सत्ता के किसी कार्य या विभाग के निरीक्षण की माँग कर सकते हैं। ऐसी माँग होने पर सम्बन्धित अधिकारी को उस कार्य या विभाग की जाँच

करना और उसकी रिपोर्ट का प्रकाशन करना आवश्यक हो जाता है। अध्यक्ष के समान ही क्षेत्र के नागरिक क्षेत्रीय सभा के किसी या सभी सदस्यों के प्रत्यावाहन की कार्यवाही भी कर सकते हैं। क्षेत्र के एक-तिहाई मतदाता स्थानीय सरकार के किसी भी अन्य कर्मचारी की पदच्युति के लिए भी प्रार्थना कर सकते हैं। यदि स्थानीय सभा उस प्रार्थना को बहुमत से स्वीकार कर लेती है तो उसके प्रधान का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उस कर्मचारी को उसके पद से अपदस्थ कर दे। इस प्रकार जापान के स्थानीय शासन में क्षेत्र के नागरिकों का महत्वपूर्ण भाग है और उन्हें उनके सम्बन्ध में वह अधिकार प्राप्त है जो भारत की किसी भी स्थानीय स्वशासन संस्था के क्षेत्र के नागरिकों को प्राप्त नहीं हैं।

जापान के स्वायत्त शासन का व्यावहारिक रूप

सन् १९४७ के पश्चात् जापान में स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है। जैसा ऊपर कहा गया है, ग्रामों, कस्बों, नगरों और जिलों सभी क्षेत्रों में प्रजातान्त्रिक आधार पर संगठित किया गया है। जिलों की शासन सत्ता के अधिकार कम किए गये हैं और नगरों, कस्बों और ग्रामों की स्थानीय स्वशासन संस्थाओं के अधिकारों की वृद्धि हुई है। पर इन संस्थाओं को अनन्य अधिकार प्राप्त नहीं है। सभी विषयों पर जिलों और उनके ऊपर केन्द्रीय सरकार को समवर्ती अधिकार प्राप्त है। इसके अतिरिक्त स्थानीय सत्ताओं के अधिकार केन्द्रीय सरकार से हस्तान्तरित (delegated) हैं और उनका प्रयोग स्थानीय निकाय उसी समय तक प्रयोग कर सकते हैं जब तक जिला सरकार उनको सीमित करने वाली कोई उपविधि या संसद कोई विधि या मंत्रिपरिषद कोई नियम नहीं बनाता है। स्थानीय स्वायत्त विधि स्वयं इन इकाइयों के अधिकारों को निरन्तर कम करने का द्वार खोले है। विधि के अनुच्छेद २, खण्ड ३ में कहा गया है कि उन विषयों पर स्थानीय सत्ताओं का क्षेत्राधिकार न होगा जिनके सम्बन्ध में किसी विधि या विधि अधिकृत मंत्रि परिषदीय आज्ञा में ऐसा उपबन्ध है। प्राकृतिक प्रसाधनों के विकास, शिक्षा, सामाजिक सुरक्षा और सामा-

जिक कल्याण के क्षेत्र में ऐसी अनेक विधियाँ पारित की गयी हैं। ऐसी विधियाँ अपने प्रशासन के अधिकांश कर्त्तव्य स्थानीय सरकार के मुख्य कार्यपालिका अधिकारियों पर आरोपित करती हैं। ऐसी स्थिति में स्थानीय कार्यपालिका अधिकारी केन्द्रीय सरकार के नियंत्रण में उसके एजेन्ट हो जाते हैं। केन्द्रीय सरकार मुख्य कार्यपालिका अधिकारियों के कार्यों की देख-रेख कर सकती है, उन्हें किन्हीं विषयों पर कार्य करने के लिए आज्ञा दे सकती है और वह उन्हें किन्हीं विषयों में बिना केन्द्रीय सरकार की पूर्व स्वीकृति के कार्य करने से वर्जित कर सकती है। इसी अनुच्छेद के खण्ड ६ में कहा गया है कि कोई स्थानीय सत्ता इस प्रकार कार्य न करेगी जिससे किसी विधि या मंत्रिपरिषदीय आज्ञा और मंत्रीय विनियम, जो विधि द्वारा अधिकृत हो, का उल्लंघन हो। नगरों, कस्बों और ग्रामों पर एक और बन्धन है। वह कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकते हैं जिससे किसी महानगर, जिले या ग्रामीण जिले की उपविधि का उल्लंघन हो।

सन् १९५५ में हीनार्थ स्थानीय सरकार पुनर्निर्माणकर्त्ता विधि (Law to Promote Reconstruction of the Financially Deficit Local Governments) पारित किया गया। इस विधि के द्वारा केन्द्रीय सरकार को निश्चित स्थानीय सरकारों की कुछ शक्तियों की देख-रेख और नियंत्रण कर सकती है। इसी प्रकार के अन्य उदाहरण दिए जा सकते हैं जहाँ केन्द्रीय सरकार को अन्य क्षेत्रों में स्थानीय सरकारों की देखरेख और निदेशित करने का अधिकार प्राप्त है।

स्थानीय शासन की देख-रेख करने की भी व्यवस्था है। सन् १९४९ में स्थानीय स्वायत्तता अभिकरण स्थापित किया गया जिसमें प्रधान मंत्री कार्यालय का एक अंग है। सन् १९५० में स्थानीय वित्त आयोग की स्थापना की गयी। स्थानीय स्वायत्तता अभिकरण एकरूपता स्थापित करने को चिन्तित रहती है। स्थानीय वित्त आयोग उनके आर्थिक पक्षों पर नियंत्रण करती है।

निदेशन, देख-रेख और हस्तक्षेप इतने अधिक आकार और इतने क्षेत्रों में

फैल गया है कि लोग आशंका प्रकट करने लगे हैं कि यदि यह गति बनी रही तो कोई वास्तविक स्थानीय स्वायत्तता नहीं रह जायेगी।

जापान में स्थानीय स्वायत्तता के पराभव के कारण

जापान में स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के पराभव के कई कारण हैं। प्रथम, जनता सरकार के साथ पैतृक सम्बन्ध रखने की अभ्यस्त हो गयी है जिससे उसमें आत्मसम्मान और आत्मावलम्बन की भावना की कमी है। दूसरे, जापान में सन् १६४७ के पूर्व एक केन्द्रीयभूत शासन था। इससे जनता केन्द्रीयभूत शासन से अभ्यस्त है। वह केन्द्रीय सरकार पर अविश्वास नहीं करती। वह प्रत्येक कार्य में उसी का अवलम्बन लेना चाहती है। तीसरे, जापान में स्थानीय अल्पसंख्यकों की समस्या नहीं है जिससे क्षेत्रीय लोग स्थानीय स्वशासन की अधिक स्वायत्तता की माँग करें। चौथे, विभिन्न कारणों से जापान में राजनैतिक जागृत की कमी है और निवासी स्थानीय स्वशासन में अपना समय देना पसन्द नहीं करते। पाँचवें, जापान की पैतृक सरकार ने जनता की उपक्रम प्रवृत्ति को कुण्ठित कर दिया है। अतः वह स्थानीय स्तर पर अपनी समस्याओं को सुलझाने का प्रयत्न नहीं करती है। छठे, शक्ति पिपासु केन्द्रीय नेता स्थानीय स्वायत्तता के विरोधी हैं क्योंकि इससे उनकी शक्ति के कार्य क्षेत्र का विस्तार कम होता है। सातवें, जापान में भृत्य वर्ग की प्रबलता है और भृत्य वर्ग स्वाभाविक रूप में स्थानीय स्वायत्तता का विरोधी होता है। आठवें, जापान में राजनैतिक भ्रष्टाचार अधिक रहा है। जनता इन भ्रष्टाचारों की कहानियों को समाचार पत्रों में पढ़ते-पढ़ते उन से घृणा करने लगी है। जितनी अधिक स्थानीय स्वयत्तता होती है उतने ही अधिक राजनीतिज्ञ होते हैं। जनता राजनीतिज्ञों की अपेक्षा भृत्य वर्ग को अधिक अच्छा समझती है। इससे वह स्थानीय संस्थाओं की स्वायत्तता की कमी का विरोध नहीं करती। नवें, स्थानीय सरकार के आर्थिक स्रोत पर्याप्त नहीं हैं जिससे उन्हें अपने कार्यों के लिए केन्द्रीय अनुदानों पर आश्रित होना पड़ता है। इसके फलस्वरूप केन्द्रीय सरकार का नियंत्रण उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। दसवें, वर्तमान-काल की

सामाजिक सुरक्षा, बेरोजगारी, आर्थिक नियोजन इत्यादि की समस्यायें ऐसी हैं जो स्थानीय आधार पर भली प्रकार सुलझायी नहीं जा सकती हैं। द्वितीय विश्व युद्ध में पराजित होने के पश्चात् जापान में इन समस्याओं ने और भी अधिक विकराल रूप धारण कर लिया था। इसके अतिरिक्त पुनर्निर्माण की गम्भीर समस्या थी। इनका समाधान व्यवस्था से विशेष कर उस देश में जिसके लिए वह प्रणाली ही नयी हो, कर सकने में सन्देह होता है। अतः केन्द्रीय-करण को आवश्यकता के रूप में अपनाना पड़ा है। ग्यारहवें, जापान में स्थानीय स्वायत्तता की व्यवस्था विदेशी सैनिक शासन के दबाव में अपनायी गयी थी। अन्य ऐसे ही दबाव से किए गये कार्यों की भाँति इस व्यवस्था के प्रति भी जापानवासियों के विरोध की भावना सरलता से उत्पन्न की जा सकती है और उसके विरोध में बहुमत सरलता से प्राप्त किया जा सकता है और उस व्यवस्था को परिवर्तित किया जा सकता है। ऐसे परिवर्तन के लिए संवैधानिक संशोधन की आवश्यकता नहीं है। और अन्त में, अनुदार वर्ग स्थानीय स्वायत्तता का विरोधी होता है और जापान में पिछले पन्द्रह वर्षों से अनुदार दल ही सत्तारूढ़ है। अतः उसने स्वाभाविक रूप से निहित हितों के विरोध का सामना करते हुए धीरे-धीरे उसे कम कर दिया है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. प्रजातन्त्र शासन प्रणाली में स्थानीय स्वशासन के महत्व को संक्षेप में वर्णन करिये।

२. नवीन संविधान के स्थानीय स्वशासन सम्बन्धी उपबन्धों का वर्णन करिए और उनकी व्यावहारिक उपयोगिता बतलाइये।

३. जापान की वर्तमान स्थानीय सत्ताओं के गठन और अधिकारों का संक्षेप में वर्णन करिये।

४. जापान के राज्यपालों की नियुक्ति, कार्यों, अधिकारों और स्थिति पर प्रकाश डालिये।

५. जापान के जिलों (Prefectures) की स्थानीय व्यवस्था का वर्णन करिये।

६. जापान के स्वायत्त शासन के व्यावहारिक रूप की विवेचना करिये।

१० | भृत्य वर्ग

"All realistic study of government has to start with an understanding of bureaucracy (or whatever one prefers to call it), because no government can function without it."

—*Carl J. Friedrich.*

आधुनिक राज्य का सबसे महत्वपूर्ण अंग प्रशासन कर्मचारी हैं। व्यवस्थापिका विधि निर्माण करती है। राजा, सम्राट् या अध्यक्ष और मंत्रिपरिषद उन्हें प्रवृत्त करते हैं और न्यायपालिका उन विधियों के उल्लंघन के लिए आरोपित किए व्यक्तियों का न्याय करती है पर प्रशासन का वास्तविक कार्य छोटे-बड़े अनेक कर्मचारियों द्वारा चलाया जाता है। इन कर्मचारियों को लोक-सेवा (Civil service), ब्यूरोक्रैसी (Bureaucracy) और भृत्य-वर्ग की संज्ञा दी गयी है। ब्यूरोक्रैसी शब्द स्वयं दो अर्थों में प्रयोग किया जाता है। अपने विस्तृत भाव में इस शब्द को उस कार्मिक पद्धति के लिए प्रयोग किया जाता है जो पद-सोपान व्यवस्था से विभागों, ब्यूरों, खंडों और उपखंडों में सङ्गठित होती है। ब्यूरो का शाब्दिक अर्थ मेज, लेखन स्थान, उपविभाग, आलय या कार्यालय है। और क्रैसी ग्रीक भाषा के एक शब्द (Kratia) से बना है और उस मूल से इसका अर्थ शक्ति होगा। इस दृष्टि से ब्यूरोक्रैसी का अर्थ ऐसे भृत्य वर्ग से होगा, जो यदि स्वयं शासन की शक्ति का स्रोत नहीं तो, अनियंत्रित अधिकारी हो। प्रो० लास्की ने ब्यूरोक्रैसी शब्द

का अर्थ बताते हुए लिखा है, "ब्यूरोक्रैसी शब्द सामान्यतया एक ऐसी शासन पद्धति के लिए प्रयुक्त किया गया शब्द है जो इतने पूर्ण रूप से अधिकारियों के हाथ में होती है कि उनकी शक्ति साधारण नागरिकों की स्वतंत्रताओं को सङ्कट में डाल देती है।"[1] प्रो० विलोवी भी संकुचित अर्थ में इस शब्द को उस पद सोपानी व्यवस्था पर सङ्गठित भृत्य समूह के लिए प्रयुक्त समझते हैं जो प्रभावपूर्ण लोक नियंत्रण के क्षेत्र से बाहर होता है और लोक भृत्य होने की अपेक्षा राजनैतिक शक्ति का अभिकर्ता होता है।[2] प्रो० लास्की ने इस अर्थ में ब्यूरोक्रैसी की चार मूल विशेषताएँ बतलायी हैं; प्रथम, निश्चित प्रक्रिया के पालने के लिए उत्कण्ठा, द्वितीय नियमों की नम्यता का वलिदान, तृतीय निर्णय करने में विलम्ब और चतुर्थ प्रयोग करने से इन्कार। चरमावस्था में भृत्य वर्ग इतना प्रभावशाली हो जाता है कि वह अपनी सुविधाओं के लिए शासन का प्रयोग करने लगता है। ऐसी अवस्था में हम उस शासन को भृत्य-तंत्र कहते हैं।

वर्तमान समय के पूर्व भृत्य तंत्र, राज तंत्र और कुलीन तंत्र उत्पन्न माना जाता था। राजतन्त्री और कुलीनतन्त्री शासन में स्वभावतः सत्तारूढ़ अधिकारी के प्रति निष्ठा रखने वाले भृत्य रखे जाते थे। अतः वह जनता की उपेक्षा करते थे। शासक उनको विशेष सुविधाएँ प्रदान करता था और साधारण जनता से सदैव उनकी स्थित उच्च समझी जाती थी। शनैः शनैः भृत्य लोग

[1] "Bureaucracy is the term usually applied to system of government the control of which is so completely in the hands of officials that their power jeopardizes the liberties of the ordinary citizens." H. J. Laski: *Encyclopaedia of Social Sciences*, 1936, Vol. 3. P. 70.

[2] "The term bureaucracy can be, and is......used in a much more restricted and special sense as a descriptive of a body of public servants organized in a hierarchical system which stands outside of the sphere of effective public control, public employees being against of the political authority rather than servants of the people. *The Government of Modern States*, 1936, P, 463.

स्वयं एक पृथक् वर्ग बन गये। पर प्रजातंत्र शासन में भी भृत्य वर्ग में प्रो० लास्की द्वारा बतलायी विशेषताएँ होना स्वाभाविक हैं। निर्वाचित मंत्री शासन-कला में प्रवीण नहीं हो सकते। अतः उनके सहायक का शासन में विशेषज्ञ होना आवश्यक है। विशेषज्ञता और कुशलता के लिए यह भी वांछनीय है कि ये अधिकारी अपने पदों पर सदाचार काल में स्थायी रूप से कार्य करें। प्रजातंत्र शासन में राज कार्यों का प्रकाशन आवश्यक रूप से होता है। अतः उनको न्यायोचित सिद्ध करने के लिए यह आवश्यक है कि विभिन्न कार्यों के लिए उपयुक्त नियम, प्रक्रियाएँ और परिपाटियाँ हों जिनके अनुसार ही सदैव कार्य किया जाय। प्रजातंत्र राज्य में भृत्य वर्ग की जनता द्वारा आलोचना की जा सकती है। इसीलिए उसे अत्यन्त सावधानीपूर्वक कार्य करने की आवश्यकता होती है जिससे भूलें न हों। अतः निर्णय के पूर्व गंभीरतापूर्वक विचार कराना पड़ता है। इससे विलम्ब तो होता ही साथ ही नये प्रयोगों से भी बचा जाता है। जो कर्मचारी नियमानुकूल पूर्व निर्धारित प्रक्रिया से कार्य करते हैं उन्हीं को सुरक्षित समझा जाता है और उनकी ही पदोन्नति की जाती है। इस प्रकार भृत्य वर्ग में अनुदारता होना भी स्वाभाविक है। विस्तृत नियम होना इसलिए भी आवश्यक है कि राज्य के विभिन्न क्षेत्रों को समान अधिकार व सुविधाएँ प्राप्त हों और विधि के समक्ष सभी लोग समान हों। इसलिए प्रक्रिया की एकरूपता भी आवश्यक है। एकरूपता से प्रशासन पद्धति सरल और बोधगम्य बनती है। यह एकरूपता भी विस्तृत नियमों द्वारा ही लायी जा सकती है। प्रशासन की सरलता और बोधगम्यता के हेतु नियमों को स्थायी होना चाहिए। इससे भी अनुदारता बढ़ती है। निम्न कर्मचारियों की स्वेच्छाचारिता और भ्रष्टाचार रोकने के लिए यह आवश्यक है कि महत्वपूर्ण विषयों पर उच्च अधिकारियों द्वारा निर्णय लिया जाय, पर उचित निर्णय के लिए यह आवश्यक है कि निर्णय के पूर्व सम्बन्धित कर्मचारियों के विचारों को जाना जाय। इससे निर्णय में विलम्ब तो होता ही है, पत्रों और फाइलों की संख्या भी बढ़ती है। इस प्रकार प्रो० लास्की द्वारा बतायी सभी विशेषताएँ भृत्य वर्ग में स्वाभाविक रूप में होती

हैं। पद-सोपान का होना भी अनिवार्य है। संगठन, नियंत्रण, पदोन्नति की व्यवस्था जो कुशल शासन के लिए आवश्यक हैं, राज्य की विभिन्न सेवाओं का सङ्गठन पद सोपान के आधार पर करने से ही हो सकती है। पद-सोपान के बिना व्यवस्था होना यदि असम्भव कहा जाय तो कोई अत्योक्ति न होगी।

मैक्स वेबर (Max Weber) नामक जर्मन विद्वान ने जो भृत्य वर्ग (Bureaucracy) का प्रथम अर्थ मानता था, उसकी निम्नांकित विशेषताएँ बतलायी हैं। प्रथम, प्रशासन निश्चित क्षेत्राधिकारी और क्षेत्रों के विधियों या प्रशासकीय नियमों द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों पर चलता है। नियमित कार्यों को सरकारी कर्त्तव्यों के रूप में स्थायी रूप से विभाजित किया जाता है। इन कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए आदेश देने के अधिकार भी स्थायी रूप में विभाजित किये जाते हैं और इन पर विभिन्न प्रकार के परिसीमन कठोरतापूर्वक निर्धारित होते हैं। इन कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए सुपद्धतीय व्यवस्था की जाती है। कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए नियमित अर्हताओं वाले अधिकारी रखे जाते हैं। इस व्यवस्था को भृत्य-वर्गीय प्राधिकार कहते हैं।

द्वितीय, सङ्गठन सुव्यवस्थित पद सोपानी व्यवस्था पर आधारित होता है। प्रत्येक अधिकारी के उच्च और निम्न अधिकारी निश्चित होते हैं जिससे उच्च कर्मचारी निम्न कर्मचारियों के कार्य की देख-रेख करते हैं। ऐसी व्यवस्था में जनता उच्च अधिकारी से निम्न अधिकारियों के निर्णय के विरुद्ध प्रार्थना कर सकती है। पूर्ण पद सोपान से शासन में एक सूत्रता आती है।

तृतीय, भृत्य वर्गीय शासन लिखित प्रपत्रों पर आधारित होता है। ये प्रपत्र सुरक्षित रखे जाते हैं। प्रपत्रों को सुरक्षित करने के लिए विभिन्न प्रकार के उपकरणों की आवश्यकता होती है। इन्हीं उपकरणों, इन्हें प्रयोग करने वाले कर्मचारियों और अधिकारियों को सामूहिक रूप में ब्यूरो या कार्यालय की संज्ञा दी जाती है।

चतुर्थ, कार्यालय के सुव्यवस्थित प्रबन्ध के लिए विशेषतापूर्ण प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है।

पंचम, कर्मचारी कार्य सम्पूर्ण क्षमता से कार्य करता है और उसके सरकारी कर्त्तव्य ही उसके कार्यों का प्रमुख भाग होते हैं।

षष्ट, कार्यालय प्रबन्ध स्थायी और विस्तृत नियमों द्वारा होता है और इन नियमों का ज्ञान एक विशेष प्रकार की प्रावैधिक जानकारी मानी जाती है।

सप्तम्, कर्मचारी की एक विशेष स्थिति होती है। वह अपने कार्य को एक व्यवसाय के रूप में ग्रहण करता है। वह उसके लिए प्रशिक्षा पाता है। उसका पद कर्त्तव्य का होता है। वह कर्त्तव्य को वेतन के विनिमय के रूप में नहीं करता। वह पद से कोई अतिरिक्त लाभ भी नहीं उठाता। उसकी निष्ठा किसी व्यक्ति के प्रति न होकर सेवा या पद के प्रति होती है। उसके पद का एक विशेष सामाजिक स्थान होता है। कर्मचारी अपने उच्च अधिकारी द्वारा नियुक्त होता है। वह सामान्यतया अपने क्रियाशील जीवन पर्यन्त के लिए नियुक्त होता है और नियमित वेतन पाता है। उसकी उन्नति का क्रम निश्चित होता है।

लुडविग वान मिसेस (Ludwig von Mises)[1] इस मत का खंडन करता है कि भृत्यतन्त्र और प्रजातन्त्र एक दूसरे के विरोधी हैं। उसका विचार है कि प्रजातंत्र के मुख्य दो स्तम्भ हैं : प्रथम, विधि शासन और द्वितीय, आय-व्यय लेखा। विधि शासन के अभाव में शासक स्वेच्छाचारी और निरकुंश हो जायेंगे। आय-व्यय पर जनता के नियंत्रण से प्रजातांत्रिक नियंत्रण स्थापित होता है। भृत्यवर्गीय प्रशासन तो इन्हीं दो आधारों पर चलता है।

उपरोक्त विवरण में मैक्स वेबर ने भृत्य वर्ग के जो विशेषताएँ बतलायी हैं वास्तव में उसके विश्लेषणात्मक लक्षण हैं और भृत्य वर्गीय सङ्गठन जो कुशल सेवा सङ्गठनों के लिए, चाहे हम उनको राज्य सेवा सङ्गठन कहें चाहे सेवा सङ्गठन, एक आवश्यक सङ्गठन पद्धति है। प्रोफेसर लास्की ने उसकी जो विशेषताएँ बतायी हैं वह उसकी कार्य पद्धति की विशेषताएँ हैं और उनका इतना अधिक हो जाना जब साधन-पद्धति के कठोर अनुपालन से वही साध्य प्रतीत होने लगे तो वही भृत्य वर्गीय सङ्गठन के दोष बन जाते हैं और जहाँ

[1]Ludwig von Mises : Bureaucracy, 1934.

किसी कारण भृत्य तंत्र पर नियंत्रण शिथिल हो जाता है और उसकी शक्ति बढ़ जाती है, वह उपर्युक्त दोष अनिवार्य हो जाते हैं। 'एक भृत्य वर्ग निश्चय यह सोचेगा कि उसका कर्त्तव्य मानव जाति की शक्तियों को स्वतन्त्र छोड़ने की अपेक्षा शासकीय शक्ति, शासकीय कार्यवाही, या शासकीय सदस्यों का सम्वर्द्धन करना है।[1] यदि प्रशासन में प्रभावपूर्ण बाह्य राजनैतिक नियंत्रण, अच्छा नेतृत्व और प्रबन्धकीय नियंत्रण; शक्ति और उत्तरदायित्वों का अधिकतम विकेन्द्रीयकरण; प्रभाव और उच्चकोटि का नम्य सङ्गठन; उचित और कुशल कार्मिक प्रबन्ध; अधिकतम अंश का आन्तरिक और बाह्य मानवीय सहयोग; प्रशासकीय पद्धतियों में अनुसन्धान तथा प्रशासन के सम्बन्ध में सूचना का प्रसार; साधनों, उद्देश्यों तथा परिणामों के प्रति निरन्तर आन्तरिक पुनर्विलोकन रुचि; आलोचना तथा स्तर नियंत्रण द्वारा प्रभावपूर्ण बाह्य समझ और भृत्य तंत्र विरोधी व्यावसायिक विचारधारा की व्यवस्था नहीं की जाती तो भृत्य वर्ग को भृत्य तंत्र बनने से रोका नहीं जा सकता है।

भृत्य वर्ग में चाहे जो दोष हो आधुनिक राज्य व्यवस्था में उसका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। रामज़े म्योर ने सन् १९१० में लिखा था कि "लार्ड तथा कामन्स सभाएँ और उसी प्रकार मंत्रिपरिषद कल उन्मूलित कर दी जायें, और जहाँ तक नागरिक वर्ग का सम्बन्ध है समाचार पत्रों में भाषणों के कुछ स्तम्भों के, जो बहुत शिक्षाप्रद नहीं होते, अतिरिक्त किंचितमात्र भी अन्तर नहीं होगा; कम-से-कम एक समय तक देश की सरकार पूर्ववत् चलती रहेगी।"[2]

[1] "A bureaucracy is sure to think that its duty is to augment official power, official business, or official members, rather than to leave free the energies of mankind......" Bagehot: *The English Constitution* (*The World Classics*), 1952, P. 174.

[2] "The Houses of Lords and Commons and the Cabinet as well, might be abolished, and, so far as the mass of citizens is concerned, there would not be the least difference except for the absence of certain columns of not very instructive speeches in the newspapers; for a time at least the government of the country would go on as usual". Ramsay Muir; *Peers and Bureaucrats*, 1910, P. 15.

वर्तमान काल में चाहे राज्य का शासन राजतंत्रीय हो, अल्पतंत्रीय हो, अधिनायकवादी हो या प्रजातंत्रीय हो प्रत्येक देश में भृत्य वर्ग का प्राबल्य अनुभव किया गया है। यहाँ तक इङ्गलैण्ड में, जो आधुनिक प्रजातंत्रीय शासन की जन्मभूमि कहा जाता है, लार्ड हीवर्ट ने सन् १६२६ में अपनी पुस्तक 'नयी निरंकुशता' (The New Despotism) में प्रशासन पर भृत्यतंत्रता का दोष लगाया था। सन् १६३० में प्रकाशित हुई अपनी ब्रिटिश शासन पर लिखी हुई पुस्तक (How Britain Is Governed) में रामज़े म्योर ने इस आरोप को दोहराया। आज भारत के शासन पर भी इसी प्रकार के आरोप लगाये जा रहे हैं। वास्तविक बात यह है कि वर्तमान युग की आवश्यकताएँ प्रशासक वर्ग को स्वाभाविक रूप से महत्वपूर्ण स्थान देती हैं।

वर्तमान युग लोककल्याणवादी विचारधारा का युग कहा जाता है। इस विचारधारा के अनुसार राज्य का यह कर्त्तव्य माना जाता है कि वह अपने नागरिकों को बहुमुखी सामाजिक सेवाएँ प्रदान करे। ये सेवाएँ कई प्रकार के रूप ले सकती हैं। इनके अन्तर्गत शिक्षा, स्वास्थ्य, बेकारी, वृद्धावस्था में पेन्शन, रहने का उपयुक्त स्थान, वस्त्र, ईंधन और अन्य कार्यों का प्रबन्ध आता है। इनका प्रारम्भिक लक्ष्य नागरिकों को सुरक्षा प्रदान करना है। यदि व्यक्ति अपनी आय खो बैठता है तो राज्य उसे सहायता देने का उत्तरदायित्व ले सकता है। तात्पर्य है कि राज्य स्वस्थ जीवन के लिये आवश्यक सभी उपकरण नागरिकों को प्रदान करे और उनके विकास के मार्ग में आने वाले विभिन्न प्रकार के अवरोधों को दूर करे। इन अनेकानेक कार्यों का सम्पादन करने के लिए एक ओर बहुसंख्यक कर्मचारियों की आवश्यकता होती है और दूसरी ओर उसे नागरिकों के जीवन के विभिन्न पक्षों में हस्तक्षेप करके उन्हें नियमित करना पड़ता है जिससे व्यक्ति व्यक्ति का शोषण न कर सके।

राज्य के यह नये कार्य बड़े ही जटिल हैं। इनको ठीक प्रकार से संचालन करने तथा पूरा करने के लिए उच्च कोटि का ज्ञान और प्राविधिक क्षमता की आवश्यकता होती है। इसलिए राज्य के नये कर्त्तव्यों की वृद्धि के साथ व्यवसायिक

कर्मचारी वर्ग की वृद्धि अवश्यम्भावी हो गयी है। साथ ही उन पर राजनीतिक कार्यपालिका का नियंत्रण कम हो गया है। राजनीतिक कार्यपालिका अधिकारी को उसका पद इसलिये मिलता है कि वह सफल राजनीतिज्ञ होता है, सार्वजनिक भाषण सुन्दर देता है, संसदीय वाद-विवाद अच्छे करता है, मतदाताओं पर प्रभाव रखता है या श्रमिक संघों का नेता होता है। उसे अपनी अधीनता के विभाग के कार्यों का विशेष ज्ञान नहीं होता। उसको अपना समय भी मन्त्रि-परिषद की बैठकों, संसदीय वाद-विवादों, समितियों की बैठकों, दलीय कार्यों, निर्वाचन क्षेत्र के भ्रमणों और विभिन्न प्रकार के सामाजिक समारोहों और भेटों में देना पड़ता है। इसलिए उसे अपने विभागीय कार्यों को समझने की न योग्यता ही होती है और न समय ही। ऐसी स्थिति में उसे उनके ऊपर निर्णय देते समय अपने आधीन स्थायी सचिवों की सम्मति पर ही अपनी स्वीकृति देना पड़ता है। संसद में उसे विभिन्न प्रश्नों के जो उत्तर भी देना होता है उनको भी यही अधीनस्थ अधिकारी ही तैयार करते हैं। उसके भाषण की रूप रेखा और तथ्य भी यही अधिकारी ही तैयार करते हैं। ऐसी स्थिति में कम-से कम साधारण विषयों में राजनैतिक कार्यपालिका के अधिकारियों के कार्य कम होते हैं और स्थायी भृत्य वर्ग की इच्छा के कार्य अधिक होते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका के इतिहास का प्रेसीडेन्ट जैक्सन का कार्यकाल यह स्पष्ट बताता है कि भृत्य वर्ग की इच्छा के विरुद्ध कोई कार्य करना कितना कठिन होता है।

विधि निर्माण के क्षेत्र में भी स्थायी प्रशासकों का प्रभाव अत्यधिक होता है। यद्यपि विवादपूर्ण राजनैतिक विषयों पर स्थायी प्रशासक विधेयक का प्रारूप तैयार करते समय सूक्ष्म प्रभाव ही डाल पाते हैं पर सार्वजनिक विधियों का अधिकांश भाग स्थायी प्रशासकों के अनुभव पर आधारित सुझावों से ही बनता है। प्रशासन की जटिलता तथा उसे नम्य रखने की आवश्यकता के कारण विधियाँ प्रायः मोटी रूपरेखाओं के रूप में पारित होती हैं और उनकी पूर्ति के लिये नियमों को बनाने और उन्हें परिवर्तित करने का अधिकार कार्यपालिका को दिया जाता है। इस अधिकार को हस्तान्तरित विधायन अधिकार (Delega-

ted legislation power) और ऐसे नियमों को अधीनस्थ विधायन (subordinate legislation) कहते हैं और इनका निर्माण मूल रूप से स्थायी प्रशासक ही करते हैं। इस प्रकार स्थायी प्रशासक उत्तरदायी मन्त्रियों की ओट तथा उनके उत्तरदायित्व की छत्रछाया में वास्तविक शासक का कार्य करते हैं।

वित्त और न्याय के क्षेत्र में भी स्थायी कर्मचारी पर्याप्त प्रभाव रखते हैं। मन्त्रिमण्डल के कर सम्बन्धी विचार और निर्णय स्थायी कर्मचारियों द्वारा प्रस्तुत किए निर्णयों और सुझाओं पर आधारित होते हैं और अविशेषज्ञ मन्त्री या संसद सदस्य उन पर विशेष प्रभाव नहीं डाल पाते हैं। आधुनिक काल की विधियाँ मन्त्रियों को अनेक विवादग्रस्त विषयों पर निर्णय करने का भी अधिकार देती हैं जिसे प्रशासकीय न्याय (Administrative Adjudication) कहा जाता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भृत्य वर्ग का आधुनिक शासन में महत्वपूर्ण स्थान है और नागरिक भी इस तथ्य को जानते हैं कि वे अपने इच्छानुकूल कार्य को विधायकों या मन्त्रियों की अपेक्षा स्थायी प्रशासकों के द्वारा कराने के प्रयत्न में अधिक सफल हो सकते हैं। अतः वे उनको सम्मान देते तथा अन्य साधनों से प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं। राजनैतिक दलों में प्रशासकीय क्षमता रखने वाले व्यक्तियों की कमी होने तथा उच्च राजनैतिक नेताओं एवं वरिष्ट स्थायी प्रशासकों के निकटवर्ती सम्पर्क से बढ़ने वाले सम्बन्ध के कारण इन स्थायी प्रशासकों को राजनैतिक दलों की सदस्यता प्रदान करके संसद सदस्य और मन्त्री बनाया जाता है। इससे भी समाज में प्रशासकीय वर्ग का महत्व बढ़ता है। इसके अतिरिक्त, जैसा जान स्टुअर्ट मिल ने अपने स्वतन्त्रता सम्बन्धी लेख में आशंका प्रकट की थी,[1] भृत्य वर्ग की भर्ती प्रतियोगितात्मक परीक्षाओं द्वारा होने से समाज के सर्वाधिक कुशाग्र बुद्धि के व्यक्ति भृत्य वर्ग में आ जाते हैं। उनकी बौद्धिक क्षमता और उनसे रिक्त जनता में बौद्धिकता की कमी के कारण भी भृत्य वर्ग का प्रभाव बढ़ गया है।

---

[1] Mill '*Uilitarianism, Liberty, Representative Government.* (Everyman's Library), 1954, PP. 165-66.

जापान में भृत्य वर्ग की स्थिति—प्रो० क्विग्ली और टर्नर के शब्दों में "जापानी राजनैतिक विकास के पक्षों के लिए प्रयुक्त ब्यूरोक्रैसी शब्द अपने साथ ग्रीक क्रैशियाँ (शक्ति) का पूर्ण अर्थ लिए है।"[1] नवीन संविधान प्रवृत्त होने के पूर्व जापान की शासन व्यवस्था के चार केन्द्र थे। १—कुलीन गुट (Mombatsu)। २—धनिक गुट (Zaibatsu)। ३—सैन्य अधिकारी गुट (Gumbatsu)। ४—अविनाशी भृत्य वर्गीय गुट (Kambatsu)। इनमें लोक सेवा गुट अपने आन्तरिक स्थान और स्थायी स्थिति के कारण सबसे अधिक प्रभावपूर्ण था। वह अपने को सम्राट् के प्रति उत्तरदायी समझता था और जनता के समक्ष वह उसकी दैनिक शासन की स्थिति का प्रतिनिधित्व करता था। मेइजी संविधान के अन्तर्गत प्रशासकीय न्याय की व्यवस्था होने से प्रशासकीय अधिकारी न्यायपालिका के नियन्त्रण से मुक्त थे और जनता उनके कार्यों से होने वाली हानि से केवल उस वर्ग के उच्च अधिकारियों से ही प्रार्थना कर सकती थी। इस प्रकार जनता में भृत्यतंत्रवाद (bureaucratism) की भावना उत्पन्न हो गई थी और भृत्यतंत्र जापान की शासन पद्धति ही नहीं वरन् एक जीवन मार्ग भी था। सिद्धान्त रूप में वह मन्त्रिपरिषद के नियन्त्रण में था, पर व्यवहार रूप में मन्त्रिपरिषद स्वयं भृत्यवर्ग पर आश्रित था। भृत्यवर्ग और कुलीन गुट में हितों की एकता थी क्योंकि दोनों ही एक ही सामाजिक वर्ग के थे। सैनिक और असैनिक विषयों के शासन की पृथकता के कारण उसका सैन्य अधिकारी गुट से संघर्ष नहीं हुआ। धनिक गुट को सरकार से अनुदान, ऋण, अनुज्ञप्ति इत्यादि के लाभ होते थे अतः उसे ही भृत्य वर्ग का विरोध करने का साहस न था। सैनिक अधिग्रहण शासन के अन्तर्गत अन्य तीनों गुटों की शक्ति नष्ट कर दी गयी। भृत्य वर्ग गुट की स्थिति में भी परिवर्तन करने का प्रयास किया गया। पर अधिग्रहण काल के सुधारों के लिए अधिग्रहण अधिकारियों के भृत्य वर्ग पर ही आश्रित होने के कारण भृत्य वर्ग की स्थिति में सुधार सबसे बाद

[1] "The word "bureaucracy" applied to aspects of Japanese political development carries the full meaning of the Greek *kratia* (power)." *The New Japan* P. 9.

थी; १—शिन्निन (Shinnin); २—चोकुनिन (Chokunin); ३—सोनिन (Sonin); और ४—हन्निन (Hannin)। शिन्निन वर्ग में प्रधान मंत्री, मंत्री, अन्तरंग परिषद के सदस्य, महा राज्यपाल और राजदूत थे। इनकी नियुक्ति स्वयं सम्राट करता था। चोकुनिन वर्ग में उप मंत्री, सरकारी वकील, न्यायाधीश, ब्यूरो निदेशक, और जिलों (prefectures) के राज्यपाल थे और इनकी नियुक्ति प्रधान मंत्री की मंत्रणा पर सम्राट् करता था। सोनिन वर्ग में ब्यूरो सचिव और खंड (Section) प्रधान तथा अन्य समकक्षी पद थे। इन पदों के अधिकारियों की नियुक्ति मंत्री द्वारा सम्राट् के अनुमोदन से की जाती थी। हन्निन वर्ग के कर्मचारी नित्यकर्म करने वाले अधिकारी थे और वे उच्च अधिकारियों द्वारा नियुक्त किए जाते थे।

इस समय जापान की लोक-सेवा के अधिकारियों में कार्यात्मक (Functional) और गृह-प्रबन्धात्मक (House-keeping) भेद न थे और कार्यात्मक अधिकारी ही गृह-प्रबन्धात्मक कार्य भी करते थे। कार्मिक प्रशासन के लिए भी कोई केन्द्रित अभिकरण न था। सभी कार्मिक नीति विषयक मामले मंत्रिपरिषद के विधि-ब्यूरो के हाथ में थे। इस ब्यूरो के ही आधीन उच्च लोक सेवा परीक्षा समिति थी। इस समिति में ६० सदस्य थे जिनमें से अधिकांश टोकियो राजकीय विश्वविद्यालय के कानून संभाग (Law Faculty) के अध्यापक थे। परीक्षाएँ पास कर लेने से ही कोई व्यक्ति नियुक्ति का अधिकारी नहीं मान लिया जाता था। नियुक्ति के समय उच्च अधिकारियों तथा उनको प्रभावित कर सकने वाले व्यक्तियों के सम्बन्धियों को प्राथमिकता मिलती थी। प्रार्थना पत्रों के साथ बड़े-बड़े व्यक्तियों के संस्तुति-पत्र लगाए जाते थे और कभी-कभी अभ्यर्थी उपहार भी देते थे। नियुक्ति में अनेकानेक कारणों से टोकियो राजकीय विश्वविद्यालय के स्नातकों को सफलता अधिक मिलती थी और जापान की लोक-सेवा में तीन-चौथाई से अधिक व्यक्ति इसी विश्वविद्यालय के स्नातक थे।[1]

[1]Linebarger and others; Far Eastern Governments and Politics, 1956, P. 391.

जापान में मित्र राष्ट्रों का सैनिक शासन स्थापित हो जाने पर मित्रराष्ट्रीय सर्वोच्च समादेश ने लोक सेवा के सुधार पर विचार करना प्रारम्भ किया और उसकी राय पर जापान के वित्त मंत्री ने सर्वोच्च समादेश से अमेरिकन विशेषज्ञों के एक आयोग को जापान की लोक-सेवा संगठन की जाँच करने को बुलाने का अनुरोध किया। इसके फलस्वरूप संयुक्त राज्य कार्मिक शक्ति शिष्ट मंडल नवम्बर सन् १९४६ में जापान गया और उसने जुलाई १९४७ में अपने प्रतिवेदन के रूप में राष्ट्रीय लोक सेवा विधि का प्रारूप समर्पित किया। पर भृत्य वर्ग के प्रभाव के कारण उसमें बहुत से परिवर्तन कर दिये गये। इसलिए जुलाई १, १९४८ को लागू राष्ट्रीय लोक सेवा विधि (The National Public Service Law) में बहुत सी कमियाँ रह गयीं। सन् १९४९ और सन् १९५० में जापान में इस विधि में बनायी गयी सुधार योजनाओं को कार्यान्वित करने के असफल प्रयत्न किए गए। अन्त में मंत्रिपरिषद ने सुधार समस्या पर विचार करने के लिए प्रमुख जापानी नागरिकों का एक आयोग नियुक्त किया। इस आयोग ने अपना प्रतिवेदन अगस्त सन् १९५१ में प्रस्तुत किया और उसकी संस्तुतियों को सन् १९५२ में लागू किया गया।

जापान की वर्तमान लोक-सेवा दो भागों में विभाजित की जा सकती है; प्रथम, विशेष; और द्वितीय, साधारण। विशेष सेवा में मंत्री, राष्ट्रीय कार्मिक शक्ति और लेखा परीक्षा परिषद के सदस्य, मंत्रिपरिषद सचिवालय का महा-निदेशक और उसके सहायक, संसदीय उपमंत्री, संसद के सदनों द्वारा निर्वाचित अधिकारी, सम्राट गृह के अधिकारी, राजदूत, न्यायाधीशों तथा अन्य न्यायालय अधिकारी हैं इन पर राष्ट्रीय लोक सेवा विधि लागू नहीं है। यह विधि केवल साधारण या नियमित लोक सेवा के कर्मचारियों पर ही लागू है।

राष्ट्रीय कार्मिक शक्ति (The National Personel Authority)—राष्ट्रीय लोक सेवा विधि को कार्यान्वित करने वाली संस्था राष्ट्रीय कार्मिक शक्ति है। यह संयुक्त राज्य अमेरिका के लोक-सेवा आयोग की भाँति अर्द्ध स्वतंत्र है। यह मंत्रिपरिषद के क्षेत्राधिकार में है पर प्रधानमंत्री या अन्य किसी मंत्री के मंत्रालय का अंग नहीं है। इसमें तीन सदस्य होते हैं जिन्हें

आयुक्त कहते हैं। इनकी नियुक्ति मंत्रिपरिषद संसद के अनुमोदन से करती है और सम्राट इन नियुक्तियों को प्रमाणित करता है। मंत्रिपरिषद एक आयुक्त को मुख्यायुक्त नियुक्त करती है। आयुक्तों की स्थिति मंत्रियों और लेखा परीक्षण परिषद के सदस्यों के बाद है और इनका वेतन मंत्रियों के समान ही होता है।

आयुक्तों की नियुक्ति पर कुछ प्रतिबन्ध हैं। एक ही राजनैतिक दल के एक से अधिक व्यक्ति आयुक्त नहीं हो सकते। इसी प्रकार एक ही विश्व-विद्यालय के एक ही विभाग के एक से अधिक स्नातक आयुक्त नहीं बनाये जा सकते। आयुक्तों को प्रजातंत्रीय शासन पद्धति का समर्थक होना चाहिए। आयुक्त पद पर नियुक्त किए जाने वाले व्यक्ति नियुक्ति के पूर्व पाँच वर्ष में किसी दल के अधिकारी, परामर्शदाता या प्रभावपूर्ण सदस्य नहीं होना चाहिये। उन्हें इस काल में किसी जिले या केन्द्र के निर्वाचनीय पद का अभ्यर्थी भी नहीं होना चाहिए।

आयुक्तों का कार्यकाल चार वर्ष है पर उनकी पुनर्नियुक्ति की जा सकती है। कोई व्यक्ति बारह वर्ष से अधिक आयुक्त पद पर नहीं रह सकता। यदि आयुक्त में शारीरिक या मानसिक क्षमता न रहे, वह किसी अपराध में सजा पा जाये, या किसी विध्वंसकारी संघ का सदस्य बन जाये तो वह संसद द्वारा सर्वोच्च न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत किए दोषारोपण द्वारा पदच्युत किया जा सकता है।

महानिदेशक—शक्ति स्वयं अपना महानिदेशक (Director General) नियुक्त करती है। इसका पद प्रशासन विभागों के उपमंत्री अर्थात् विभागों के प्रशासकीय प्रधान के बराबर होता है। वह शक्ति का कार्यपालिका अधिकारी होता है और उसकी साप्ताहिक बैठकों में उपस्थित रहता है। वह राष्ट्रीय कार्मिक परिषद का सभापति होता है। इस परिषद के सदस्य विभिन्न मंत्रालयों तथा अन्य नियुक्ति करने वाली संस्थाओं के कार्मिक निदेशक होते हैं। परिषद 'शक्ति' और इन संस्थाओं के मध्य सम्पर्क स्थापित करती है और शक्ति से कार्मिक नियोजनों के सम्बन्ध में संस्तुतियाँ करती है।

शक्ति के विभाग—शक्ति के कई विभाग हैं जिनके नाम उनके कार्यों को प्रकट करते हैं। पहला विभाग प्रशासन सेवा ब्यूरो कहलाता है। यह 'शक्ति' का आन्तरिक प्रशासन, उसके पुस्तकालय, कार्मिक विषयों तथा लेखा का प्रबन्ध करता है। दूसरा विभाग भर्ती ब्यूरो कहलाता है। यह नियोजन, नियंत्रण तथा दो परीक्षाओं की व्यवस्था करता है। तीसरा विभाग प्रतिकर ब्यूरो है। यह विभिन्न पदों का वर्गीकरण करता है और वेतन तथा सेवा-निवृतिकालीन विषयों की व्यवस्था करता है। चौथा विभाग न्याय्यता (Equity) ब्यूरो कहलाता है। यह कर्मचारियों की कठिनाइयाँ और अपीलें सुनता है और कर्मचारी संघों से सम्बन्ध रखता है। पाँचवाँ विभाग कर्मचारी सम्पर्क ब्यूरो है जो कर्मचारियों की विभिन्न प्रकार की स्थितियों के बारे में खोज करता है और उनकी कुशलता, कल्याण, स्वास्थ्य, सुरक्षा आदि विषयों की व्यवस्था कराता है तथा विभिन्न प्रकार की सूचनाएँ देता है। इन विभागों के अतिरिक्त शक्ति में कुछ समितियाँ और परिषदें भी हैं जिनमें न्याय्यता परिषद, शिकायत पुनर्विलोकन समिति, दुर्घटना-क्षतिपूर्ति पुनर्विलोकन समिति तथा 'प्रशिक्षण', 'कल्याण' और 'कर्मचारी मूल्याङ्कन तथा उपयोग' परिषदें प्रमुख हैं। कर्मचारियों के प्रशिक्षण के लिए एक लोक सेवा संस्थान (The Civil Service Institute) भी स्थापित है।

शक्ति के अधिकार—शक्ति को कई प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं। वह अपना बजट स्वयं बनाती है और मंत्रिपरिषद के पास भेजती है। यदि मंत्रिपरिषद उसमें परिवर्तन करना चाहती है तो उसे मूल और परिवर्तित दोनों बजटों की प्रतिलिपियाँ संसद के समक्ष प्रस्तुत करनी पड़ती हैं। उसे राष्ट्रीय लोक सेवा विधि के अन्तर्गत नियम और निदेश लागू करने का अधिकार है। वह कार्मिक प्रशासन के बारे में खोज करती है और इस कार्य के लिए वह विभागीय अधिकारियों की उपस्थिति और उनके प्रपत्रों की माँग कर सकती है। वह कार्मिक विवरण के लिए प्रपत्र का रूप निर्धारित कर सकती है और इस सम्बन्ध की सांख्यकियाँ संग्रह करा सकती है। वह कर्मचारियों के वेतन और भत्तों

के भुगतान को नियंत्रित कर सकती है। कार्मिक प्रशासन में सुधार करने और कर्मचारियों के अन्तर विभागी और अन्तर्विभागी स्थानान्तरों के सम्बन्ध में संस्तुति कर सकती है। कार्मिक विधियों का निर्माण, संशोधन और निरसन करने के लिए वह अपने विचार मंत्रिपरिषद और संसद के समक्ष भेज सकती है और अपने नियमों के अनुसार अपने कार्यों को दूसरी संस्थाओं को हस्तान्तरित कर सकती है।

शक्ति के कार्य—राष्ट्रीय लोक सेवा विधि के अनुच्छेद २ के अनुसार शक्ति को निम्नाङ्कित विषयों के सम्बन्ध में कार्यक्रमों, नियमों, पद्धतियों, स्तरों और रीतियों को विकसित, संयोजित, संगठित तथा व्यवस्था करने तथा उनके सम्बन्ध में विधायकी तथा अन्य कार्यवाहियों की संस्तुति करने का अधिकार है—

क—पद वर्गीकरण, प्रतिकर, वेतन, परीक्षाएँ, योग्यताएँ, भर्ती, नियुक्ति के लिए योग्य व्यक्तियों की अनुसूची, योग्य व्यक्तियों का प्रमाणीकरण, नियुक्ति, प्रतिबन्धी काल, अस्थायी नियुक्तियाँ, अल्पसमयी नियुक्तियाँ, पद, शपथ, पदोन्नति, पदावनति, स्थानान्तरण, पुनर्पदस्थि, निवृत्ति, पेन्शन, पदच्युति, कर्मचारियों की कमी, कार्यमूल्याङ्कन आदि।

ख—कार्य के घंटे, अवकाश, अस्थायी निवृत्ति, स्वास्थ्य, सुरक्षा, मनोरंजन शिक्षा और प्रशिक्षा, कल्याण, व्यक्तिगत आचरण, राजनैतिक कार्य, व्यक्तिगत उद्योग से बहिष्करण, गौप्यरक्षा, अनुशासन, पृथक्करण, न्यायोचित व्यवहार, शिकायत, प्रत्याभूति, कार्य पर बीमारी और आघात के लिए क्षतिपूर्ति, राजकीय कार्मिक प्रशासन के सम्बन्ध में खोज, निरीक्षण आदि।

ग—कार्मिक अभिलेख, सांख्यकी, वेतन लेखा नियंत्रण, लेखा परीक्षा आदि।

घ—राष्ट्रीय कार्मिक परिषद तथा संस्थान का प्रशासन।

शक्ति की सफलता—शक्ति को नयी राष्ट्रीय लोक सेवा विधि को कार्यान्वित करने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। मंत्रिपरिषद,

संसद और भृत्यवर्ग सभी ने प्रारम्भ से ही उसके कार्यों और अधिकारों का विरोध किया। शक्ति ने बड़ी कठिनाई से विभिन्न पदों का कार्यों के आधार पर आंशिक वर्गीकरण किया है। उसे परीक्षा कार्य नियुक्त करने वाले विभागों की समितियों को ही हस्तान्तरित कर देना पड़े। उसे स्वीकृत अधिकार प्रयोग करने; कर्मचारियों और उच्च अधिकारियों के मध्य समुचित व्यवहार के विवादों के लिए समय निर्धारित करने; स्वास्थ्य, कल्याण, सुरक्षा आदि विषयों के बारे में अनुसन्धान करने; समान स्तरों की स्थापना करने और उनकी देख-रेख करने तथा कार्मिक नीतियाँ बनाने में पूरी सफलता नहीं मिली है।

नियमित सेवाओं के लिए भर्ती की परीक्षा या क्षमता का मूल्याङ्कन 'राष्ट्रीय कार्मिक शक्ति' या उन संस्थाओं द्वारा की जाती है जिनको 'शक्ति' यह अधिकार हस्तान्तरित कर देती है। विदेश विभाग स्वयं अपनी परीक्षक-संस्था की नियुक्ति करता है। शेष विभागों की अधिकांश परीक्षाएँ 'शक्ति' स्वयं लेती है। नियुक्ति करने वाले अधिकारी के पास परीक्षक संस्था प्रति पद के लिए पाँच योग्य व्यक्तियों के नाम भेजती है और अधिकारी स्वविवेक से उनमें से एक व्यक्ति को उस पद पर नियुक्त करता है। बिना परीक्षा या अन्य प्रकार की योग्यता अङ्कन के नियमित सेवा में स्थायी पद पर किसी व्यक्ति की नियुक्ति नहीं की जा सकती है। जिन पदों के लिए विभाग स्वयं परीक्षा लेते हैं उनमें उपविभागी प्रधान (Section Chief) और ऊपर के पदों की नियुक्ति की स्वीकृति शक्ति करती है। 'शक्ति' ने सन् १९५८ में स्वयं परीक्षा लेने वाले विभागों की परीक्षा पद्धति की जाँच भी की। पदोन्नति वाली नियुक्तियाँ भी इसी प्रकार प्रति पद के लिए पाँच व्यक्तियों की सूची से की जाती हैं। नियुक्ति अधिकारी १२ महीने तक के समय की अस्थायी नियुक्ति बिना सूची वाले नामों से भी कर सकते हैं। परिवीक्षा (probation) काल एक वर्ष का ही है।

प्रत्येक अनुशासनात्मक कार्यवाही के लिए सम्बन्धित व्यक्ति को अपराध की सूचना देना पड़ती है। व्यक्ति तीस दिन के अन्दर 'शक्ति' से उसके विरुद्ध अपील कर सकता है। अपील पर विचार करने के लिए एक न्याय्यता परिषद

(Board of Equity) की नियुक्ति 'शक्ति' करती है और परिषद की संस्तुति पर 'शक्ति' अपना प्रस्ताव पास करती है।

वेतन वृद्धि और पदोन्नति करना नियुक्ति करने वाले अधिकारी की क्षेत्राधिकार की वस्तु है पर दसवीं और इसके ऊपर की चार श्रेणियों से सम्बन्ध रखने वाली पदोन्नतियों और वेतन वृद्धि पर 'शक्ति' की स्वीकृति आवश्यक है। जीविका-मूल्य बढ़ जाने पर 'शक्ति' संसद और मंत्रिपरिषद से वेतन वृद्धि की संस्तुति कर सकती है।

कर्मचारियों की क्षमता का वार्षिक मूल्याङ्कन होता है। यह कार्य नियुक्ति करने वाली संस्था द्वारा ही किया जाता है। पर 'शक्ति' का महानिदेशक समय-समय पर अभिलेखों (records) का निरीक्षण करता है।

उपरोक्त कार्य यद्यपि कम महत्व के नहीं हैं, पर राष्ट्रीय कार्मिक शक्ति का भविष्य अन्धकारपूर्ण दिखाई देता है। जापान के बहुत से नेताओं की दृष्टि में वह नया अधिनायक है। इसीलिए उसकी स्थापना के समय से ही 'राष्ट्रीय कार्मिक शक्ति' के अधिकार घटा कर बहुत कम कर दिए गये हैं और अन्ततोगत्वा वह स्वतन्त्र अभिकरण के रूप में अपना पद खो सकती है।[1] अधिकारियों और कर्मचारियों के मध्य के विवादों को उचित ढङ्ग से तय करने की पद्धति लागू करने, कार्मिक नीतियों को बनाने और कुशलता के समान स्तरों को स्थापित करने तथा देख-रेख ऐसे महत्वपूर्ण विषयों में 'शक्ति' अपने कार्य में सफल नहीं हुई है।

भृत्य वर्ग पर लगे प्रतिबन्ध—भृत्य वर्ग को दलगत राजनीति से मुक्त करने के लिए और भ्रष्टाचार को रोकने के लिए कर्मचारियों पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगाये गये हैं। उनको लोक हित में अपने कर्त्तव्यों, विधि तथा उच्च अधिकारियों की आज्ञा का पालन करने की शपथ लेनी पड़ती है। वे राजनैतिक

---

[1] "Since its establishment the power of the National Personnel Authority has been whittled away, and it may eventually lose its status as an independent ageney" *G. M. Kahins, Major Governments of Asia*, 1958, P. 180.

दलों के सदस्य हो सकते हैं, निर्वाचनों में मत दे सकते हैं, पर वे दलों के पदाधिकारी नहीं हो सकते और न निर्वाचनों में प्रचार-कार्य कर सकते हैं। वे व्यापारिक सङ्गठनों में भी किसी अधिकार के पद को ग्रहण नहीं कर सकते। उनको कर्मचारी सङ्घ बनाने का अधिकार है पर वे सरकार से सामूहिक सौदा नहीं कर सकते हैं। पुलिस, अग्नि सेवा, सेना तथा दंड अभिकरणों के कर्मचारी सङ्घ निर्माण भी नहीं कर सकते हैं। कोई कर्मचारी हड़ताल नहीं कर सकता है।

जापान के भृत्य वर्ग की विशेषताएँ—जापान के भृत्यवर्ग में निम्नाङ्कित विशेषताएँ पायी जाती है। इनमें से कुछ विशेषताएँ तो ऐसी हैं जो दूसरे देश के भृत्य वर्ग में भी पायी जाती हैं और जापान में केवल उनकी मात्रा अधिक है। इनके अतिरिक्त इसमें कुछ विशेषताएँ ऐसी हैं जो जापान के ही भृत्य वर्ग में पायी जाती है :

१. **अतिविधि-परायणता**—जापान के भृत्य वर्ग का लोक प्रशासन के प्रति दृष्टिकोण उच्चकोटि की विधि परायणता से पूर्ण है। जब कभी किसी अधिकारी के सामने कोई भी निर्णय लेने की समस्या आती है तो वह पुस्तकों की आलमारी की ओर दौड़ता है और नियमावली तथा संहिताओं के पृष्ठ उलट-पलट कर उस विषय से सम्बन्धित किसी विधि, अध्यादेश या नियम को ढूँढ़ने का प्रयत्न करता है। यदि वह नहीं मिलता तो कोई पूर्व उदाहरण ढूँढ़ता है। निर्णय-कार्य स्थगित कर दिया जाता है। पर यह विधि परायणता उसी व्यक्ति के कार्य में दिखायी जाती है जिससे अधिकारी स्वयं कोई हित नहीं रखते। परिचित व्यक्तियों के कार्य में सामाजिक प्रथाओं के आधार पर ही निर्णय ले लिया जाता है। इस अतिविधि-परायणता के साथ-साथ लाल फीताशाही भी बढ़ी हुई है।

२. **दास-भाव से पूर्ण**—जापान की लोक सेवा के कर्मचारी में अपने से उच्च अधिकारी के प्रति उच्चकोटि का दास-भाव पाया जाता है। जिस वर्ग की भी सत्ता स्थापित हो वह बाह्य रूप से उसी की आज्ञा का पालन करने लगता है और आन्तरिक रूप में वह अपने उच्च अधिकारी के प्रति ही भय

और सम्मान रखता है। ज्येष्ठता और कनिष्ठता का भाव एक क्षण के लिए भी दूर नहीं होता। इससे चाटुकारिता की वृद्धि होती है।

३. पद-चेतना—प्रत्येक अधिकारी में अपने पद की चेतना होती है जिससे ज्येष्ठ अधिकारी किसी भी प्रकार अपने कनिष्ठ अधिकारी या उसके सम्बन्धी को अपने या अपने सम्बन्धी से उच्च नहीं होने देना चाहता। ऊँचे और नीचे अधिकारियों की पुस्तकों की अल्मारियों, कुर्सियों, मेज के कपड़ों के गुण और संख्या में अन्तर होता है। हरे रंग का मेज का कपड़ा केवल उच्च अधिकारी ही प्रयोग कर सकते हैं। एक बार एक छोटे अधिकारी के पुत्र ने साथ पढ़ने वाले बड़े अधिकारी के पुत्र से अधिक अङ्क प्राप्त किए। इसके फलस्वरूप छोटे अधिकारी का स्थानान्तरण कर दिया गया। स्थानान्तरण प्रायः व्यक्तिगत सम्बन्धों के आधार पर होते हैं।

४. परिवर्तन विरोधी—जापान का भृत्य वर्ग अनुदार तथा परिवर्तन का विरोधी है। वह सदैव पूर्व उदाहरणों और प्रथाओं के आधार पर चलना चाहता है। उसमें प्रयोगवादी और व्यक्तिवादी भावना नहीं पायी जाती है। भृत्य वर्ग की यह यथा-स्थिति-पक्षी दृष्टिकोण अब भी सामन्तवादकालीन प्रथाओं और विचारधाराओं को बनाए हुए है। परिवर्तन विरोधी होने के कारण जापान के प्रशासन के अधिकारियों की विचारधारा सकारात्मक होने की अपेक्षा नकारात्मक अधिक रहती है। इसीलिए वह प्रायः समस्याओं को टालते हैं, विचारों को गुप्त रखते हैं और दिखावटी होते हैं।

५. आत्मश्रेठष्ता और न्यायपरायणता की भावना की प्रबलता—जापान के कर्मचारी वर्ग में निजी श्रेष्ठता, ज्ञान और न्यायपरायणता में तीव्र विश्वास पाया जाता है वह यह मानने को तैयार नहीं हो सकते कि वह कभी गलती कर सकते हैं। सन् १८८९ के संविधान के अन्तर्गत सम्राट् के अधिकारी होने के नाते वे सम्राट की प्रजा को अपनी प्रजा समझने लगे। आज भी उनके इस दृष्टिकोण में परिवर्तन नहीं हुआ है। इसी कारण वह जनता को नीच समझते हैं और उससे घृणा करते हैं। वे घमंडी होते हैं और अपने को लोक-सेवक नहीं लोक अधिकारी समझते हैं। नये संविधान के प्रजातांत्रिक लक्षणों से

उनके दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। उनमें अब भी दफ्तरशाही और आत्म महत्व की भावना पूर्ववत् विद्यमान है। वे जनमत की चिन्ता नहीं करते हैं और जनता की समस्याओं, आवश्यकताओं और सुविधाओं के प्रति प्रायः उदासीन रहते हैं तथा उसके साथ कठोरतापूर्ण व्यवहार करते हैं।

६. **भ्रष्ट**—जापान का भृत्य वर्ग अपनी विलासिता और भ्रष्टाचार के लिए विख्यात है। वे उत्कोच लेते हैं, दावतें खाते हैं, शराब पीते हैं, चापलूसी कराते हैं और नर्तकी से मनोरञ्जन करते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् कई नये प्रकार के भ्रष्टाचार फैल गये हैं। इनमें किसी के यहाँ आने और विदाई के समय उपहार लेना, महाजोंग खेल खेलना तथा नर्तकी से मनोविनोद करना प्रमुख है। महाजोंग एक प्रकार का जुआ है जिसमें अधिकारी की अनुकम्पाकांक्षी उसे बहुत-सा धन जिताते हैं।

७. **आत्मशाश्वतकर्ता**—प्रो० यनागा का मत है कि भृत्य तंत्र स्वाभाविक विशेषताएँ आत्म-शाश्वतकर्ता और आत्म-विस्तार प्रवृत्तियाँ हैं।[1] यह अधिकारी सम्भवतः आत्म रक्षा के विचार से करते हैं। क्योंकि यह एक सर्वव्यापी विश्वास है कि जो विकास नहीं करता उसका पतन होता है। इसलिए भृत्य वर्ग किसी भी प्रकार अपने अधिकारों और सुविधाओं का कम नहीं होने देना चाहता। सैनिक अधिग्रहण के अधिकारी उसके सुधार में असफल रहे और बहुत से ऐसे सुधार जिनसे भृत्य वर्ग के अधिकार कम होते थे, जैसे एक शक्ति शाली और स्वतन्त्र लोक सेवा आयोग की स्थापना करना, पूर्ण रूप से सफल नहीं हो सके हैं। प्रशासन को सरल भी इसीलिए नहीं बनाया जा सकता कि इससे बहुत से कर्मचारियों की आवश्यकता ही न रह जायेगी।

८. **कुशलता का अभाव**—प्रो० आइक के अनुसार जापान के भृत्य वर्ग के विरुद्ध यह एक आम शिकायत है कि वह बहुत धीरे-धीरे कार्य करती है। यही कारण है कि सन् १६३१ में कर्मचारियों की संख्या केवल ५,६१,००० थी

---

[1] "Self-perpetuating and expansive tendencies are practically inherent characteristics of the bureaucratic machinery" Yanga, *op. cit.* P. 312,

और सन् १९५३ में उनकी संख्या बढ़ कर १५,२८,२५६ हो गई है। इनके अतिरिक्त दस लाख कर्मचारी अस्थायी हैं। फिर भी कार्य ठीक ढङ्ग से और समय से नहीं होता है।

९. सर्वव्यापक—जापान के भृत्य वर्ग की एक विशेषता यह भी है कि अब उसका कार्य क्षेत्र प्रशासन तक ही सीमित नहीं है। अब तो वह प्रायः सभी स्थानों में फैल गयी है। प्रतिनिधि सभा, पारिषद् सभा, मंत्रि परिषद, राजनैतिक दल और उनकी कार्यपालिकाएँ, उद्योग तथा व्यापार सङ्गठन सभी जगह पर भृत्य वर्ग के अधिकारी पर्याप्त संख्या में पाये जाते हैं। इस प्रकार सरकार और समाज दोनों ही स्थानों पर उसका प्राबल्य है।

१०. विखंडित—जापान के राजकीय प्रशासन का एक महान दोष उसका पूर्ण रूप से संगठित न होना है। प्रत्येक मन्त्रालय का प्रत्येक ब्यूरो और प्रत्येक खंड अपने अधिकारों का अत्यधिक ईर्ष्यालु है और प्रशासन में संयोजन अत्यन्त कम है। प्रमुख प्रपत्र, प्रलेख और अन्य साहित्य को जो बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लेने के लिए परमावश्यक समझे जाते हैं प्रत्येक अधिकारी स्वयं अपने पास रखता है और दूसरे अधिकारियों को दिखाने से भी इन्कार कर देता है। ऐसे विषयों पर जो दूसरे मंत्रालय, ब्यूरो या खंड से सम्बन्धित होते हैं निर्णय लेने में भी कभी-कभी तीन-तीन वर्ष का समय लग जाता है।

११. उत्तरोधर—जापान के प्रशासन की एक विचित्र विशेषता यह है कि ज्येष्ठ अधिकारी निम्न अधिकारियों का प्रयोग नहीं करते वरन् निम्न अधिकारी ज्येष्ठ अधिकारियों का प्रयोग करते हैं। मंत्री अपने मंत्रालय को नियंत्रित करने में प्रायः असफल रहता है और विभाग और ब्यूरो के प्रधान मंत्रालय के प्रशासकीय प्रधान को प्रभावित रखते हैं। नीचे के अधिकारी बहुत-सी योजनाओं और कार्यों पर रोधाधिकार का प्रयोग ही नहीं करते वरन् कभी-कभी महत्वपूर्ण विषयों पर उपक्रम भी करते हैं। जापान के प्रशासन में न तो संयोजन ही पाया जाता है और न उसमें स्पष्ट रूप से निश्चित और प्रभावशील प्रधान ही होते हैं। इस अस्तव्यस्तता का कारण अत्यधिक स्थानान्तरण और पद परिवर्तन बताये

जाते हैं। ऐसा कहा जाता है कि बहुत से अधिकारी हैं जिन्होंने जितने वर्ष कार्य किया है उतने ही पदों पर रहे हैं।

जापान में भृत्य वर्ग के प्रबल होने के कारण

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि जापान में भृत्य वर्ग का प्रभाव बहुत बढ़ा हुआ है और प्रमुख आधुनिक प्रजातन्त्र देशों जैसे संयुक्त राज्य अमेरिका, इङ्गलैण्ड, भारत के भृत्य वर्ग की अपेक्षा जापान का भृत्य वर्ग अत्यधिक शक्तिवान् है। जापान के भृत्य वर्ग के इस प्राबल्य का कारण वहाँ की ऐतिहासिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक परिस्थितियाँ हैं जिनमें भृत्य वर्ग को अपना प्रभाव बढ़ाने और उसकी रक्षा करने का अवसर मिला है। संक्षेप में जापान के भृत्य वर्ग के प्राबल्य के निम्नांकित कारण हैं :

१. ऐतिहासिक परिस्थितियाँ—भृत्य वर्ग के शक्तिवान् होने का सबसे प्रमुख कारण ऐतिहासिक परिस्थितियाँ हैं। जापान के ज्ञात इतिहास में सम्राट् ने स्वयं कभी भी शासन नहीं किया है। प्रारम्भ में सामन्त ही देश के वास्तविक शासक थे। कभी एक वर्ग सम्राट् पर अपना प्रभुत्व स्थापित करके उसके नाम पर स्वयं शासन करता था, कभी दूसरा और कभी तीसरा। जब तोकुगावा शोगुनत का अन्त हुआ तब उसके विरोधी चोशु, सात्सुमा, तोशा और हिजेन गोत्रों के लोग पुनर्स्थापित सम्राट्तंत्र के नाम से शासन करने लगे। अतः जब पुर्नस्थापन काल के सुधारों के साथ लोक-सेवा का पुनर्संगठन हुआ तो उन्हीं गोत्रों का सामन्तकालीन सैनिक वर्ग और उसके पुत्र-पौत्रादि उसमें प्रविष्ट हो गये।[1] ये लोग सम्राट् के नाम से शासन करते थे और उसी के प्रति उत्तरदायी कहे जाते थे। इन लोगों ने ही जापान में भृत्यतंत्र की स्थापना कर दी जो अनुकूल परिस्थिति के कारण निरन्तर प्रबल होती गयी।

---

[1] "In the early Meiji period, the bureaucracy was recrited largely from the politically important ex-fiefdoms, notably choshu and satsma." R. A. Scalapino & J. Masumi : *Parties and Politics in Contemporary Japan*, 1962, p. 8.

२. शक्तिवादी परम्परा—जापान में शताब्दियों से परिवारों और सरकार में शक्तिवादी परम्परा रही है। सम्राट् की दैविकता, उसके प्रति प्रजा में निष्ठा, सम्राट् के नाम पर शासन, सामन्तवाद आदि सभी तत्व ऐसे निरंकुशतावादी शासन स्थापित करने में सहायक हुए जिसमें जनता प्रजा समझी जाती थी और शासक स्वामी माने जाते थे। स्वामी और प्रजा के सम्बन्ध की भावना इतनी दृढ़ हो गई कि उसमें ही स्वबल आ गया और वह स्वयं बढ़ती रही।

३. सामन्तवादी व्यवस्था—जापान में भृत्यतन्त्र स्थापित करने में सामन्तवादी व्यवस्था का विशेष योग है। सामन्तवाद और भृत्यतन्त्र की महत्वपूर्ण विशेषताएँ समान हैं। दोनों में शासक को नेता, उच्च और विशेष गुण सम्पन्न माना जाता है और शासित निम्न स्तर के समझे जाते हैं। दोनों के संगठन में पद सोपान पाया जाता है। इसलिए जब सामन्तवाद का अन्त हुआ और सामन्त वर्ग भृत्य वर्ग बन गया तो भृत्य वर्ग सामन्त वर्ग का स्थान सरलता से ले सका।

४. शिन्तो-कन्फ्यूशियन धर्म—धर्म अपने रहस्यवाद तथा ईश्वरीय संबंध के कारण साधारण जनता में अन्धविश्वासी प्रभाव डालता है। जिससे वह तर्क भावना को त्याग कर वस्तु स्थिति को ब्रह्म विरचित मान कर उसे स्वीकार कर लेता है। शिन्तो धर्म में ईश्वर और सरकार में अन्तर नहीं माना जाता और सरकार ही ईश्वर की प्रतिनिधि मानी जाने लगती है। जापानवासी शिन्तो धर्म के आधार पर ही सम्राट् को देववंशज मानते थे और भृत्य वर्ग सम्राट् का प्रतिनिधि था। बाद में चीन का कन्फ्यूशियन धर्म जापान पहुँचा। जिसके अन्तर्गत सरकार जनता की कल्याणकर्त्ता और वास्तविक ज्ञान रखने वाली समझी जाती थी। उसने सरकार, मालिक और परिवार के प्रधान के प्रति पैतृक सम्मान भावना को और भी दृढ़ किया और भृत्यवर्ग में अहंकार व उच्चता की भावना बढ़ायी।

५. कुलीनवर्ग का भृत्य वर्ग में प्राबल्य—जापान में लोक-सेवा की स्थापना कुलीनतन्त्र, जो राजतन्त्र का मेरुदण्ड थी, दृढ़ करने के लिये की गयी

थी। इसलिए लोकसेवा की परीक्षाओं में कुलीन वर्ग के युवक ही सम्मिलित हो सकते थे। बाद में जब वे परीक्षाएँ औपचारिक रूप में सभी लोगों के लिए खोल दी गयीं तो राजकीय विश्वविद्यालय टोकियों के स्नातकों को बिना परीक्षा ही भर्ती कर लेने की आज्ञा दी गयी। इस विश्वविद्यालय में साधारण वर्ग के नवयुवक प्रवेश नहीं पा सकते थे। इस कारण भृत्य वर्ग में कुलीन वर्ग के लोगों का प्रवेश होता रहा। कुलीनवर्गी होने के कारण भृत्य वर्ग में स्वाभाविक रूप से उच्चता की भावना वर्तमान थी जिसे स्थिर रखने के लिए वह सदैव प्रयत्नशील भी रहा।

६. **निम्नवर्ग के लोगों का प्रशासन में प्रवेश**—यद्यपि लोक-सेवा में उच्चपद उच्चवर्ग के हाथ में ही रहे पर निम्नपद शोगुनत व्यवस्था के छोटे अधिकारियों और प्रान्तीय अधिकारियों के सहायकों द्वारा भरे गये थे। इन लोगों में शक्तिपिपासा थी। अतः इन्होंने भी अपने कुलीनवर्गी अधिकारियों का अनुकरण किया और जनता को नीची दृष्टि से देखने लगे। यह लोक-सेवा को सामाजिक उत्थान की सीढ़ी समझते थे। इसलिए जनता में भी भृत्य वर्ग के प्रति उच्चकोटि की सम्मान-भावना उत्पन्न हो गयी।

७. **सैनिक वर्ग का प्रभाव**—जापान में लोक सेवा का आधुनिक पुनर्संगठन राजकुमार इतो ने किया। पर उसकी वास्तविक व्यवस्था गृहमंत्री जनरल यामागाता ने की। यामागाता स्वयं तो जनरल था ही, वह जापानी सेना का भी निर्माता था। यामागाता के प्रभावस्वरूप भृत्य वर्ग के आकार और भावना का निर्माण सेना के अधिकारियों द्वारा किया गया। इसलिए जापानी भृत्य वर्ग में उच्चकोटि का पद सोपान और उच्च तथा निम्न पद के अन्तर की भावना दृढ़ हुई।

८. **सैनिक-शासन**—सन् १६२० के पश्चात् राजनैतिक दलों के शक्तिहीन हो जाने पर जापान में सैनिक वर्ग के मंत्रिमंडल बनने लगे। इससे एक ओर तो व्यवस्थापिका की सीमित शक्ति भी समाप्त हो गयी और दूसरी ओर सैनिक अधिकारियों में असैनिक प्रशासन की जटिलता और प्रशासन कला

का ज्ञान न होने के कारण उन्हें भृत्य वर्ग के ऊपर ही आश्रित होना पड़ा। इसलिए सारा शासन संचालन ही भृत्य वर्ग के हाथ में आ गया।

९. भृत्यवर्ग में परस्पर सहयोग भावना—भृत्य वर्ग की प्रबलता का एक प्रमुख कारण उनके मध्य परस्पर सहयोग की उच्च भावना का होना है। जब कभी भृत्य वर्ग की किसी भी श्रेणी के अधिकारों को कम करने की योजना बनाई गयी तो सभी वर्गों के लोक-कर्मचारियों ने मिलकर उसका विरोध किया जिससे अनेक प्रयत्न होने पर भी कभी भी भृत्य वर्ग का सुधार न हो सका। इस सम्बन्ध में विदेश मंत्रालय की इस शताब्दी के चतुर्थ दशक की घटना सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करती है। इस समय यह योजना बनाई गई कि व्यापार मंत्रालय का संगठन किया जाय और विदेश मंत्रालय के विदेशी व्यापार के क्षेत्र में नीति-निर्माण और प्रशासकीय अधिकार कम कर दिये जायें। इस योजना का समाचार पाते ही विदेश विभाग के छोटे-बड़े सभी कर्मचारियों ने सामूहिक रूप से त्यागपत्र दे दिया। ऐसी स्थिति में सरकार को झुकना पड़ा और योजना रद्द कर दी गयी।

१०. राजतंत्रीय शासन—राजतंत्रीय शासन पद्धति ने अन्य देशों की भाँति जापान की लोक-सेवा में स्वामित्व की भावना उत्पन्न करने में अत्यधिक योग दिया है। सन् १८८९ के संविधान के अन्तर्गत भृत्य वर्ग अपने को सम्राट् के प्रति व्यक्तिगत रूप से निष्ठावान् समझता था। इसके परिणामस्वरूप वह अपने को लोक-सेवक न समझ कर सम्राट् का अधिकारी समझता था। इस भावना से वह अपना कर्त्तव्य जनता की इच्छा का ध्यान रखना नहीं वरन् सम्राट् के प्रति असन्दिग्ध और अविवादी भक्ति दिखाना समझते थे। इस प्रकार भृत्य वर्ग शनैः-शनैः जनता को हीन दृष्टि से देखने लगा और उसके मत की उपेक्षा करने लगा।

११. राजनैतिक दलों की शक्तिहीनता—जापान के राजनैतिक दलों का गुट-विभाजन, फूट और बहुदलीय प्रथा जो बहुस्थानीय निर्वाचन क्षेत्र और एक मत पद्धति के कारण प्रोत्साहित होती रहती है, उनको दुर्बल बनाती है। दलों की दुर्बलता और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न उनकी कार्यकुशलता की कमी

तथा बहुदलीय सँयुक्त मन्त्रिपरिषदों के होने के कारण न तो वह भली प्रकार स्वयं नीति-निर्माण ही कर पाती हैं और न भृत्य वर्ग को ही नियंत्रित कर पाती हैं। मन्त्रिपरिषदें तो स्वयं भृत्य वर्ग की सहायता पर आश्रित रहती हैं। दलीय दुर्बलता से जनमत शक्तिशाली नहीं हो पाता। जब तक राजनैतिक शक्ति इतनी सबल नहीं होती कि वह भृत्य वर्ग को नियंत्रित करे, भृत्य वर्ग प्रबल ही बना रहेगा।

१२. **संसद् की दुर्बलता और कार्यपालिका की सबलता**—सन् १८८६ के संविधान के अन्तर्गत संसद के अधिकारों की कमी, बहुदल प्रथा, दलों की गुटबन्दी और आन्तरिक फूट के कारण संसद दुर्बल रही और कार्यपालिका की स्थिति प्रबल रही। वर्तमान संविधान के अन्तर्गत संसद की स्थिति में कुछ सुधार अवश्य हुआ और उसके अधिकारों में वृद्धि हुई। पर उसकी आन्तरिक दुर्बलता पूर्ववत् बनी रही। साथ ही मन्त्रिपरिषद् की शक्ति पहले की अपेक्षा बहुत अधिक बढ़ गई है। अब उसके प्रभाव को सन्तुलित करने वाली संस्थाएँ, अन्तरंग परिषद्, वरिष्ट परिषद् और सम्राट् परिवार संस्था के उच्च और प्रभावशील अधिकारी न होने के कारण उसकी प्रबलता बढ़ गई है और उसके पीछे भृत्य वर्ग अपना प्रभाव बढ़ा रहा है।

१३. **मन्त्रि-परिषदों का अस्थायित्व**—यद्यपि प्रत्येक प्रजातंत्र देश में राजनैतिक कार्यपालिका अस्थायी होती है और मन्त्रि-परिषदात्मक शासन-व्यवस्था से कार्यपालिका विशेष रूप से अस्थायी हो जाती है। पर जापान की मन्त्रिपरिषद विशेष रूप से अस्थायी हुई हैं। २२ दिसम्बर सन् १८८५ से जब कि जापान में प्रथम मन्त्रिपरिषद् स्थापित हुई, २२ दिसम्बर सन् १९५५ तक के ७० वर्ष में जापान में ५५ मन्त्रिपरिषदें बनीं। यह अस्थायित्व सैनिक अधि-ग्रहण के पश्चात् और भी बढ़ गया और सन् १९४५ से १९५५ के दस वर्षों में बारह मन्त्रिपरिषदें बनीं। इन मन्त्रिपरिषदों में भी गुटबन्दी तथा प्रधानमन्त्री के मन्त्रियों को पदच्युत करने के अधिकार के कारण मन्त्रियों में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा। ऐसी स्थिति में तथा मन्त्रियों पर प्रशासन से सम्बन्ध न रखने वाले दलीय, संसदीय तथा अन्य प्रकार के कार्यों के भार की अधिकता के

कारण उन्हें प्रशासन का अनुभव नहीं हो पाता है और उन्हें अधिकाधिक भृत्य वर्ग की संस्तुतियों पर निर्भर रहना पड़ता है।

१४. भृत्य वर्ग के कार्यक्षेत्र की वृद्धि—राज्य के उद्योगों जैसे यातायात और संचार साधन, एकाधिकारी उद्योग, विशेष बैंकों की वृद्धि तथा उनका भृत्यवर्ग द्वारा संचालन और व्यक्तिगत उद्योगों पर भृत्यवर्ग का उद्योगों को नियमित करने का अधिकार उनके हाथ में विस्तृत विवेक प्रयोग करने वाली शक्ति देता है। प्रावैधिकता के विकास और सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं की जटिलता ने प्रशासन में इतनी विविधता ला दी है जिसे राजनैतिक दाँव-पेचों में व्यस्त विधायक और मंत्री सँभाल नहीं सकते और उन्हें भृत्यवर्ग पर आश्रित होना पड़ता है। श्रम, पुलिस, राष्ट्रीय सुरक्षा आदि के क्षेत्रों में बनी विधियाँ भी व्यक्तिगत स्वतंत्रता को कम करती हैं और भृत्यवर्ग के अधिकार को बढ़ाती हैं।

१५. भृत्य वर्ग का राजनीति में प्रवेश—दलों की दुर्बलता, सिद्धान्तों का अभाव, धन और व्यक्तित्व का निर्वाचनों पर विशेष प्रभाव, व्यापारिक वर्ग की भृत्य वर्ग को सहायता, बहु स्थानीय निर्वाचन क्षेत्रों में एक मत पद्धति, राजनीतिज्ञों का भृत्यवर्ग पर आश्रित रहना, राजनैतिक दलों में प्रशासन में विज्ञ और विद्वान व्यक्तियों का अभाव, संसद सदस्यों का ऊँचा वेतन, असीमित कार्य-काल और पेन्शन-व्यवस्था और राज्य कर्मचारियों को राजनैतिक दलों में सम्मिलित होने की आज्ञा होने के कारण भृत्यवर्ग का राजनीति में प्रवेश सरल और लाभकारी बनाती है। इसलिए बहुत से भृत्यवर्ग के अधिकारी राजनैतिक दलों के माध्यम से संसद और मंत्रिपरिषदों में पहुँच जाते हैं।[1] बहुत से ऐसे व्यक्ति प्रधान मंत्री पद पर भी पहुँच जाते हैं। शिदेहारा, योशीदा,

---

[1]वर्तमान संविधान के अन्तर्गत किसी भी मंत्रिपरिषद में भूतपूर्व भृत्य-वर्गीय अधिकारियों की संख्या एक-तिहाई से कम कभी नहीं रही है और ८ दिसम्बर सन् १९६० को नियुक्त इकेदा मन्त्रिपरिषद के सत्रह व्यक्तियों में नौ भृत्यवर्गीय पृष्ठभूमि के थे।

अशीदा और हातोयामा ऐसे ही प्रधान मंत्री हुए हैं जो पहले लोक-सेवा के अधिकारी थे। ऐसे मंत्री भृत्यवर्ग को बढ़ाने के ही पक्ष में रहते हैं और इन पर इनके पूर्व सहयोगियों का भी प्रभाव रहता है। इस प्रकार 'भृत्यवर्ग की शक्ति निरंतर बढ़ती रहती है।

१६. भृत्य वर्ग की विशेषताएँ—भृत्यवर्ग की विशेषताएँ भी उनके प्रभाव को बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुई हैं। सर्व प्रथम, भृत्यवर्ग में देश के सबसे अधिक कुशाग्र लोग होते हैं। इनकी शिक्षा राजनीति, इतिहास, दर्शन आदि उदार विषयों में न होकर संवैधानिक, व्यवहार, वाणिज्य तथा दंड विधियों, व्यवहार प्रक्रिया और दंड संहिताओं में होती है। इसलिए ये लोग वैधानिक प्रावैधिकताओं को समझते हैं। इनको अपने अधिकारों और प्रभावों की चेतना होती है। इनका सङ्गठन सेवा की दीर्घता पर आधारित है। ये स्वयं अपनी स्थिति की रक्षा करने तथा उसे दृढ़ करने के पक्ष में रहते हैं। इनकी राय विशेषज्ञता पूर्ण समझी जाती है और उसका सम्मान किया जाता है। इन सब तथ्यों ने भी भृत्य वर्ग का प्रभाव बढ़ा दिया है।

१७. सैनिक अधिग्रहण काल के कार्य—विद्वानों का मत है कि वर्तमान संविधान यद्यपि प्रजातन्त्रवादी है पर उसकी स्थापना ने भृत्य वर्ग के प्रभाव को घटाने की अपेक्षा बढ़ाया है। इस वृद्धि के कई कारण हैं। सर्व प्रथम सैनिक अधिग्रहण के अधिकारी अपने नियोजित सुधारों को प्रवृत्त करने में भृत्य वर्ग पर ही आश्रित थे। अधिग्रहण काल में सैनिक गुट, जो जापान के शासन पर अपना प्रभुत्व स्थापित किए था, के समाप्त हो जाने पर उसके द्वारा रिक्त किए स्थान पर भृत्य वर्ग का प्रभाव स्थापित हुआ। इस काल में बहुत से अनुभवी राजनीतिज्ञ भी राजनीति से बहिष्कृत कर दिये गये। इस रिक्त स्थान की पूर्ति भी भृत्य वर्ग ने ही की। द्वितीय, अधिग्रहण काल के सुधारों के लिए नियोजकों और प्रशासकों की आवश्यकता थी। अन्तरङ्ग परिषद और वरिष्ट परिषद समाप्त कर दी गयीं थीं। अतः यह कार्य भी भृत्य वर्ग के अधिकारियों को देना पड़ा। तृतीय, इसी समय राजनैतिक दलों का पुनर्गठन हुआ और योग्य नेताओं के अभाव में दलों के उच्च पदों पर बहुत से अवकाश प्राप्त अधिकारी

ही पहुँच गये। चतुर्थ, सङ्कट काल में अनुभव और प्रशिक्षण वाले व्यक्तियों की आवश्यकता होती है और जापान में इन गुणों पर भृत्य वर्ग का लगभग एकाधिकार था। इसके अतिरिक्त राजनीतिज्ञ जनता में कुख्यात भी थे अतः भृत्य वर्ग का अभाव और भी बढ़ गया।

१८. **नियमों की त्रुटियाँ**—भृत्य वर्ग के प्रभाव की वृद्धि के लिए प्रचलित नियमों की कुछ त्रुटियाँ भी उत्तरदायी हैं। सर्व प्रथम, भृत्य वर्ग को राजनैतिक दलों का सदस्य होने का अधिकार है। द्वितीय, मंत्रियों के नीचे विभागीय प्रशासन-प्रधानों को उपमन्त्री कहा जाता है और मन्त्रिपरिषद की बैठक के पूर्व विचारणीय विषयों पर उपमंत्रियों की बैठक होती है। इससे मंत्रिपरिषद की बैठक औपचारिक ही रह जाती है। तृतीय, प्रशासकीय अधिकारी मन्त्रियों के साथ संसद में उपस्थित होते हैं और वाद-विवाद में भाग लेते हैं। चतुर्थ, 'राष्ट्रीय कार्मिक शक्ति', वित्तीय नियंत्रण और प्रशासकीय नियंत्रण की पृथकता के कारण भृत्य वर्गीय गुट (Kambatsu) की विरोधी शक्तियाँ बुरी तरह से विभाजित हैं और उस पर नियंत्रण नहीं कर पा रही हैं।

१९. **स्थानीय स्वशासन का अभाव**—जैसा अध्याय ६ में वर्णन किया गया है जापान में मेइजी संविधान के अन्तर्गत स्थानीय स्वशासन नाम मात्र का था और सभी स्थानीय कार्यों को केन्द्रीय सरकार की आज्ञा पर उसके ही कर्मचारी करते थे। इससे एक ओर भृत्यों की संख्या बहुत बढ़ गयी और दूसरी ओर जनता के जीवन के अधिकांश पक्षों पर उसका नियंत्रण बढ़ गया। इस प्रकार केन्द्रवाद ने भी भृत्य तन्त्र को बढ़ाया है।

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. भृत्य वर्ग पर कौन-कौन दोष लगाए जाते हैं? प्रजातन्त्र राज्य में उनका होना कहाँ तक आवश्यक है?

२. 'लोक-सेवा का आधुनिक राज्यों के कार्य न केवल शासन में सुधार करना है, उसके बिना शासन स्वयं असम्भव हो जाएगा।' इस कथन की समीक्षा करिए।

३. जापान के भृत्य वर्ग के संगठन का वर्णन करिए। इसमें कौन-कौन से दोष हैं ?

४. राष्ट्रीय कार्मिक शक्ति (The National Personel Authority) के गठन, स्थिति और महत्व की विवेचना करिए।

५. 'उसकी स्थापना काल से ही राष्ट्रीय कार्मिक शक्ति के अधिकार घटा कर बहुत कम कर दिए गये हैं और अन्ततोगत्वा एक स्वतन्त्र अभिकरण के रूप में वह अपना पद खो सकती है' (एन० आइक) इस कथन की समीक्षा करिए।

६. जापान के भृत्य वर्ग की विशेषताएँ संक्षेप में वर्णन करिए।

७. "जापानी राजनैतिक विकास के पक्षों में प्रयुक्त 'ब्यूरोक्रेसी' शब्द में ग्रीक शब्द क्रैशिया (शक्ति) का पूर्ण अर्थ सम्मिलित है।" (क्विग्ली और टर्नर) इस कथन की समीक्षा करिए।

८. जापान में भृत्य वर्ग के शक्तिशाली होने के कारणों पर प्रकाश डालिए।

राजनैतिक दल | ११

"Party is perhaps the most important influence upon the working of a Constitution. So important is it indeed that one is tempted to say that the Constitution is a mere skeleton; it is party which provides the flesh and blood, which gives to the body politic its life and individuality." *K. C. Wheare.*

"The parties created democracy, or perhaps more accurately, modern democracy is a by-product of party competition."
Jefferson.

प्रजातन्त्र राज्य में भी राजनैतिक दलों की उपयोगिता और आवश्यकता राजनीति शास्त्र का एक विवादग्रस्त विषय है। संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के निर्माणकर्त्ता जार्ज वाशिंगटन और जेम्स मैडिसन राजनैतिक दलों के उसी प्रकार विरुद्ध थे जिस प्रकार भारत के उग्र मानवतावादी स्वर्गीय श्री एम० एन० राय और सर्वोदय नेता श्री जयप्रकाश नारायण तथा आचार्य विनोवा भावे हैं। श्री जयप्रकाश नारायण ने अपने दलगत राजनीति से पृथक् होने का कारण बताते हुए लिखा है: "दल पद्धति ने उसमें निहित

शक्ति के ह्रासकारी और भ्रष्टकारी संघर्ष के सहित मुझे अधिक और अधिक विक्षुब्ध किया। मैंने देखा कि किस प्रकार वित्त, सङ्गठन और प्रचार साधनों द्वारा पृष्ठपोषित दल अपने को जनता पर आरोपित कर सकते थे। किस प्रकार लोक शासन वस्तुतः दल शासन हो गया; किस प्रकार दल शासन स्वयं एक प्रसम्मिलन या अंतरङ्ग मण्डली का शासन हो गया; किस प्रकार प्रजातन्त्र केवल मतदान में परिणत कर दिया गया; किस प्रकार यह मताधिकार भी शक्तिपूर्ण दलों द्वारा अपने अभ्यर्थियों को, केवल जिनमें से ही सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए मतदाता को चुनाव करना पड़ता था, खड़े करने की पद्धति ने कठोरता से प्रतिबन्धित कर दिया; किस प्रकार यह परिसीमित चुनाव स्वतन्त्रता भी निर्वाचकों के सम्मुख अधिकांश रूप में अबोध्य प्रश्नों के प्रस्तुत करने के तथ्य द्वारा अवास्तविक हो गयी। जैसा मैंने देखा, दल पद्धति जनता को शक्तिहीन बना रही थी। वह इस प्रकार कार्य न करती थी जिससे उसकी शक्ति और उपक्रम का विकास हो, न उसको स्वशासन स्थापित करने और अपने विषयों की स्वयं व्यवस्था करने में सहायता देती थी। दलों की चिन्ता का एकमात्र विषय अपने लिए शक्ति को ग्रहण करना और, निसन्देह जनता की सम्मति से, उसके ऊपर शासन करना था।"[1] आचार्य विनोबा भावे ने

[1] "The party system with the corroding and corrupting struggle for power inherent in it disturbed me more and more. I saw how parties backed by finance, organization and the means of propaganda could impose themselves on the people; how people's rule became in effect party rule; how party rule in turn became the rule of a caucus or coterie; how democracy was reduced to mere casting of votes; how even this right of vote was restricted severely by the system of powerful parties setting up their candidates from whom alone, for all practical purposes, the voters had to make their choice; how even this limited choice was made unreal by the fact that the issues posed before the electorate were by and large incomprehensible to it. The party system as I saw it was emasculating the people. It did not function so as to develop their strength and initiative, nor to help them establish their self-rule and to manage their affairs themse-

भी यह कहा है कि इससे देश की ताकत फूटती है, टूटती है। अतः पार्टी से उन्मुक्ति उतनी ही जरूरी है, जितनी कि जाति से।"[1] निसन्देह, दल पद्धति में बहुत से दोष दिखाई पड़ते हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि दलों के नेता साधारण विषयों पर संसद सदनों के बाहर या अन्दर सदस्यों की विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को अच्छा नहीं समझते। फलतः दल अपने सदस्यों की वैयिक्तकता को समाप्त कर देते हैं। सदस्यों को अपने नेता को प्रसन्न रखने के लिए अपनी इच्छा के विरुद्ध भी उसके दृष्टिकोण का समर्थन करना पड़ता है। स्वतन्त्र विचार-धारा वाले व्यक्तियों को दल की ओर से चुनाव लड़ने की स्वीकृति नहीं दी जाती। इसलिए अपने समर्थक वर्ग को शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य से योग्य, कर्मठ, और त्यागी पुरुषों के स्थान पर अयोग्य, भ्रष्ट, स्वार्थी मनुष्यों को चुनाव लड़ने की अनुमति दी जाती है। चुनाव के लिए आवश्यक धन प्राप्त करने के लिए सत्तारूढ़ दल भ्रष्टाचार फैलाता है और राज्य-साधनों को दल के हित में प्रयोग करता है। राजनीतिज्ञ प्रतिद्वन्दियों के मार्ग में बाधा डालते हैं। वे झूठे प्रचारों और गलत वक्तव्यों द्वारा जनमत को विकृत करते हैं। उनका दृष्टिकोण एकांगी होता है। वे अपनी प्रशंसा के गीत गाते हैं और विरोधियों के उचित सुझावों को सम्मान प्रश्न बनाकर उन्हें नहीं मानते। अपकथन उनका सामान्य दोष है। प्रत्येक प्रगतिवादी व्यक्ति पर साम्यवादी होने का लांछन लगाया जाता है। इसी प्रकार अति-कर विरोधी, देश प्रेमी और सभ्यता तथा संस्कृत के समर्थक को पूँजीवादी, सामन्तवादी, फासीवादी और साम्प्रदायिक कहा जाता है। पर-देशीय निष्ठा का आरोप तो एक साधारण बात बन गयी है। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि यदि किसी व्यक्ति को कुख्यात करना है तो उसे निर्वाचन के लिए खड़ा कर दे। उसके पूर्वजों तक की साधारण से साधारण बुराई का वृहद् चित्रण कर दिया जायेगा। उसके गुणों को भी दोषों में परिवर्तित कर

---

lves. All that the parties were concerned with was to capture power for themselves so as to rule *over* the people, no doubt, with the irconsent !"—*From Socialism to Sarvodaya*, PP. 34-35.

[1] लोकनीति (१९६१) पृष्ठ ६५ और २२८।

दिया जायेगा। इसलिए बहुत से योग्य और शान्ति प्रकृति के व्यक्ति राज-नीति से दूर रहना चाहते हैं। दल पद्धति व्यक्ति की राज्य निष्ठा को दुर्बल करती है और उसके सदस्य राष्ट्रहित के स्थान पर दल हित को अधिक महत्व प्रदान करने लगते हैं। दल हित के लिए राष्ट्र हित का बलिदान भी करते देखा जाता है। सत्तारूढ़ दल जनहित में कभी ऐसा कार्य न करना चाहेगा जो उसकी सत्तारूढ़ स्थिति को कुप्रभावित करे। दल पद्धति अधिनायकवाद की स्थापना भी सरल बनाती है। इससे स्थानीयता, प्रान्तीयता और सम्प्रदायिकता की वृद्धि होती है। दल चुनाव संघर्ष को तीव्र करते हैं और स्वाभाविक एकता को भङ्ग करके वैमनस्यता को बढ़ाते हैं।

इस प्रकार के छिद्रान्वेषण करके पुस्तकें लिखी जा सकती हैं पर यदि हम गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि इनमें अधिकांश दोष वास्तव में दल पद्धति के दोष नहीं हैं वरन् उनके सदस्यों के दोष हैं। इसमें से अधिकांश दोष भारत में दिखलाई पड़ते हैं पर क्या निर्दलीय सदस्य इन दोषों से मुक्त हैं? वह तो अधिक बृहद् रूप में स्थानीयता, प्रान्तीयता, साम्प्रदायिकता और वैमनस्यता का प्रचार करते हैं, भ्रष्टाचार फैलाते हैं कीचड़ उछालते हैं, अवसरवादिता दिखाते हैं और भले-बुरे सभी प्रकार के साधन प्रयोग करते हैं। उनके आचरण पर किसी प्रकार का नियंत्रण न होने के कारण वह निर्वाचन के पूर्व और पश्चात् दोनों समय इसी प्रकार के कार्यों में लगे रहते हैं। यद्यपि व्यवस्थापिका में उनसे अधिक स्वतंत्र विचाराभिव्यक्ति की आशा की जाती है पर वह कभी पूरी नहीं होती। ऐसे निर्दलीय सदस्य प्रायः पूँजीपतियों के, जो उन्हें निर्वाचन में सहायता देते हैं, प्रतिनिधि होते हैं। उनका दूसरे सदस्यों से सम्बन्ध यदि राजनैतिक, आर्थिक व सामाजिक सिद्धान्तों पर नहीं होता तो धर्म, भाषा, प्रदेश और रक्त सम्बन्ध या सौदे के आधार पर होगा। यदि अपवाद रूप में कोई सदस्य पूर्ण रूप से असम्बद्ध ही बना रहे तो उसका कोई विशेष प्रभाव नहीं होगा। जब से प्रजातंत्र स्थापित हुआ है उसी समय से व्यवस्थापिका सदस्य वर्ग और दलों में विभाजित होने लगे हैं। आज प्रत्येक

प्रजातंत्र देश में राजनैतिक दल हैं। देश की स्थिति के अनुसार उनके संगठन में अन्तर अवश्य हैं। कहीं पर राजनैतिक दल सुगठित है और कहीं पर शिथिल है। जिन देशों में राजनैतिक दल सुगठित है वहाँ गुटबन्दी नहीं या कम है। वहाँ दलों पर पूँजीवाद और सामन्तवाद का भी प्रभाव नहीं है। अन्य दोष भी अधिक दिखाई नहीं पड़ते। पर जिन देशों में राजनैतिक दलों का संगठन शिथिल है वहाँ गुटबन्दी, अवसरवादिता, अनिश्चितता, अस्थायित्व, पूँजीवाद का प्रभुत्व आदि दोष बृहद् रूप में दृष्टिगोचर होते हैं। इसी से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि राजनैतिक दल बिल्कुल ही न हों तो देश की राजनैतिक स्थिति कैसी होगी? प्रतिनिधित्व समस्या के एक विशेषज्ञ ने श्री एम० एन० राय और श्री जयप्रकाश नारायण के विचार पर अपना विचार बताते हुए लिखा है: "मेरा विश्वास है कि आज जे० पी० ने और कल एम० एन० राय ने प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र की अपनी अपीलों से जनता को पथ-विमुख किया। जैसा मैं उसे देखता हूँ, कोई यदि अनुत्तरदायी (अर्थात् राजनैतिक रूप से अनुत्तरदायी) धनिकतंत्रों या गुट नेताओं को आधिपत्य स्थापित करने की स्वीकृत देने को तैयार नहीं हैं तो दल और दलों से सम्बन्धित प्रतिनिधि अनिवार्य हैं।[1] प्रो० विलियम रिकर ने राजनैतिक दलों की आवश्यकता को सिद्ध करते हुए अपनी पुस्तक डेमोक्रेसी इन दि यूनाइटेड स्टेट्स में लिखा है कि, "रूसो, अधिक प्रजातंत्रीय प्रथा के अनुसरण किए जाने के पूर्व लिखता हुआ और प्रतिनिधियों की समस्या का पूर्वज्ञान करता हुआ, एक प्रजातन्त्रात्मक प्रतिनिधि सरकार की कल्पना करने में असफल था। वह सोचता था कि प्रतिनिधि निश्चय ही निर्वाचित अधिनायक होंगे और, अनेक बार उद्धृत शब्दों में इंगलैण्ड के बारे में कहा, "......यह केवल संसद के सदस्यों के निर्वाचन

[1] "I believe that J. P. today and M. N. Roy yesterday led people astray with their appeals to "direct democracy." Parties, and representatives linked to parties, are essential, as I see it, unless one is prepared to permit irresponsible (i.e. politically is responsible) oligarchies or cliques of leaders, to hold sway. *Prof. Richard L. Park in a letter to the author.*

समय में स्वतंत्र है।" यदि दल संगठन उतना ही अविकसित रहा होता जितना कि वह उसके समय था—जब बर्क ब्रिस्टल के निर्वाचकों को अपने अनुत्तरदायी होने के मन्तव्य को घोषित कर सका—रूसो का दावा आज भी सत्य हुआ होता।"[1]

प्रत्येक आधुनिक प्रजातंत्र राज्य में जनमत संगठित करने का मुख्य राजनैतिक साधन दल है। राजनैतिक दल आधुनिक काल की ही उपज नहीं है। वह प्राचीन ग्रीस में पर्वती, मैदानी और एटिका समुद्रतटी दलों, रोम में अभिजात और अन्त्यज दलों, मध्यकाल में फ्रांस में गुएल्फ (Guelphs), घिबेलाइंस (Ghibellines), कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट दलों और इङ्गलैंड में अश्वारोही और वृत्त-शीर्ष दलों के रूप में विद्यमान थे। पर उनको दल कहना उचित नहीं प्रतीत होता। वह तो वास्तव में द्वैध (factions) थे। वे एक नेता की नीति और सिद्धान्तों के समर्थक थे। उनका कोई स्थायी संगठन नहीं था। उनका दलों के रूप में विकास प्रजातन्त्रवाद के विकास के साथ उत्तरोत्तर उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। प्राचीन और मध्यकाल में वास्तविक प्रजातंत्र ही न थे। कथाकथित प्रजातंत्र राज्य मूलतः धनिकतंत्र थे। वे वर्ग हितों में विभाजित थे और प्रजातंत्र के संघर्ष में दलीय वर्ग विभाजनों से ही धनिकतन्त्रों के गढ़ों पर आक्रमण करने के उद्देश्य से उत्पन्न हुए थे। प्रजातन्त्र की सफलता होने पर वर्ग और दल आत्मसात हो गये। शनैः-शनैः यह कहना कठिन हो गया कि कौन-सा दल किस वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। इस प्रकार वे दल 'एक दल एक नीति' का

---

[1] "Rousseau, writing before much democratic practice could be observed, and foreseeing the problem of representatives, was anable to conceive of a democratic, representative government. He thought representatives would necessarily be elected despots and, in words so often quoted, said of England, "...............it is free only during the election of members of Parliament." Had the party system remained as rudimentary as it was in his day—when Burke could announce to the electors of Bristol his intention to be irresponsible—Rousseau's assertion would still be true today". William H. Ricker: *Democracy in the United States*, 1960. P. 93.

समर्थन करने, अपने पक्ष में जनमत उत्पन्न करने और निर्वाचनों में संवैधानिक प्रयत्नों द्वारा सफलता प्राप्त करने के लिए संघर्ष करने हेतु संगठित संघ बन गये। फिर भी डेविड ह्यूम, रूसो और संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान निर्माता इनको द्वैध (faction) ही कहते रहे।

द्वैध और दल के अन्तर के सम्बन्ध में विद्वानों में अब भी मतभेद है। एक अमरीकी विद्वान ने लिखा है, "समग्र रूप में द्वैध निम्न गरिमा और लघुतर आकार के संगठन के लिए अधिक उपयुक्त शब्द प्रतीत होता है, और द्वैधों और छोटे दलों के मध्य की सीमा तर्क की अपेक्षा सुविधा द्वारा विनिश्चित की जाती है......फिर भी यह स्पष्ट नहीं है कि उनके मध्य कोई सारभूत अन्तर है। अधिक तार्किकता से एक द्वैध को अधिक बड़े एकक के किसी संघटक समूह, जो विशेष व्यक्तियों या नीतियों के अग्रसरण के लिए कार्य करता है, के रूप में परिभाषित किया गया है। यह संकेत करता है कि जिस प्रकार दल राज्यों के भाग हैं, द्वैध दलों के भाग हैं।"[1] अमेरिका के एक दूसरे विद्वान का मत इससे पूर्णतः भिन्न है। उसने यह लिखा है कि यद्यपि दल शब्द ऐसे संगठनों के लिए अब भी प्रयोग किया जाता है जिसमें राजनैतिक दलों के मान्य लक्षण नहीं पाये जाते और जिन्हें अब भी द्वैध कहना उचित होगा। ऐसे संगठन लैटिन अमेरिका के विभिन्न गणतन्त्रों में पाये जाते हैं जो किसी नेता के अनुगामी पदेच्छु व्यक्तियों के समूह हैं और असंवैधानिक साधनों द्वारा शक्ति ग्रहण करना

---

[1] "On the whole, faction seems to be a word more appropriate for an organization of inferior dignity as well as smaller size; and the boundry between factions and minor parties is one to be determined by convenience rather than by logic". "It is not clear. however, that there is any essential difference between them..............More logically a faction has been defined as "any censtituent group of a larger unit which works for the advancement of particular persons or policies." This suggests that factions are divisions of parties, as parties are divisions of states." A. N. Holcombe—'*Political Parties*' in *Encyclopaedia of Social Sciences* Vol. XI p. 590.

चाहते हैं। "पर द्वैध और दल के मध्य का अन्तर धनिकतन्त्र और प्रजातन्त्र के मध्य के अन्तर के समान महत्व का है।"[1]

द्वैध और दलों का अन्तर स्पष्ट है। राजनैतिक दल एक वस्तु हैं और द्वैध दूसरी। राजनैतिक दल स्वतन्त्र और प्रतियोगात्मक निर्वाचनों में राजनैतिक शक्ति की विजय के लिए ऐच्छिक और स्थायी संगठन हैं। राजनैतिक दलों के साथ द्वैध एक सामान्य लक्षण रखते हैं: दोनों राजनैतिक शक्ति के लिए संघर्ष करते हैं। दूसरे सभी पक्षों में वे एक चौड़ी खाई से पृथक् हैं। द्वैध विशेष-कर ऐच्छिक नहीं होते हैं। आधुनिक राजनैतिक दल स्वतन्त्र सदस्यता पर आधारित हैं। निर्वाचन में सफलता प्राप्त करने के लिए वह प्रत्येक व्यक्ति को, विरोधी दलों के सदस्यों को भी, अपने संगठन में सम्मिलित होने के लिये आमन्त्रित करते हैं। द्वैध यह नहीं करते। द्वैधों को, उनके स्वतन्त्र सदस्यता पर आधारित न होने के कारण, शारीरिक हिंसा का सहारा लेने की भी आवश्यकता होती है। विभिन्न द्वैधों में शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की सम्भावना कम होती है। इसी कारण से गुट अगुप्त और खुले हुए संगठन स्थापित नहीं रखते। उनके सदस्यों की एकता षड्यन्त्रपूर्ण होती है और वे अपने नेताओं के अनेक अनुत्तरदायी कार्यों में योग देते हैं। वे षड्यंत्र द्वारा वैधानिक सभाओं के कार्यों को निदेशित, नियंत्रित और उनका प्रतिकार करने की योजना बनाते हैं। सभाओं की बैठकों को वह दूसरों की उपस्थिति या उनकी विचार अभिव्यक्ति में बाधा डाल कर अपने अनुगामियों द्वारा भरने का प्रयत्न करते हैं। राजनैतिक दल मुख्य रूप में सिद्धान्त पर आधारित होते हैं जब कि द्वैध नेताओं के चारों ओर संगठित होते हैं। इस कारण दलों की सदस्यता में स्थायित्व होता है जब कि द्वैधों में नेताओं और उनके साथ अनुगामियों में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। राजनैतिक दलों की आन्तरिक एकता किसी नीति के संवर्द्धन के उद्देश्य के कारण रहती है पर द्वैधों की आन्तरिक एकता नेताओं और उनके अनुगामियों

---

[1] "But the difference between faction and party is as important as the difference between oligarchy and democracy"—R. M. MacIver—*The Web of Government*, 1947, P. 212.

के निजी हितों के संवर्द्धन के उद्देश्य से होती है। द्वैध मूलवंश, प्रजाति तथा जाति आदि. पर भी आधारित होते हैं जब कि राजनैतिक दलों का संगठन आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक आधारों पर होता है।

राजनैतिक दल प्रजातन्त्र शासन के संचालन में अनेक आवश्यक कार्य करते हैं। प्रजातन्त्रीय संविधान राजनैतिक शक्ति को करोड़ों मतदाताओं के हाथ में निहित करते हैं। प्रजातन्त्र सरकार को इसलिए जनमत पर आधारित सरकार कहा जाता है। पर जनमत इतना परिवर्तनशील तथा विकरणशील होता है कि बिना संगठित हुए वह प्रभावशील नहीं हो सकता। उसे प्रभावपूर्ण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे कुछ मुख्य स्थायी समूहों में विभाजित किया जाय। यह कार्य राजनैतिक दल ही करते हैं। वह भ्रमात्मक विरोधी विचार-धाराओं को दूर करने के लिए समस्याओं को जनता के सामने प्रस्तुत करते हैं और विरोधी पक्षों के अन्तरों को स्पष्ट करते हैं। प्रत्येक दल अपना कार्य-क्रम बनाता है, अपने अभ्यर्थियों को चुनता है, उनको सहायता देता है और इस प्रकार राजनैतिक दल जनता को पर्याप्त रूप से स्पष्ट विकल्पों में चुनाव करने का अवसर प्रदान करते हैं। दलों के अभाव में जनता स्वार्थी धनिकतन्त्रों के भ्रमात्मक जाल में फँस जायेगी। दल नीति-सम्बन्धी विषयों पर प्रचार करते हुए जनता को प्रभावित करने के उद्देश्य से उसे शिक्षित करके जनमत को प्रबुद्ध बनाते हैं। इसी उद्देश्य से वह जनता की निष्क्रियता और आलस्य को दूर करके जनमत के विचार क्षेत्र का विस्तार करते हैं।

निर्वाचन द्वारा राजनैतिक दल सरकार द्वारा अनुसरण की जाने वाली नीति और उसको प्रवृत्त करने वाले व्यक्तियों को चुनने में सहायता ही नहीं देते हैं वरन् उनको चुनना भी सम्भव बनाते हैं। दलों के अभाव में जनता अपने कथित प्रतिनिधि चुन सकती है। पर इससे यह निश्चय न होगा कि सरकार किस नीति का अनुसरण करेगी और उस नीति को कौन प्रवृत्त करेगा। बिना दलों के जनता सरकार का नियंत्रण भी न कर सकेगी। यह दल पद्धति के ही यन्त्र हैं जो जनता के प्रति सरकार के उत्तरदायित्व का पोषण करते हैं।

इस प्रकार दल वह उपकरण है जो जनमत को जन नीति के रूप में प्रवृत्त कराते हैं।

दल जनता में फूट नहीं डालते हैं। जनता तो पहले से ही विकरित होती है। दल उसको संगठित करते हैं। निर्वाचन केवल प्रचार के बल से ही नहीं जीते जाते हैं। निर्वाचनों में सफलता प्राप्त करने के लिए संगठन की भी आवश्यकता होती है। मतदाता भी जानते हैं कि जब तक वह संगठित नहीं होते वह शक्तिहीन हैं। निर्वाचन पर प्रभाव डालने और अभ्यर्थी तथा नीति की सफलता प्राप्त करने हेतु वह संगठित होते हैं। एकता स्थापित करने की यह तत्कालीन आवश्यकता केवल सम्बन्धित अभ्यर्थी के निर्वाचन क्षेत्र तक ही परिसीमित होती है। पर देश की प्रमुख समस्याओं में एक निर्वाचन क्षेत्र और दूसरे निर्वाचन क्षेत्र में भेद नहीं होता। वांछित नीति की सफलता के लिए भी यह आवश्यक है कि उस नीति के समर्थकों का संसद में बहुमत हो। इसलिए कुछ समता वाली नीतियों के समर्थक व्यक्ति राष्ट्रव्यापी संगठन बना लेते हैं। निर्वाचन समय-समय पर होते रहते हैं और उनमें सफलता को सरल तथा निश्चय करने के लिए जनता से सतत् सम्बन्ध रखना आवश्यक होता है। इसी कारण दलों का संगठन स्थायी होता है। दलों के अभाव में विभिन्न क्षेत्रों, धर्मों, प्रजातियों, जातियों और आर्थिक हितों के व्यक्तियों में एकता स्थापित होना सम्भव नहीं प्रतीत होता।

राजनैतिक दल प्रजातन्त्रीय सरकार के उपकरण हैं। वह सरकार के यन्त्र का उपबन्ध करते हैं जिसमें एक ओर शासन करने योग्य बहुमत दल और उसकी आलोचना करने वाला विरोधी दल होता है और दूसरी ओर सरकार के प्रवर्तन के लिए आवश्यक कर्मचारी होते हैं। संसदात्मक कार्यपालिका वाले देशों में राजनैतिक दल योग्य मन्त्रियों की नियुक्ति और उनको पदों पर बने रहने में, और अध्यक्षात्मक कार्यपालिका वाले देशों में वह योग्य अध्यक्ष का निर्वाचन करने में और सरकार के विभिन्न अंगों में सामञ्जस्य स्थापित करने में आवश्यक योग देते हैं। दलों के अभाव में योग्य प्रतिनिधि सरकार का बनना और उसके द्वारा शासन चलाना दोनों ही असम्भव होंगे। प्रोफेसर फाइनर ने

अपनी पुस्तक 'दि थ्योरी एन्ड प्रैक्टिस आफ माडर्न गवर्नमेंट' (The Theory and Practice of Modern Govrnement, 1956) के तेरहवें अध्याय का शीर्षक 'प्रतिनिधि शासन दल शासन है' (Representative Government is Party Government) लिखा है और वह बड़ा आशयपूर्ण है। दलों के अभाव में बना शासन या तो प्रतिनिध न होगा और यदि वह प्रतिनिध होगा तो शासन (अर्थात् शासन करने में समर्थ) न होगा।

प्रजातन्त्र शासन के सफल संचालन के लिए जनता में मूलभूत विचार-एकता और उसकी मान्यताओं में आधार-समता होना आवश्यक है। राजनैतिक दल इस विचार एकता और समता को स्थापित करते हैं। यह कुछ विरोधाभास पूर्ण कथन प्रतीत होगा। यद्यपि राजनैतिक दल प्रायः जीतने वाले प्रश्नों पर ही प्रचार करने में अपनी शक्ति लगाते हैं और ऐसी स्थिति में वह वस्तुएँ विवाद का विषय बना दी जाती है जिन्हें वास्तव में नहीं बनाना चाहिए। दल विरोधी पक्ष का अधिक से अधिक दोषपूर्ण चित्र प्रस्तुत करके उसके विरुद्ध जनता में आवेश उत्पन्न करते हैं। फिर भी वह मूल विषयों पर एकता भी उत्पन्न करते हैं। सभी राजनैतिक दल एक ही जनता में प्रचार करते हैं इसलिए कोई दल न तो उसकी प्रमुख मान्यताओं के विरुद्ध जा सकता है और न उसके किसी वर्ग की ही उपेक्षा कर सकता है। इसलिए पूँजीवादी दल श्रमिकों को, समाजवादी वर्ग पूँजीवादी वर्ग को तथा एक सम्प्रदाय का दल विरोधी सम्प्रदाय के व्यक्ति को नीतिवश अपने दल और कार्यक्रम में स्थान देता है और कोई दल किसी वर्ग की पूर्ण उपेक्षा नहीं कर पाता। इस प्रकार राजनैतिक दल अन्तर्दलीय और अन्तरदलीय दोनों ही प्रकार की एकता स्थापित करते हैं।

प्रजातन्त्र की सफलता हेतु राजनैतिक दलों के द्वारा किये जाने वाले उपरोक्त आवश्यक कार्य प्रजातन्त्र शासन में राजनैतिक दलों के स्थान के महत्व को स्पष्ट करते हैं। प्रोफेसर व्हेयर के अनुसार "एक संविधान की क्रिया प्रणाली पर सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव सम्भवतः दल है। यह वास्तव में इतना महत्वपूर्ण है कि एक व्यक्ति यह कहने को प्रेरित हो जाता है कि संविधान केवल

अस्थि-पञ्जर है। यह दल है जो मांस और रक्त उपवन्धित करता है, जो राज्य संस्था को उसका जीवन और वैयक्तिता देता है।"[1]

प्रोफेसर व्हेयर का उपरोक्त मत अनुचित या अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं है। साधारण रूप में राजनैतिक दल-पद्धति तीन प्रकार की होती है, प्रथम, एक दल पद्धति जो रूस में कार्य करती है; द्वितीय, द्विदल पद्धति जो संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन में पायी जाती है; और तृतीय, बहुदल पद्धति जो स्विटजरलैंड, फ्रान्स, आस्ट्रेलिया और पश्चिमी यूरुप के अन्य प्रजातन्त्र राज्यों में पायी जाती है। एक दल पद्धति को अधिनायक-वाद का यन्त्र माना जाता है। जिन देशों में मुख्य दो दल ही शक्ति के लिये संघर्ष करने वाले होते हैं उनमें मन्त्रि-मंडल एक दल के सदस्यों का होता है। इस कारण मन्त्रिपरिषद् में एकता होती है। साथ ही संसद उसे बार-बार परिवर्तित नहीं करती है। इस कारण द्विदल प्रणाली वाले देशों में मन्त्रिमंडल अधिक स्थायी, दृढ़ स्थिति वाले तथा अधिक शक्तिशाली होते हैं। इस पद्धति को सुविधाजनक तो माना जाता है पर उसे मतों की विभिन्नता तथा विश्वास की तीव्रता वाले जनमत की अभिव्यक्ति की कुशल पद्धति नहीं कहा जाता है। बहुदल पद्धति से संयुक्त मन्त्रिमंडल बनते हैं। इससे सरकार की नम्यता बढ़ जाती है, क्योंकि मन्त्रिमंडल बिना नये निर्वाचन के ही भंग और पुनः संगठित किया जा सकता है। इसे विचार-विमर्श के लिए भी अधिक अनुकूल कहा जाता है, क्योंकि सम्मिलित समूहों में चिन्तन का अवसर अधिक होता है। इसे जनमत के प्रति अधिक संवेदनशील भी कहा जाता है, क्योंकि सम्मिलित समूह कार्य करने में अधिक स्वतन्त्र माने जाते हैं। फ्रान्स के तृतीय गणतन्त्र की सरकार की कार्य-प्रणाली की सफलता के आधार पर द्वितीय महायुद्ध के पूर्व कुछ विद्वान बहुदल प्रणाली को इङ्गलैंड की द्विदल-प्रणाली से अधिक अच्छा मानते थे।[2] पर अब वह मत उचित प्रतीत

---

[1] Modern Constitutions (1952) P. 110. अंग्रेजी पाठ हेतु अध्याय का प्रारम्भिक उद्धरण देखिए।

[2] Holcombe, A. N. '*Political Parties*' in *Encyclopaedia of Social Sciences* Vol. XI P. 592.

नहीं होता है। बहुदल-प्रणाली की संयुक्त सरकार कम सम्मान वाली होती है, क्योंकि उनके संगठन तथा कार्य सीधे जनता से शासनादेशित न होकर विभिन्न संसदीय समूहों से शासनादेशित होते हैं। वह अस्थायी होती है। वह कम शक्तिशाली होती है। उसमें एकता तथा शासन की क्षमता भी कम होती है।

प्रोफेसर विलियम एच० रिकर (William H. Riker) ने शासन की क्षमता रखने वाली उत्तरदायी सरकार के संगठन के लिए दल पद्धति में तीन आवश्यकताएँ मानी हैं। 'प्रथम, दलों को बहुमत का निर्माण करना चाहिए'। 'द्वितीय, दलों को बहुमत अर्थपूर्ण बनाना चाहिये'। इसके लिए यह आवश्यक है कि दल सिद्धान्तों पर आधारित हों। 'तृतीय, दलों को बहुमत प्रभावपूर्ण बनाना चाहिये'। उनका विचार है कि 'बहुमत बनाने के लिए सोची गयी अनेक पद्धतियों में द्विदलीय-पद्धति से कोई अधिक प्रभावपूर्ण नहीं है।'[1] प्रोफेसर फर्डीनैण्ड ए० हरमेन्स ने तो बहुदलीय प्रथा को प्रजातन्त्र स्थापक होने की अपेक्षा अराजकताजनक माना है।[2]

जापान में राजनैतिक दलों का विकास

सच्चे अर्थों में जापान के राजनैतिक दल सौ वर्ष प्राचीन भी नहीं है। सन् १८८१ के पूर्व जापान में कोई राजनैतिक दल नहीं था। सम्भवतः जापान-वासी राजनैतिक दल ऐसे किसी संगठन से परिचित भी नहीं थे। इसी कारण जापान की भाषा में भी राजनैतिक दल का समानार्थी कोई शब्द तक नहीं था। समूह, गिरोह और गुट के समान अर्थ वाले शब्द अवश्य थे पर ऐसे संगठन देश हित के विरोधी समझे जाने के कारण अधिकारियों द्वारा निषिद्ध

---

[1] *Democracy in the United States* (1944) PP. 108-113.

[2] प्रो० हरमेन्स की तीन पुस्तकें (1) Europe Between Democracy and Anarchy, (2) Democracy or Anarchy और (3) The Representative Republic इसी दृष्टिकोण पर आधारित हैं।

थे। जापान के इतिहास में इस प्रकार के समुदायों का वर्णन सन् ५५२ ईसा पूर्व से मिलता है। पर निरंकुश शासन के कारण उनका विकास राजनैतिक दलों में नहीं हो सका।

मेइजी पुनर्स्थापन के पश्चात् जापान का जो पाश्चात्यीकरण प्रारम्भ हुआ उससे जापान के राजनैतिक जीवन में कुछ चहल-पहल प्रारम्भ हुई। इसी बीच सन् १८७३ में कोरिया के प्रश्न पर जापान के नेताओं में फूट पड़ गई। एक वर्ग उसके प्रति उदार नीति अपनाने के पक्ष में था। वह उससे संघर्ष करने का विरोध करता था और अपनी शक्ति को राष्ट्र के विकास-कार्य में प्रयोग करके उसकी उन्नति का समर्थन करता था। इसके विरुद्ध दूसरा वर्ग उसके विरुद्ध कठोर नीति अपनाने पर बल देता था। वह उसके विरुद्ध शक्ति प्रयोग करने की भी राय देता था। उदार नीति के समर्थकों की संख्या अधिक थी और सरकार पर उनका प्रभाव था। इस कारण सरकार ने बातचीत और समझौते की नीति अपनायी। कठोर नीति के समर्थकों ने सरकार से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करा लिया। उन्होंने सन् १८७४ और १८७५ में कई विद्रोह किए। पर सरकार ने उसको सरलतापूर्वक दबा दिया। उदारनीति के समर्थकों ने जनमत का समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से सन् १८७४ में देशभक्त-लोक-दल (Patriotic Public Party) की स्थापना की। इस दल ने सरकार को एक ज्ञापन भेजकर उससे लोकप्रिय प्रतिनिधि सभा स्थापित करने का अनुरोध किया। सरकार ज्ञापन पर बहुत ही क्रोधित हुई और परिणामस्वरूप देशभक्त-लोक-दल अवैध घोषित कर दिया गया। पर उसके नेताओं ने प्रजातांत्रिक आन्दोलन जारी रक्खा। सन् १८७८ में दल को पुनः संगठित किया गया। सरकार ने दल द्वारा संचालित आन्दोलन का दमन करने में असफल होकर १२ अक्टूबर सन् १८८१ में एक राष्ट्रीय सभा स्थापित करने के लिए घोषणा की। इस घोषणा के फलस्वरूप सारे देश में राष्ट्रीय सभा में बहुमत प्राप्त करने के उद्देश्य से राजनैतिक संगठनों को स्थापित करने के लिए प्रयत्न किए जाने लगे और घोषणा के केवल ६ दिन पश्चात् इतागाकी तैसुके (Itagaki Taisuke) के नेतृत्व जापान के प्रथम राजनैतिक दल, उदार-दल, (Liberal

Party) की स्थापना हुई। दूसरे वर्ष १४ मार्च, सन् १८८२ को ओकुमा शिगेनोबु (Okuma Shigenobu) नामक व्यक्ति ने, जो बाद में सन् १८९८ में जापान का प्रधान मंत्री हुआ, सुधार-दल (Reform Party) की स्थापना की। सरकारी कर्मचारियों और प्रतिक्रियावादी एवं अनुदार तत्वों ने इन सुधारवादी दलों को सन्तुलित करने के लिए चार दिन बाद १८ मार्च को सम्राटीय दल की स्थापना की। सरकार के दमन और आन्तरिक फूट के कारण सन् १८८४ में उदार-दल तथा सम्राटीय दल उनके नेताओं द्वारा विघटित कर दिए गये। सुधार-दल भी योग्य नेताओं के अभाव में शक्तिहीन हो गया। ऐसी स्थिति में सन् १८८७ में विभिन्न सुधारवादी तत्वों ने गोतो के नेतृत्व में महा-संयुक्त-दल (Great Coalition Party) की स्थापना की। इतागाकी, ओकुमा और गोतो ने स्वयं शक्ति ग्रहण करने के उद्देश्य से इस संयुक्त दल का संगठन किया था। अतः जैसे ही वह मन्त्रि-मंडल में सम्मिलित कर लिए गये, उन्होंने दलों का त्याग कर दिया। इस प्रकार सन् १८९० में प्रथम महानिर्वाचन के समय जापान कोई भी सुगठित राजनैतिक दल नहीं था।

महानिर्वाचन के पश्चात् विभिन्न दलों के नेताओं ने संवैधानिक-उदार-दल (Constitutional Liberal Party) की स्थापना की और सन् १८९१ में दल के राष्ट्रीय सम्मेलन में इतागाकी इसका अध्यक्ष निर्वाचित हुआ। संसद में विरोधी दलों के सदस्यों की संख्या अधिक थी। सरकार ने उनके विभिन्न नेताओं को मंत्रिमंडल में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया। पर उसे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं हुई। विरोधी दलों का प्रभाव कम करने के लिए सरकार ने तीन बार एक के बाद दूसरा महानिर्वाचन कराया। सन् १८९८ में सुधार तथा उदार दलों के नेताओं ने मिल कर संविधान दल (Kenseito) की स्थापना की। प्रतिनिधि सभा में सरकार के समर्थक सदस्यों की संख्या अब भी कम थी। इसलिए हिरोबुमी इतो ने ३० जून सन् १८९८ को केवल ६ माह १८ दिन के कार्यकाल के पश्चात् प्रधानमन्त्री के पद से त्याग-पत्र दे दिया और जापान के इतिहास में प्रथम बार एक विरोधी दल ने शिगेनोबु

ओकुमा के प्रधान मन्त्रित्व में मन्त्रि-परिषद् का संगठन किया। पर शीघ्र ही संविधान दल में फूट पड़ गयी और ओकुमा को चार मास की कार्यावधि के उपरान्त अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ा। इससे संविधान दल विघटित हो गया और पुनः सुधार तथा उदार दो पृथक् दल स्थापित हो गये।

इतागाकी और ओकुमा दोनों के ही दल सरकार के चोशु और सात्सुमा गोत्रों द्वारा नियंत्रण के विरुद्ध संघर्ष करने के साधन के रूप में संगठित किए गये थे। दोनों ही नेता सरकार को कम से कम अर्द्ध-जनतांत्रिक बनाना चाहते थे। पर दीर्घ काल तक दोनों के ही दल अपने नेताओं के अनुगामियों के संघ मात्र बने रहे और उनकी आन्तरिक एकता लोक-नीतियों के प्रति सामान्य दृष्टिकोण के स्थान पर उनके नेताओं के व्यक्तित्व पर आधारित रही। इतागाकी का उदार दल और ओकुमा का सुधार दल दोनों सामान्य उद्देश्यों—संविधान और एक प्रतिनिधि सरकार की स्थापना तथा गोत्र नियंत्रण का उन्मूलन—के लिए स्थापित कहे जाते थे। फिर भी दोनों में सन् १८९८ तक एकता स्थापित नहीं हो सकी और उस वर्ष स्थापित एकता भी अधिक समय तक स्थायी न रह सकी। इस पृथकत्व का कारण भी यही था कि दोनों दल आधिपत्यपूर्ण नेताओं के व्यक्तित्व पर आधारित द्वैध थे।

जब राजनैतिक दलों और भूतपूर्व सामन्तवादी धनिक वर्ग में शक्ति के लिए खींचा-तानी चल रही थी, जापान में सैनिक-वर्ग राजनीति में प्रविष्ट हुआ और उसने शनैः-शनैः उस पर अधिकार कर लिया। इस सैनिक वर्ग का नेता राजकुमार यातागामा था। जापान की नीति में सैनिक वर्ग का प्रवेश सरकार की गोत्र पद्धति का ही विकास था। पुनर्स्थापन के पश्चात् जब सेना का पुनर्संगठन किया गया तो सबसे अधिक शक्तिशाली चोशु और सात्सुमा गोत्रों ने क्रमशः स्थल सेना और नौसेना के सर्वोच्च पदों पर अधिकार कर लिया था। स्थल सेना का राष्ट्रीय संगठन चोशु गोत्र के यातागामा द्वारा किया गया था इसलिए उसके सभी अधिकारियों ने उसकी ही अनुकम्पा से उच्च पदों को प्राप्त किया था और वे उसी को अपना नेता मानते थे। यातागामा एक सैनिक व्यक्ति के साथ-ही-साथ एक राजनीतिज्ञ भी था। उसने कोरिया के प्रश्न पर चीन के

साथ होने वाले संघर्ष के समय अंतरंग-परिषद (Privy Council) द्वारा अध्यादेश जारी करा दिया कि युद्ध और नौसेना मन्त्री सदैव स्थल और नौसेना के सक्रिय उच्चाधिकारियों से ही चुना जाना चाहिए। इसके परिणाम-स्वरूप चोशु और सात्सुमा गोत्र के सैनिक-व्यक्तियों, विशेषकर यातागामा को, मंत्रिपरिषद-संगठन पर वास्तविक निषेधाधिकार प्राप्त हो गया। जापान की राजनीति पर इस समय यातागामा का प्रभाव इतना अधिक बढ़ गया कि १७ नवम्बर सन् १८९८ को ओकुमा द्वारा प्रधानमन्त्री के पद से त्याग-पत्र देने पर वही प्रधानमन्त्री नियुक्त हुआ।

सन् १९०० में हिरोबुमी इतो ने स्वयं अपनी अध्यक्षता में राजनैतिक मित्र-संघ (Seiyukai) की स्थापना की। यह दल संसद में सर्वाधिक शक्तिशाली था, इसलिए वह प्रधानमन्त्री नियुक्त हुआ। पर उसे दल तथा अभिजात सदन के यामागाता द्वारा उकसाये दबाव से शीघ्र ही पद छोड़ना पड़ा और उसके स्थान पर चोशु वंश का जनरल कात्सुरा तैरो प्रधानमन्त्री हुआ। यद्यपि इस बीच में ओकुमा ने सुधार दल का 'यथार्थ वैधानिक दल' के नाम से पुनर्संगठन किया पर वह अपना प्रभाव स्थापित न कर सका। कुछ समय पश्चात् उसने पुनः उसे सुधार दल के नाम से पुर्नसंगठित किया, पर पहले के समान कोई परिणाम न निकला। सन् १९०१ और १९१३ के मध्य प्रधानमन्त्री पद जनरल कात्सुरा और राजनैतिक मित्रसंघ के नये नेता सैओनजी के मध्य ही परिवर्तित होता रहा। दोनों को ही राजनैतिक मित्रसंघ का ही बल मिलता रहा और मंत्रि-परिषदों के पाँच परिवर्तनों का कारण केवल उसके नेताओं की द्वैधता ही थी। सन् १९१० में सुधार दल ने अपने नेता इनुकाई के नेतृत्व में अपना पुनर्संगठन राष्ट्रवादी दल (Kokuminto—Nationalist Party) के नाम से किया। इससे उसके बहुत से सदस्य कात्सुरा के संघवादी दल (Doshikai–Unionist Party) से मिल गये। पर राजनैतिक मित्रसंघ ने उसका विरोध किया और कात्सुरा को प्रधानमन्त्री-पद छोड़ना पड़ा। उसके स्थान पर सन् १९१३ में सात्सुमा गोत्र का एडमाइरल यामामोतो प्रधानमन्त्री हुआ। राज-नैतिक मित्रसंघ ने यामामोतो का समर्थन किया, जिससे उसके कुछ नेताओं और

करना चाहता था। विदेशी क्षेत्र में यह शक्तिपूर्ण साम्राज्यवाद का समर्थक था। दोनों दलों पर सैनिक और भृत्य वर्ग का भी प्रभाव था।

सन् १९२१ में हारा की हत्या कर दी गयी और उसके स्थान पर विस्काउन्ट ताकाहाशी प्रधानमंत्री हुआ। पर मंत्रिमंडल के पुनर्गठन के प्रश्न पर राजनैतिक-मित्र-संघ में फूट पड़ गयी। इसके फलस्वरूप असन्तुष्ट वर्ग ने सेइयुहोन्तो नामक एक नये दल की स्थापना की; जिसने संवैधानिक संघ से मिल कर मंत्रीमंडल के विरुद्ध अविश्वास-प्रस्ताव पास कर दिया। ताकाहाशी को पद त्याग करना पड़ा और संवैधानिक-संघ समर्थित एडमाइरल कातो प्रधानमंत्री हुआ। पर कुछ समय बाद उसकी मृत्यु हो जाने पर एडमाइरल यामामोतो प्रधानमंत्री हुआ, पर वह भी गुटबन्दी के कारण अधिक समय पद पर नहीं रह सका और उसके बाद विस्काउन्ट कियोउरी उस पद पर आया।

मई, १९२४ के निर्वाचनों में प्रतिनिधि सभा में संवैधानिक-संघ ने १५१, सेइयुहोन्तो ने ११६, और राजनैतिक-मित्र-संघ ने १०० स्थान प्राप्त किए। संवैधानिक संघ का नेता विस्काउन्ट कातो राजनैतिक मित्रसंघ की सहायता से प्रधानमंत्री हुआ। पर संयुक्त मंत्रिमंडल में शीघ्र ही फूट पड़ गयी और सन् १९२५ में कातो केवल संवैधानिक संघ को सहायता से प्रधानमंत्री हुआ। सन् १९२७ में अन्तरंग परिषद् द्वारा उसके एक विधेयक का विरोध होने पर उसे पद-त्याग करना पड़ा और सैनिक अधिकारी बैरन जनरल तनाका जो राजनैतिक मित्र संघ का नेता था प्रधानमंत्री हुआ। तनाका के दल का प्रतिनिधि-सभा में बहुमत नहीं था। अतः उस पर दबाव डालने के लिए सेइयुहोन्तो और संविधान संघ ने मिल कर लोक सरकार दल (Popular Government Party—Minseito) की स्थापना की और भृत्यवर्गीय नेता हामागुची ओसाची उसका प्रधान बना। तनाका ने उग्र उदार नेता इनुकाई त्सुयोशी को अपनी ओर मिला लिया और उग्र सैनिक तंत्री अनुदार और उग्र उदार नेताओं का यह गुट सन् १९२९ तक शासन करता रहा। इस बीच लोक सरकार दल की शक्ति बहुत बढ़ गयी और उसने कुछ स्वतंत्र सदस्यों को अपनी ओर मलाकर सन् १९२९ में तनाका मंत्रिमंडल को पदच्युत कर दिया। लोक

सरकार दल का नेता हामागुची नया प्रधानमंत्री हुआ। सन् १६३० के निर्वाचनों में उसके दल ने प्रतिनिधि सभा में २७३ स्थान भी प्राप्त कर लिये। पर साम्राज्यवाद का समर्थन करने वाले बहुत से उद्योगपति और सैनिकवादी उसके विरुद्ध थे। हामागुची के गोली मारदी गयी जो अप्रैल सन् १६३१ में मर गया। ऐसी स्थिति में राजनैतिक-मित्र-संघ का नेता इनुकाई त्सुयोशी प्रधानमंत्री बनाया गया। निर्वाचनों में उसके दल को ३०४ स्थान मिल गये पर मई १६३२ में उसकी भी हत्या कर दी गयी। इस प्रकार दलीय नेतृत्व का अन्त हो गया और सैनिक नेतृत्व की स्थापना हो गयी। मंचूरिया के युद्ध के फलस्वरूप उग्र राष्ट्रीयता का प्रारम्भ हुआ। दलो में फूट पड़ गयी। द्वितीय युद्ध प्रारम्भ हो जाने पर प्रधानमंत्री कोनोए ने राजनैतिक दलों से देश में एकता और दृढ़ता स्थापित करने के उद्देश्य से अपने को विघटित कर देने की प्रार्थना की। नेताओं की हत्याओं के कारण वह दुर्बल पहले ही हो गये थे। ऐसी स्थिति में सभी दल एक-एक कर विघटित हो गये। सन् १६४२ और सन् १६४५ में सरकार ने सार्वजनिक सहयोग की प्राप्ति के लिए सम्राटीय-शासन-सहायक राजनैतिक-सोसाइटी और जापान-राजनैतिक-संघ बनाए।

जापान में उद्योगों के विकास के कारण श्रमिक वर्ग द्वारा समय-समय पर विभिन्न नामों से समाजवादी दल भी स्थापित किये गये थे। पर मताधिकार धन सम्बन्धी योग्यता पर आधारित होने के कारण ये दल न शक्ति ही ग्रहण कर सके और न स्थायी ही हो सके। सन् १६२५ में वयस्क मताधिकार स्थापित होने पर श्रमिक-कृषक दल (Labour Farm Party) की स्थापना हुई और उसमें फूट पड़ जाने के कारण दूसरे वर्ष सामाजिक-जन-दल की स्थापना हुई। दो वर्ष पश्चात् उसके असन्तुष्ट वर्ग ने जापान जन-दल की स्थापना की। सन् १६३० में कुछ अन्य छोटे समूह इसमें मिल गये और इसका नाम सर्व-जापान-दल रखा। जनता की राष्ट्रीय भावना के कारण ये दल कभी सशक्त न हो सके और सन् १६३६ के निर्वाचनों में भी इन विभिन्न समाजवादी दलों ने कुल मिला कर १८ स्थान ही प्राप्तकर पाये थे।

उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जापान में राजनैतिक दल कभी भी वास्त-

विक राजनैतिक शक्ति न पा सके और इसके लिए न केवल संवैधानिक त्रुटियाँ वरन् उससे अधिक राजनैतिक दलों के आन्तरिक दोष उत्तरदायी थे। ये राजनैतिक दल वस्तुतः विभिन्न अवसरवादी नेताओं के व्यक्तिगत अनुयायियों के द्वैध थे।[1] उनकी स्वयं कोई स्थायी नीतियाँ न थीं। उनकी एकता पद-पुरस्कार (Spoils) पर आधारित होती थी और जिस नेता को इच्छित पद प्राप्त न होता था वह दूसरे दल में सम्मिलित हो जाता था। इसी प्रकार दूसरे दल के नेता पद देकर शासक दल में सम्मिलित कर लिए जाते थे। उनमें धनिकों और भृत्य वर्ग का बोलबाला था। इससे दलों और संसद दोनों का ही सम्मान चला गया। इससे नव युवक और विशेषकर सैनिक तत्वों में असन्तोष उत्पन्न हुआ और राजनैतिक दलों का संगठन नष्ट कर दिया गया।

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् के राजनैतिक दल

सन् १६४० में और उसके पश्चात् सम्राटीय-शासन-सहायक संघ और सम्राटीय-शासन-सहायक-राजनैतिक सोसाइटी के संगठन पर किये राजनीतिक दलों का उन्मूलन पूर्ण रूप से नहीं हो पाया था। उस समय से युद्ध-पश्चात् के प्रजातंत्र-स्थापन तक इतना भी समय न बीत पाया था कि युद्ध पूर्व के राजनैतिक संघों और सम्बन्धों को भी पूर्ण रूप से समाप्त किया जा सकता। इसलिए जब जापान की पराजय के पश्चात् मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च समादेशक द्वारा स्थापित सैनिक-अधिग्रहण द्वारा शासन का प्रजातंत्रीयकरण किया गया तो राजनैतिक-मित्र संघ और लोक-सरकार दल पुनः उदार (Liberal) और प्रगतिवादी (Progressive) दलों के भ्रमात्मक नामों से प्रकट हुए। इनके अतिरिक्त समाजवादी दल (Shakaito), साम्यवादी दल (Kyosanto) और कुछ अन्य छोटे-छोटे दल भी बने।

उदार दल का नेता हैतोयामा इचिरो था जो पहले राजनैतिक-मित्र संघ

[1] "We have factions in Japan, but no parties." Ozaki Yukio, quoted by Robert A. Scalapino and Junnosuke Masumi : *Parties and Politics in Contemporary Japan*, 1962, p. 18.

का एक नेता था । उसके समान ही उसके दल के अन्य नेता उदारता के स्थान पर जापान की राजनीति के अनुदार तथा भ्रष्ट पक्ष का प्रतिनिधित्व करते थे। न केवल नीतियों में वरन् सदस्यता और युक्तियों में भी उदार दल राजनैतिक मित्र संघ की विशेषताएँ रखता था। सैनिक अधिग्रहण द्वारा प्रारम्भ किए निष्कासनों (purges) से राजनैतिक-मित्र संघ के सदस्य ही प्रभावित हुए और स्वयं हैतोयामा को भी इस पद से हटना पड़ा । उसके स्थान पर योशीदा उदार दल का अध्यक्ष बना । पर अप्रैल सन् १६४७ के निर्वाचनों में उदार दल ने उन्हीं सब स्थानों में विजय पायी जहाँ राजनैतिक-मित्र संघ इसके पूर्व सफलता पाया करता था । इन निर्वाचनों के पूर्व राजनैतिक सत्ता हस्तगत करने के उद्देश्य से राजनैतिक दलों की चहल-पहल बढ़ गयी थी । मार्च में सहयोगी दल (Kyodoto) और लोक दल (Kokuminto) ने एक होकर लोक-सहयोगी दल (Kokumin Kyodoto) की स्थापना की थी। निष्कासन से प्रगतिवादी दल भी प्रभावित हुआ था और उसके दूषित तत्व कम कर दिए गये थे। मार्च में उदार दल के अशीदा गुट ने प्रगतिवादी दल से मिलकर प्रजातंत्रीय दल (Minshuto) की स्थापना की थी। लोक सरकार दल की नगरी पृष्ठभूमि के कारण समाजवादी और लोक सहयोगी दलों ने पारस्परिक सम्बन्ध बढ़ाया। निर्वाचनों में प्रतिनिधि-सभा में उदार दल ने १३१, समाजवादियों ने १४३, प्रजातंत्रीय दल ने १२४, लोक-सहयोगी दल ने ३१ और साम्यवादियों ने ४ तथा छोटे दलों तथा निर्दलीय सदस्यों ने ३३ स्थान प्राप्त किए । इसके फलस्वरूप समाजवादियों का नेता कातायामा प्रजातंत्रीय-दल तथा लोक-सहयोगी दल के समर्थन से प्रधानमंत्री हुआ। असन्तुष्ट शिदेहारा गुट नवम्बर मास में प्रजातंत्रीय दल से पृथक् हो गया और उसने उदार दल से मिलकर उदार प्रजातंत्रीय दल की स्थापना करायी। फरवरी सन् '४८ में कातायामा ने पद-त्याग कर दिया और प्रजातंत्रीय दल का नेता अशीदा हितोशी प्रधान मंत्री हुआ । मार्च में राष्ट्रीय कृषक संघ समाजवादी दल से पृथक् हो गया और उसने समाज-उत्थान दल (Shaki Kakyshinto) की स्थापना की । अक्टूबर में भ्रष्टाचारों और शपथ भंग के आरोप पर संसद

द्वारा अशीदा मंत्रिमंडल को पदच्युत कर दिया गया। योशीदा प्रधानमंत्री हुआ और उसके नये उदार-प्रजातंत्रीय दल ने जनवरी सन् १९४९ में भारी विजय प्राप्त की। कुल ४६६ स्थानों में उसे २६४ स्थान, प्रजातान्त्रिक दल को ६९, समाजवादियों को ४८, साम्यवादियों को ३५, लोक सहयोगी दल को १४, नये उदार दल को २ और छोटे दलों और निर्दलीय लोगों को ३४ स्थान मिले। निर्वाचन के समय योशीदा सरकार पर लगे भ्रष्टाचार सम्बन्धी आरोपों की जाँच हो रही थी पर जापान के राजनैतिक जीवन में ऐसे आक्षेपों का विशेष महत्व न था। प्रत्येक दल निर्वाचन के लिए सरकारी ठेकेदारों, उद्योगपतियों व व्यापारियों से धन लेता था। इसलिए उनका निर्वाचन परिणामों पर कोई हानिकर प्रभाव नहीं पड़ा। यशोदा भृत्यवर्ग का व्यक्ति था। इसलिए उसका व्यक्तिगत सम्मान अधिक था। शक्ति से वंचित रहने के कारण विरोधी दलों की शक्ति और कम होती गयी और प्रजातंत्र दल के दो अन्य गुट एक-एक करके उदार-प्रजातांत्रिक दल में मिल गये और उसका नाम उदार दल हो गया। प्रजातंत्र दल के शेष व्यक्तियों ने लोक सहयोगी दल से मिलकर लोक प्रजातंत्र दल की स्थापना की। समाजवादी दल में व्यक्तिगत तथा सैद्धान्तिक मतभेदों के कारण पहले से ही फूट पड़ रही थी। सैन फ्रान्सिसको सम्मेलन के प्रति दल के दृष्टिकोण के कारण उस फूट ने वृहद् रूप धारण कर लिया। इस फूट के परिणामस्वरूप सन् १९५१ में समाजवादी दल का विभाजन हो गया और वाममार्गी समाजवादी तथा दक्षिणमार्गी समाजवादी दो पृथक् दल बन गये। सन् १९५१ में एक राजनैतिक क्लब की स्थापना हुई थी जो सन् १९५२ में लोक-प्रजातांत्रिक दल से मिल गया और यह संयुक्त दल प्रगतिवादी दल कहलाया। फिर भी जापान-शान्ति सन्धि के प्रश्न पर सभी विरोधी दलों में फूट पड़ गयी। इसलिए १ अक्टूबर, सन् १९५१ के प्रतिनिधि सभा के निर्वाचनों में उदार दल ने २४१, प्रगतिवादियों ने ८५, दक्षिणमार्गी समाजवादियों ने ५८, वाममार्गी समाजवादियों ने ५८ और छोटे दलों तथा निर्दलीय अभ्यर्थियों ने कुल २४ स्थान प्राप्त किए। उदार दल का बहुमत था पर हातोयामा द्वारा राजनीति के पुनर्प्रवेश से उसमें फूट पड़ी थी। ६९ सदस्य हातोयामा के समर्थक

थे और ६६ सदस्य असम्बद्ध थे। फलतः योशीदा पुनः प्रधानमंत्री हुआ। पर शीघ्र ही उसके विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास हो गया और योशीदा-गुट और हातोयामा-गुट दो पृथक् राजनैतिक दल बन गये। सन् १९५३ के महा-निर्वाचन में योशीदा-गुट को १९९, हातोयामा-गुट को ३५, प्रगतिवादियों को ७६, दक्षिणपंथी समाजवादियों को ६६, वामपंथी समाजवादियों को ७२, साम्यवादियों को ७१ और छोटे दलों तथा निर्दलीय व्यक्तियों को कुल १७ स्थान मिले। योशीदा ने हातोयामा से अपने मतभेद कम करके और प्रगति-वादियों से निकटवर्त्ती सम्बन्ध स्थापित करके पुनः मंत्रिमंडल बनाया। दृष्टिकोण और हितो की समानता के कारण प्रगतिवादी योशीदा गुट की अपेक्षा हातोयामा गुट के अधिक निकट आये और मार्च सन् १९५४ में हातोयामा गुट ने प्रगतिवादियों से मिलकर प्रजातांत्रिक दल की स्थापना की। दिसम्बर में योशीदा ने पद-त्याग दे दिया और समाजवादियों की सहायता से हातोयामा प्रधानमंत्री निर्वाचित हुआ। फरवरी १९५५ में महानिर्वाचन हुआ जिसमें उदार दल ने ११२, प्रजातंत्र दल ने १८५, दक्षिण मार्गी समाज-वादियों ने ६७, वाममार्गी समाजवादियों ने ८९, साम्यवादियों ने २ और छोटे दलों और निर्दलीय अभ्यर्थियों ने कुल १२ स्थान प्राप्त किए। हातोयामा पुनः प्रधानमंत्री हुआ। समाजवादियों ने पुनः एकता स्थापित करने का प्रयत्न किया और १४ अक्टूबर सन् १९५५ को उनमें पूर्ण एकता स्थापित हो गयी। इससे दोनों अनुदार दल सावधान हुए और दिसम्बर में उनके स्थान पर एक उदार प्रजातांत्रिक दल स्थापित हुआ। दलीय अस्थिरता के कारण नवम्बर सन् १९५५ में पुनः निर्वाचन हुए जिनमें उदार प्रजा-तांत्रिक दल ने २९९ और समाजवादियों ने १५४ स्थान प्राप्त किए। हातो-यामा स्वाभाविक रूप में प्रधानमंत्री हुआ। पर दलीय प्रतिद्वन्द्विता के कारण दिसम्बर सन् १९५६ में उसने त्याग पत्र दे दिया और इशीवाशी तानजन एक वर्ष प्रधानमंत्री रहा। उसके पश्चात् किशी नोबुसुके उस पद पर आया और नवम्बर सन् १९६० में महा निर्वाचन के पश्चात् श्री हयातो इकेदा प्रधानमंत्री हुए। यद्यपि दल की आन्तरिक गुटबन्दी के कारण उन्हें सन् '६३

के मध्य में पद-त्याग करके नया मन्त्रिमन्डल बनाना पड़ा पर बाह्य रूप में दल पूर्ववत् संगठित है। इस बीच उदार प्रजातंत्र दल की शक्ति भी निरन्तर बढ़ती गयी है। उसके विरुद्ध सन् १९५८ में समाजवादी दल में फूट पड़ गयी और वह जापान समाजवादी और प्रजातंत्रीय समाजवादी दलों में विभाजित हो गया है। नवम्बर सन् १९६० में हुए निर्वाचनों में उदार प्रजातंत्र दल ने २९६, जापान-समाजवादी दल ने १४५, प्रजातंत्रीय-समाजवादी दल ने १७, साम्यवादियों ने ३ और अन्य लघुदलों व निर्दलीय सदस्यों ने ५ स्थान पाये हैं। अगस्त सन् १९६३ तक इस दल की स्थिति में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ और इस समय संसद के दोनों सदनों में विभिन्न दलों की स्थिति निम्नाङ्कित है :—

दल	प्रतिनिधि सभा में सदस्य	परिषद सभा में सदस्य
उदार-प्रजातांत्रिक	३०१	१४१
समाजवादी	१४४	६४
प्रजातान्त्रिक समाजवादी	१६	१०
साम्यवादी	३	४
निर्दलीय	६	२६
रिक्त स्थान	—	५
योग	४७०	२५०

दलों के संगठन और सिद्धान्त

उदार-प्रजातांत्रिक दल (Liberal Democratic Party)—उदार प्रजातान्त्रिक दल जापान का सबसे अधिक शक्तिशाली दल है। यह पिछले ७ वर्षों से सत्तारूढ़ है। यह वास्तव में एक संयुक्त दल है जो सन् १९५५ में उदार और प्रजातन्त्र दलों के विलयन से बना था। उदार दल द्वितीय विश्व युद्ध पूर्व के राजनैतिक मित्र संघ का उत्तराधिकारी है। प्रजातन्त्र दल सन् १९४७ में प्रगतिवादी दल और उदार दल के अशीदा गुट के विलयन से बना था। प्रगतिवादी दल युद्ध पूर्व के लोक सरकार दल का उत्तराधिकारी था। उदार

दल और प्रजातन्त्र दल ही सन् १९४७ से जापान में शासन कर रहे हैं। केवल २३ मई सन् १९४७ से १० फरवरी १९४८ तक के लघु काल में समाजवादी दल का अध्यक्ष कातायामा तेत्सु समाजवादी, प्रजातन्त्र और लोक सहयोगी दलों के संयुक्त मन्त्रिमंडल का प्रधान मन्त्री रहा।

अन्य दलों की भाँति जापान का उदार दल भी एक अत्यन्त केन्द्रीभूत दल है। यद्यपि दल के अनेक जिला स्थानीय कार्यालय है पर स्थानीय संगठन विकसित नहीं है और सभी महत्वपूर्ण बिषयों पर केन्द्रीय संगठन ही नीति निर्धारित करता है। केन्द्रीय संगठन अपने कार्यों के सम्पादन के लिए स्थानीय नेताओं पर आश्रित रहते हैं। इसलिए राजनैतिक जीवन में इनका बड़ा महत्व है। दल के चार प्रमुख अधिकारी होते हैं :—

(१) अध्यक्ष (President)

(२) महासचिव (Secretary General)

(३) सभापति नीति-अनुसन्धान समिति (Chairman of Policy Research Committee)

(४) सभापति कार्यपालिका समिति (Chairman of Executive Committee)

उपरोक्त चार अधिकारी और दल के परामर्शदाता मिलकर दल का उच्च समादेश (High Command) बनता है। दल का अध्यक्ष और अन्य अधिकारी दल के संगमन में गुप्त मतदान द्वारा निर्वाचन होते हैं। पर यह निर्वाचन औपचारिक है। वास्तविक निर्णय कुछ नेता ही करते हैं और कभी-कभी दल के बाहर के व्यक्ति इसी शर्त पर दल में सम्मिलित होते देखे गये हैं कि वह दल के अध्यक्ष चुने जायेंगे। अध्यक्ष एक उच्च व्यक्तिगत प्रतिष्ठा वाले व्यक्ति को बनाया जाता है, भले ही वह व्यक्ति समाज सेवक और दल का कर्मठ सदस्य न रहा हो। भृत्य वर्ग के उच्च अधिकारी इस पद के लिए विशेष उपयुक्त समझे जाते हैं। दल के अध्यक्ष का पद अत्यन्त आकर्षक है क्योंकि दल द्वारा देश के निर्वाचन में बहुमत प्राप्त करने पर वही व्यक्ति प्रधानमन्त्री चुना जाता है।

महासचिव दल के संगठन का संचालक होता है। वह दल के लिए धन संग्रह करता है। वही दल का मुख्य प्रवक्ता है और दूसरे दलों से बातचीत भी वही करता है। वह निर्वाचनों में दल की युक्ति निश्चित करता है। अध्यक्ष का मुख्य परामर्शदाता भी महासचिव ही होता है।

नीति-अनुसन्धान समिति का अध्यक्ष नीति-निर्धारण में दल का नेतृत्व करता है। सीमिति संसद में प्रस्तुत किए जाने वाले विधेयकों का अध्ययन करती हैं और उनके प्रारूप निश्चित करती है। इस समिति की बहुत सी उपसमितियाँ होती हैं और प्रत्येक उपसमिति शासन के एक मन्त्रालय के कार्य पर विचार करती है। उपसमिति में अनुसन्धान कर्मचारी भी होते हैं।

कार्यपालिका समिति का अध्यक्ष महासचिव, नीति अनुसन्धान समिति तथा अन्य समितियों के कार्य की देख-रेख करता है। कार्यपालिका समिति दल प्रसम्मिलन (Caucus) और संसद सदस्यों के साथ मिलकर उच्च नीति विषयक बातों पर निर्णय करती है। कार्यपालिका समिति में दल के विभिन्न समूहों और द्वैधों के प्रतिनिधियों को स्थान दिया जाता है। इसलिए उसका आकार तो बढ़ गया है पर उसका प्रभाव कम हो गया है।

उपरोक्त अधिकारियों और समितियों के अतिरिक्त एक अन्य समिति भी महत्वपूर्ण समझी जाती है। इसका नाम राष्ट्रीय संगठन समिति है। इस समय इसका महत्व अधिक बढ़ गया है। इससे स्पष्ट होता है कि अब दल के संगठनकर्त्ता उसके सार्वजनिक आधार और सम्पर्क को दृढ़ करना चाहते हैं। पर स्थानीय संगठन अब भी केवल निर्वाचन में ही सक्रिय देखे जाते हैं।

दल के प्रत्येक सदस्य को प्रति वर्ष २०० येन चन्दा देना पड़ता है। इसलिए सर्व साधारण दल का सदस्य बनना नहीं चाहते हैं। और दल के अधिकांश व्यक्ति व्यावसायिक राजनीतिज्ञ हैं। यद्यपि दल सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त करना चाहता है पर उसके समर्थकों में देहातों का कृषक वर्ग, नगरों के वाणिज्य तथा उद्योग संस्थानों के स्वामी, लघु उद्योगों के कर्मचारी, उच्च स्तर के प्रशासकीय अधिकारी, वकील, पत्रकार आदि अधिक हैं।

उदार-प्रजातन्त्र दल वास्तविक रूप में अनुदार और प्रतिक्रियावादी दल है इसलिए उसका प्रथम उद्देश्य यथासम्भव युद्ध पूर्व की सामाजिक, राजनैतिक तथा संवैधानिक स्थिति को पुनरुस्थापित करना है। वह प्राचीन-परिवार-व्यवस्था, परिवार के प्रधान और पुरुषों की प्रधानता, स्थापित करना चाहता है। वह पुरानी परिपाटियों तथा शिक्षा-प्रणाली को भी पुनः प्रारम्भ करना चाहता है। वह स्थानीय स्वायत्त शासन के विरुद्ध है। वह स्वतन्त्र लोक-सेवा-व्यवस्था के भी विरुद्ध है। इस प्रकार वह केन्द्रीभूत स्थानीय शासन और पूर्णरूप से शासनाधीन लोक सेवा स्थापित करना चाहता है। इन क्षेत्रों में उसके शासन काल में कुछ प्रगति भी की गयी है। वह संविधान में संशोधन करके सम्राट को पुनः महत्वपूर्ण स्थान देना चाहता है। वह प्रजातन्त्र तथा स्वतन्त्रता का समर्थन करता है। वह युद्ध-त्याग के भी विरुद्ध है और राष्ट्रीय शस्त्रीकरण का समर्थन करता है। वह पूर्ण स्वतन्त्र न्यायपालिका के भी विरुद्ध है। आर्थिक क्षेत्र में वह व्यापार-स्वातंत्र्य और व्यक्तिगत उपक्रम का समर्थक है। फिर भी वह लोक कल्याणकारी राज्य, लोक स्वास्थ्य बीमा, साधारण मूल्य की भवन व्यवस्था, वृद्धों की सहायता आदि के पक्ष में है।

वैदेशिक क्षेत्र में उदार-प्रजातान्त्रिक दल संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ सहयोग करने और रक्षा सन्धि का पक्षपाती है और रूस से उस समय तक किसी प्रकार का सम्बन्ध रखने के विरोध में है जब तक रूस कुरील द्वीप को जापान को वापस नहीं कर देता है। वह संयुक्त राष्ट्र सङ्घ पर आधारित स्वतन्त्र नीति का समर्थन करता है। विदेशी व्यापार बढ़ाना चाहता है। इस उद्देश्य से वह साम्यवादी चीन से भी व्यापार करने के पक्ष में है पर उसे मान्यता देने का विरोध करता है। एशिया के आर्थिक विकास में वह सहयोग देना चाहता है। वह शस्त्रीकरण विशेषकर आणुविक शस्त्रास्त्रों और उनके परीक्षणों का भी विरोध करता है और जापान में संयुक्त राज्य अमेरिका के सैनिक अड्डों को कम करने के मार्ग का समर्थन करता है।

समाजवादी दल—समाजवादी दल वर्तमान समय में दक्षिण-मार्गी और वाम-वर्गी दो भागों में विभाजित है। दक्षिण-मार्गी दल का नाम प्रजातंत्र-

समाजवादी दल है और वाम-मार्गी दल का नाम जापान समाजवादी दल है। यद्यपि यह विभाजन सन् १६५८ में हुआ था पर समाजवादी दलों में एकता सन् १६५५ में ही स्थापित हुई थी और इसके पूर्व भी वह दक्षिण-मार्गी और वाम-मार्गी दलों में विभाजित था। यह विभाजन सैन फ्रान्सिसको सम्मेलन और जापान-अमेरिका शान्ति सन्धि के ऊपर सन् १६५१ में हुआ था। दक्षिण मार्गी दल शान्ति सन्धि और उससे सम्बन्धित जापान-अमेरिका सुरक्षा सन्धि तथा सीमित पुनर्शस्त्रीकरण का समर्थन करता था और वाम मार्गी दल उसके विरूद्ध था।

दोनों समाजवादी दलों के संगठन में एकरूपता है। दोनों में ही निम्नाङ्कित अधिकारी और संस्थाएँ महत्वपूर्ण समझी जाती हैं :--

१. केन्द्रीय कार्यपालिका समिति और उसका सभापति (Central Executive Committee and its Chairman.)

२. महासचिव (Scretary General)

३. नीति विमर्श समिति और उसका सभापति (Policy Deliberation Committee and its Chairman)

४. कोषाध्यक्ष (Treasurer)

समाजवादी दलों में अध्यक्ष नहीं होता। केन्द्रीय कार्यपालिका समिति का सभापति ही उसका सभापति होता है। इसके सभापति का स्थान उतना महत्वपूर्ण नहीं समझा जाता है जितना उदार-प्रजातन्त्र दल के अध्यक्ष का माना जाता है। महासचिव केन्द्रीय कार्यालय के कर्मचारियों के कार्य की देख-रेख करता है और उसका दल-राजनीति पर पर्याप्त प्रभाव होता है। नीति-विमर्श-समितियाँ उदार प्रजातन्त्र दल की नीति-अनुसन्धान समिति के समान हैं और उसी के समान वह भी न केवल विचाराधीन विषयों पर विमर्श करती है वरन् अन्य समस्यायें, जैसे दलों का श्रमिक संघों से सम्बन्ध, भी उसी के विमर्श क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। समाजवादी दलों के केन्द्रीय और स्थानीय दोनों प्रकार के संगठन सुगठित है। स्थानीय संगठनों और केन्द्रीय कार्यालयों का सम्बन्ध भी निकटवर्ती है।

समाजवादी दलों की शक्ति का मुख्य स्रोत बड़े-बड़े उद्योगों के श्रमिक हैं। जापान समाजवादी दल को जापान कार्मिक-संघ महापरिषद (General Council of Japan Trade Unions) का समर्थन प्राप्त है और प्रजातन्त्र-समाजवादी दल को जापान श्रमिक-संघ महापरिषद (General Council of Japan Labour Unions) का समर्थन प्राप्त है। कार्मिक संघ महापरिषद में लगभग अड़तीस लाख सदस्य और श्रमिक संघ महापरिषद में लगभग बारह लाख सदस्य हैं।

श्रमिकों के अतिरिक्त प्रोफेसर, लेखक, विद्यार्थी, लिपिक वर्ग, विक्रेता (Salesmen) तथा कम वेतन और असुरक्षित पद पर कार्य करने वाले व्यक्ति समाजवादी दलों के समर्थक हैं। उच्च शिक्षित वर्ग प्रायः समाजवादी दलों से ही सहानुभूति रखता है। अब समाजवादी प्रभाव ग्रामों में भी पहुँचने लगा है और नगरों में कार्य करने वाले कृषक-पुत्र इसके मुख्य माध्यम हैं।

दक्षिण-मार्गी समाजवादी दल प्रजातन्त्रीय साधनों द्वारा समाजवादी राज्य की स्थापना करना चाहता है। वह सुरक्षा सन्धि और सीमित पुनर्शस्त्रीकरण का भी समर्थक है। उसके कार्यक्रम में पूर्ण नियोजन (employment), लोक कल्याण व्यवस्था में सुधार, निम्न आय के कर्मचारियों की जीवन दशा में सुधार तथा स्वतन्त्र विदेशी नीति सम्मिलित हैं।

वाम-मार्गी समाजवादी उग्र विचारधारा के मानने वाले हैं और जैसा ऊपर कहा जा चुका है दक्षिण मार्गियों से इनका मुख्य विरोध विदेशी नीति विषयक है। वे अणु शस्त्रास्त्रों के परीक्षणों का अविलम्ब निषेध करने के पक्ष में है और इसे वे निशस्त्रीकरण प्रश्न से पृथक् मानते हैं। वह जापान, रूस, साम्यवादी चीन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ एक सामुहिक सुरक्षा सन्धि चाहते हैं और जापान-संयुक्त राज्य अमेरिका, और रूस-चीन की सन्धियों का विरोध करते हैं। वह साम्यवादी चीन की मान्यता और संयुक्त राष्ट्र सङ्घ में उसके प्रवेश के समर्थक हैं। राष्ट्रवादी चीन की समस्या का वह शान्ति पूर्ण तथा स्वतन्त्र समाधान चाहते हैं। एशिया और अफ्रीका के सभी देशों से वह सहअस्तित्व के पाँच सिद्धांतों के आधार पर मैत्री सम्बन्ध स्थापित

करने के पक्ष में है। चीन के साथ व्यापार पर लगे प्रतिबन्धों का वह विरोध करते हैं। अमेरिका आधीन ओकावा और बोनिन्स द्वीपों की भी वह तुरन्त वापस लेने की माँग करते हैं।

समाजवादी विचारधारा जापान में कभी भी प्रबल समर्थन प्राप्त नहीं कर सकी है। वास्तव में जापान की सभ्यता और संस्कृति ही समाजवादी विचारधारा के विरुद्ध है। दोनों समाजवादी दलों की पारस्परिक फूट उनकी दुर्बलता को और भी बढ़ा रही है। ये दल निर्वाचन समय पर भी आपसी समझौता नहीं कर पाते हैं और जहाँ एक दल अपने अभ्यर्थी को खड़ा नहीं करता वहाँ वह अपने समर्थकों को मत बिल्कुल ही न देने का परामर्श देता है। इस परामर्श का प्रभाव यह होता है कि समाजवादी विरोध दुर्बल पड़ जाता है और उदार-प्रजातन्त्र दल सफल हो जाता है। समाजवादियों के प्रचार का मुख्य अस्त्र जीवन-सामग्री के मूल्य की कष्टदायक अधिकता है।

साम्यवादी दल—जापान का उग्र वाम-मार्गी दल जापानी साम्यवादी दल है। सोवियत रूस की निकटता के कारण साम्यवादी दल को विशेष प्रोत्साहन मिला है। मित्र राष्ट्रीय सैनिक अधिग्रहण के समय अन्य राजनैतिक बन्दियों के साथ साम्यवादी भी मुक्त कर दिए गये थे। पर सर्वोच्च समादेशक तथा अनुदार दलों के विरोध के कारण साम्यवादी दल का प्रचार अधिक न हो सका। साम्यवादियों द्वारा देश की सम्राटीय व्यवस्था के विरुद्ध प्रचार करने के कारण वह अधिक लोकप्रिय भी नहीं हो सका। इसके अतिरिक्त, जापान के अन्य राजनैतिक दलों की भाँति साम्यवादी दल भी आन्तरिक फूट के रोग से रुग्ण रहा है। इससे गरम और नरम दो द्वैध रहे हैं। प्रारम्भ में नरम द्वैध का ही दल पर प्रभुत्व था और उस समय जनता में उसके समर्थक अधिक थे। सन् १९४९ में उसके पैंतीस-छत्तीस सदस्य थे। पर बाद में उस पर नरम दल का प्रभुत्व स्थापित हो गया और इससे देश में उसकी लोकप्रियता अत्यन्त कम होने लगी। कोरिया युद्ध के समय वह निषिद्ध कर दिया गया और युद्ध उपरान्त जब वह पुनः राजनैतिक क्षेत्र में आया तब उसकी लोकप्रियता नष्ट हो चुकी थी। अब भी जापान साम्यवादी

दल के समर्थक तीन प्रतिशत व्यक्तियों से अधिक नहीं है और प्रतिनिधि सभा में उसके केवल तीन और परिषद् सभा में चार सदस्य हैं। अन्य देशों की भाँति जापान के साम्यवादी दल में भी तीन प्रमुख संस्थाएँ हैं :—

१. दल सभा (Party Congress)

२. केन्द्रीय समिति (Central Committee)

३. नियंत्रण आयोग (Control Commission)

साम्यवादी दल में सिद्धान्त की दृष्टि से दल-सभा सर्वाधिकारी संस्था है पर वास्तविक दृष्टि से केन्द्रीय समिति सबसे अधिक शक्तिशाली संस्था है। इसका प्रधान महासचिव होता है जो सबसे अधिक महत्वपूर्ण अधिकारी है। नियंत्रण आयोग दल में अनुशासन स्थापित करता है और अवांच्छनीय सदस्यों को निष्कासित कर सकता है। दल का संगठन पद सोपानी है और उसकी प्रारम्भिक इकाई को सेल कहते हैं जो दुकानों, कृषक-समितियों, विद्यालयों, निवास क्षेत्रों और कारखानों में होते हैं और यही दलीय कार्यवाही के मुख्य साधन हैं।

साम्यवादी दल रूस के प्रतिनिष्ठा रखता है और संयुक्त राज्य अमेरिका का विरोधी है। इसलिए वह अमरीकी सेनाओं को देश से अविलम्ब हटाने की माँग करता है और जापानी-अमरीकी सुरक्षा सन्धि का अन्त करना चाहता है। वह निशस्त्रीकरण का समर्थन करता है और उसका अन्तिम लक्ष्य साम्यवादी समूह में सम्मिलित होना है। वह सम्राटीय व्यवस्था और वर्तमान संविधान का भी अन्त करके रूसी संविधान की तरह का संविधान और साम्यवादी आर्थिक व्यवस्था को स्थापित करना चाहता है।

जापान के राजनैतिक दलों की विशेषताएँ

प्रत्येक देश की संस्थाएँ उस देश की परिस्थितियों से उत्पन्न होती हैं और यदि किन्हीं बाह्य प्रभावों से भी किन्हीं संस्थाओं का जन्म हुआ हो तो देश की परिस्थितियों का उन पर भी प्रभाव पड़ता है। इसलिए विभिन्न देशों की एक ही संस्था की विशेषताएँ पृथक्-पृथक् होती हैं। जापान के राजनैतिक दल भी इस

सामान्य सिद्धांत के अपवाद नहीं है। वह अपनी पृथक् विशेषताएँ रखते हैं और उनमें से कुछ प्रमुख विशेषताएँ निम्नाङ्कित हैं :—

१. राष्ट्रीयता और समूह हित का मिश्रण—जापान में राजनैतिक दलों की सुगठित स्थापना संसद् बनने के पश्चात् हुई थी। इसलिए दलों का सङ्गठन सत्तारूढ़ समूहों के हाथ से सत्ता छीनने के उद्देश्य से हुआ था। इस प्रकार दलों का मुख्य लक्ष्य समूह हित था। इसके अतिरिक्त संसद की स्थापना और अन्य विभिन्न प्रकार के सुधारों को जापान को शक्तिवान् बनाकर विदेशियों द्वारा लादी गयी अपमानपूर्ण सन्धियों का अन्त करने और अन्तर्राष्ट्रीय समाज में समानता तथा सम्मान का स्थान प्राप्त करने के विचार से किया गया था। यह राष्ट्रीयता की भावना राजनैतिक दलों के सङ्गठन का दूसरा प्रमुख कारण थी। अतः सभी राजनैतिक दल समूह-हित और राष्ट्रीयता के मिश्रण थे और इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए परिस्थितियों के अनुसार राजनैतिक दलों के सङ्गठनों में परिवर्तन होता रहा है पर समूह-हित और राष्ट्रीयता के उद्देश्य अब भी पूर्ववत् राजनैतिक दलों के लक्ष्य बने हुए हैं।

२. वर्गीयता और प्रान्तीयता—जापान का तत्कालीन समाज गोत्रीय सामन्तवाद के आधार पर संगठित था और यह गोत्र विभिन्न प्रान्तों से सम्बन्धित थे। इसलिए जब राजनैतिक दल बने तो उन्होंने गोत्रों के सङ्घ का रूप ग्रहण किया। राजनैतिक जीवन में बहुमत प्राप्त करने के लिए यद्यपि सामन्तवादी तत्व अब प्रभुत्वपूर्ण नहीं है पर एक गुट या द्वैध से जुड़े रहने की प्रवृत्ति अब भी वर्तमान है। परिणाम यह है कि तथाकथित दल इन अनेक समूहों के जिनमें से प्रत्येक किसी विशेष नेता या प्रमुख व्यक्ति के प्रतिनिष्ठा रखता है, अस्थायी मैत्री सङ्घ है।[1] इस प्रकार जापान में एक राजनैतिक दल द्वैध हितों

[1] "Though the feudal element is no longer predominant, the tendeney still seems to adhere to a clique or faction with the results that a so called party is only a temporary alliance between a number of these, each of which owes allegiance to a particular leader or personality" Esler Dening., *Japan*, 1960, P. 108.

के शिथिल सङ्घों से अधिक नहीं है[1] और द्वैधता जापानी राजनैतिक जीवन का एक अभिशाप बना हुआ है।[2] उदार प्रजातन्त्र दल में इकेदा, सातो, किशी, फुजीयामा, ओनो, कोनो, मीकी और इशी नामक आठ प्रमुख गुट और जापान समाजवादी दल में कावाकामी, सुज़ुकी, वादा, नोमिजो, मात्सुमोतो और कुरोदा नामक छः प्रमुख गुट हैं।

३. आर्थिक हितों के संघर्ष की कमी—जापान के राजनैतिक दल विशेष आर्थिक हितों के आधार पर संगठित नहीं हैं। यद्यपि आर्थिक व्यवस्था राज्य और राजनैतिक दलों की योजना का मुख्य अंग होती है पर विभिन्न कारणों से राजनैतिक दल किसी हित विशेष का समर्थन नहीं करते। सभी दलों में सभी प्रकार के आर्थिक हित, पूँजीपति, व्यापारी, श्रमिक, कृषक, व्यवसायिक आदि सम्मिलित हैं और मत प्राप्त करने के लिए उन सभी को सन्तुष्ट करना पड़ता है। इसलिए राजनैतिक दलों को विभिन्न प्रकार के आर्थिक हितों के बीच और विरोध-शमक के रूप में कार्य करना पड़ता है।

४. साम्प्रदायिकता का अभाव—जापान में जातीयता, साम्प्रदायिकता और धार्मिक द्वेष ने कभी भी उग्र रूप धारण नहीं किया है और न कभी धर्म देश की प्रगति के मार्ग में ही बाधक सिद्ध हुआ है। इन्हीं कारणों से जापान में भारत के समान धर्म के आधार पर राजनैतिक दल नहीं बने हैं और न वहाँ की राजनीति फ्रान्स के समान धर्म विरोधी ही रही है। जापान में धर्म और राजनीति पृथक्-पृथक् रहते हैं और राजनीति के लिए धर्म का प्रयोग नहीं किया जाता है।

५. बहु-दलीय पद्धति—जापान की दल व्यवस्था की एक प्रमुख विशेषता

---

[1] "A political party is little more than a loose association of factional interests." Quigley & Turner, *The New Japan*, 1956, P. 358.

[2] F. A. Hermens : The Representative Republic, 1958 p. 486. John M. Maki also admits that, "factionalism has been regarded as the bane of political parties in Japan soince their first appearance in the land." *Government and Politics of Japan.*" 1962, p. 160.

बहु दलीय पद्धति (Multy-Party System) का होना है। एक समय वहाँ २६० राजनैतिक दल थे और अप्रैल सन् १६४६ में द्वितीय युद्ध के उपरान्त होने वाले प्रथम महा निर्वाचन के समय भी अनेक ऐसे संगठनों को छोड़कर जिन्हें विधि की दृष्टि से राजनैतिक दलों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता था, देश में ३०० से अधिक राजनैतिक दल थे।[1] यद्यपि सन् १६५५ और १६५८ के मध्य वहाँ दो ही प्रमुख दल थे और आशा की जाती थी कि जापान में कुछ वर्षों में द्विदलीय प्रथा स्थापित हो जायगी पर सन् १६५८ में यह आशा धूमिल हो गयी। यद्यपि इस समय उदार-प्रजातान्त्रिक दल प्रतिनिधि और परिषद् दोनों सभाओं में बहुमत प्राप्त किए हैं पर वह स्वयं एक संयुक्त दल है जिसका कभी भी विच्छेद हो सकता है। दलों की संख्या या उनके संघ स्वरूप के कारण जापान की दल पद्धति को बहुदलीय कहा जाता है। पर दलों की शक्ति के आधार पर उसे द्विदलीय या डेढ़ दलीय भी कहा जा सकता है।[2]

६. परिवर्तनशीलता—जैसा कि पूर्व वर्णित राजनैतिक दलों के इतिहास से प्रकट होता है जापान के राजनैतिक दल प्रायः सदैव परिवर्तन की स्थिति में रहते हैं।[3] इस परिवर्तन का कारण बहु दल पद्धति, संसद में बहुमत की आवश्यकता, दलों में द्वैधों का होना, व्यक्तिगत स्वार्थ की प्रधानता, सिद्धांतों का अभाव आदि है। विविधिता और नवीनप्रियता भी इस परिवर्तनशीलता का एक प्रमुख कारण बतायी जाती है। चित्रकला, दर्शन, कविता, पुष्पसज्जा, धनुषविद्या, कृपाणविद्या, तैरने आदि सभी कार्यों में जापान में विविधिता के दर्शन होते हैं। नये प्रयोग, नये खिलौने, नये गृहाग्र, नये नाम, नये ग्राहक

---

[1] प्रोफेसर ज़िन्क के अनुसार सन् १६४६ में चुनाव लड़ने वाले विभिन्न संघों की संख्या १२५० (?) थी।

[2] "It is very tempting, however, to call the Japanese party system a one-and-one-half-party system." Scalapino and Masumi, *Op cit*. p. 79.

[3] "The political parties have been characterized by a considerable degree of instability." Maki J. M. *Government and Politics of Japan*, 1962, p. 159.

होना आदि जापानवासियों की नवीनप्रियता के द्योतक हैं। इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप नेता नये सदस्यों तथा नये दलों और सदस्य नये नेताओं और नये दलों को चाहते हैं। इससे दलों में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है। चाहे यह नाम का ही परिवर्तन हो। जापान में एक भी राजनैतिक दल ऐसा नहीं है जिसमें परिवर्तन न हुआ हो।

७. **व्यक्तित्व का प्रभाव**—जापान में प्राचीन सामन्तवादी व्यवस्था के प्रभाव के फलस्वरूप वीर-पूजा की भावना अत्यन्त दृढ़ हो गयी है। इसी कारण राजनैतिक दल 'व्यक्तित्व' और 'नेता केन्द्रित' रहे हैं। सदस्य नेता के प्रति ही निष्ठा रखते हैं। नेता के दल से अलग होने, दूसरे दल से मिल जाने या नये दले की स्थापना करने पर वह भी उसका अनुगमन करते हैं। यह भावना नीचे से लेकर ऊपर तक, ग्राम से लेकर संसद तक, सभी स्थानों में पायी जाती है और इस कारण जापान में राजनैतिक दलों और मन्त्रिमंडलों में निरन्तर परिवर्तन हुआ करता है। इस दृष्टि से यह कहना अत्योक्ति न होगा कि "जापानी राजनैतिक दल वास्तविक रूप में नेताओं और उनके अनुगामियों के सहित काम चलाऊ संयुक्त संस्थाएँ हैं।"[1] व्यक्तित्व के प्रभाव की अधिकता केवल दलों के सदस्यों में नहीं है। वरन् मतदाता भी दलों की अपेक्षा अभ्यर्थी को ही मत देते हैं। विशेष बात यह है कि बीस से उनतालिस वर्ष की आयु के व्यक्ति अभ्यर्थियों की अपेक्षा दल को अधिक मत देते हैं पर यह अनुपात दो-तीन से कभी अधिक नहीं होता है पर चालीस वर्ष और इससे अधिक आयु के व्यक्ति दलों की अपेक्षा अभ्यर्थियों को अधिक मत देते हैं और यह अनुपात एक तीन का होता है। स्वाभाविक रूप में उदार-प्रजातन्त्र दल को दल की अपेक्षा अभ्यर्थी के लिए अधिक मत मिलते हैं जबकि समाजवादी दलों को व्यक्ति की अपेक्षा दल को ही अधिक मत मिलते हैं और उसमें भी पचास वर्ष और अधिक आयु के व्यक्ति अभ्यर्थी को अधिक मत देते हैं।

---

[1] "Japanese parties are in effect, working coalitions of a number of political leaders, each with his following." Nobutaka Ike : *Japanese Politics* (1957) P. 177.

८. परिस्थितियों से उत्पन्न—जापान के राजनैतिक दलों की उत्पत्ति परिस्थितियों के आधार पर हुई है। नेता परिस्थिति के अनुकूल जिस कार्य से उनको सत्ता हस्तगत करने का अवसर मिलता है वही कार्य करते हैं। सत्ताधारी दल से मिल जाना और सत्ताविहीन दल का साथ छोड़ देना जापान के छोटे और बड़े सभी नेताओं के लिए अत्यन्त सरल बात है। प्रत्येक नेता मंत्रि पद चाहता है, वह किसी भी प्रकार मिले। दल के साथ विश्वासघात करने वाले नेता बिना किसी विरोध के पुनः दल में सम्मिलित कर लिए जाते हैं। संसद में स्वतन्त्र या दूसरे दलों के सदस्यों को मिलाने के लिए दलों के नाम बदल दिए जाते हैं।

९. अवसरवादिता—उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि अवसरवादिता जापान के राजनीतिक दलों का आधार भूत सिद्धान्त है। अवसर से लाभ उठाने के लिए विरोधी दल और उसके नेता से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। अपने मित्रों और दलों को उनकी ओर से बिना कारण के ही छोड़ा जा सकता है। राजनैतिक नैतिकता अत्यन्त निम्नकोटि की है। पद-लोलुपता के कारण उग्र-उदार नेता उग्र-अनुदार दल से मिल सकता है। इसी कारण दलों में निरन्तर आन्तरिक संघर्ष बना रहता है। ऐसे व्यक्ति बहुत कम होंगे जो ख्याति और धन के आकर्षण से मुह मोड़ लेंगे।

१०. सिद्धान्तों का अभाव—जिस देश के राजनैतिक दल परिस्थिति के अनुसार निरन्तर परिवर्तित होते रहे हैं; जिसके नेता स्वार्थी, महत्वाकांक्षी और अवसरवादी हों, जिस देश की जनता वीर पूजा करने वाली हो, जहाँ सिद्धान्तों की अपेक्षा व्यक्तित्व को अधिक महत्व दिया जाये; वहाँ के राजनैतिक दल सिद्धान्तों पर आधारित नहीं हो सकते हैं। जापान के राजनैतिक दल व्यक्तिगत आधार पर बनते हैं और उसी आधार पर उनमें परिवर्तन होता है। उनके मध्य संघर्ष भी सिद्धान्तों के आधार पर न होकर व्यक्तिगत स्वार्थों के आधार पर होते हैं। जब किसी बड़े नेता को दल की अध्यक्षता नहीं मिलती तो वह उसे छोड़ कर नया दल निर्माण कर लेता है क्योंकि दल के अध्यक्ष को ही प्रधान-मन्त्री चुना जाता है। यदि किसी को मन्त्रि-पद नहीं मिलता है तो वह दूसरे दल

के साथ हो जाता है। यह किसी न किसी अंश में होता तो सभी जगह है पर जापान में अत्यधिक होता है।

११. **दीर्घकालीन नीति का न होना**—सभी देशों में राजनैतिक दलों की दीर्घकालीन नीतियाँ होती हैं पर जापान के राजनैतिक दलों की कोई भी दीर्घकालीन नहीं होती है। दलों के सिद्धांत अस्थाई विचारों की पूर्ति के लिए शीघ्रतापूर्वक बना लिए जाते हैं। उनके लिए कोई सुनियोजित कार्यक्रम नहीं होता। जो दल व्यक्तित्व केन्द्रित हों और जो निरन्तर परिवर्तित होते रहें उनमें दीर्घकालीन नीति का होना सम्भव ही नहीं होता है। वह तो व्यक्तिगत भावना, हितों और सम्बन्धों की दृष्टि से ही चलते हैं।

१२. **अन्तर्दलीय संघर्ष की अपेक्षा दलाभ्यन्तर संघर्ष की अधिकता**—जापान के राजनैतिक दलों की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि विभिन्न दलों का पारस्परिक संघर्ष उतना व्यापक नहीं होता जितना कि एक ही दल के नेताओं का आन्तरिक संघर्ष व्यापक होता है।[1] फिर भी इस विशेषता को विचित्रतापूर्ण नहीं कहा जा सकता है। स्थानीय जनमत का विशेष ध्यान, व्यक्तित्व के प्रभाव की अधिकता, वर्गीयता और प्रान्तीयता, व्यक्तिगत स्वार्थ और प्रतिशोध भावना के कारण दलों में आन्तरिक संघर्ष अधिक होता हैं। इसका एक अन्य प्रमुख कारण जापान की निर्वाचन पद्धत्ति है। बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में मतदाता केवल एक सदस्य को ही मत देता है और तीनों से पाँच सदस्यों के क्षेत्रों में दल एक से अधिक अभ्यर्थी खड़े करते हैं। इसलिए प्रत्येक अभ्यर्थी केवल दूसरे दल के अभ्यर्थी के ही विरुद्ध प्रचार नहीं करता है वरन् वह अपने दल के दूसरे अभ्यर्थी के विरुद्ध भी प्रचार करता है। ऐसी स्थिति में आन्तरिक संघर्ष स्वाभाविक हैं। इसके विरुद्ध बहुदल प्रथा तथा संयुक्त सरकार बनाने की आवश्यकता से अन्तर्दलीय संघर्ष कम रहता है।

१३. **पूँजीवाद**—व्यक्तित्व प्रभाव की अधिकता और सफल निर्वाचन के

---

[1] "Competition wrthin the party is fierce, both at election time and in the interim periods." Scalapino and Masumi : *Parties and Politics in Contemporary Japan*, 1962, p. 95.

लिए अधिक धन की आवश्यकता ने जापान में दलों तथा पूँजीपतियों में निकटवर्ती सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। सत्तारूढ़ दल पूँजीपतियों को नये-नये सद्योगों को स्थापित करने के लिए धन देता है और उनके हित की आयात-निर्यात नीति लागू करता है और पूँजीपति दलों को उनके राजनैतिक व्यय के लिए धन देता है। पूँजीपति सभी प्रमुख दलों को धन देते हैं जिससे उनके हित प्रत्येक स्थिति में सुरक्षित रहें। फिर भी सत्तारूढ़ दल को अधिक धन प्राप्त होता है। पूँजीपति केवल राजनैतिक दलों को धन ही नहीं देते वरन वे उनके अपने समर्थक अभ्यर्थियों को चुनाव जिताने का प्रयत्न भी करते हैं और स्वयं दलों के माध्यम से संसद में पहुँचते हैं। सन् १९५७ में भारत और जापान के निम्न सदनों के व्यावसायिक विभाजन के प्रतिशत की निम्नांकित तुलना से जापान के राजनैतिक दलों पर वहाँ के पूँजीपतियों के प्रभुत्व का अनुमान किया जा सकता है।

क्रम सं	व्यवसाय	भारत का प्रतिशत	जापान का प्रतिशत	जापान में कमी या अधिकता का प्रतिशत
१.	वकील	३०.३	१३.३	– १७.०
२.	कृषक	२९.१	१०.६	– १८.५
३.	व्यापार और उद्योग	१०.२	४०.७	+ ३०.५
४.	भूत पूर्व सरकारी नौकर	४.०	९.४	+ ५.४
५.	चिकित्सक	३.५	१.३	– २.२
६.	अध्यापक	११.३	३.२	– ८.१
७.	लेखक	१०.४	६.७	– ३.७
८.	अन्य	१.२	१४.८	+ १३.६

जापान की प्रतिनिधि सभा के उपरोक्त ४०.७% व्यापार तथा उद्योग के व्यवसाय वाले सदस्यों में से ३६.५% सदस्य बड़े-बड़े राजनैतिक दलों की टिकट पर चुनाव जीते थे। स्कैलेपिनो और मासुमी के अनुसार सक्रिय राजनीतिज्ञों और वाणिज्य औद्योगिक विश्व का वैयक्तिक सम्बन्ध वर्तमान सदन सदस्यता का पचास प्रतिशत या इससे अधिक है। इस प्रकार सन् १९६० के निर्वाचनों से पूँजीवाद का प्रभाव लगभग १०% बढ़ गया है।

१४. राजनैतिक भ्रष्टाचारों की अधिकता—राजनैतिक भ्रष्टाचार जितने जापान में होते हैं उतने सम्भवतः अन्य किसी देश में नहीं होते हैं। यह भ्रष्टाचार प्रायः दो प्रकार के हैं : १—संसद सदस्यों की सेवाओं को खरीदना, और २—सरकार से विभिन्न प्रकार की आर्थिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए दल को आर्थिक सहायता देना। द्वितीय विश्व युद्ध के उपरान्त इन भ्रष्टाचारों की संख्या और आकार दोनों बढ़ गये हैं। सन् १९४८ का शोवा डेन्को कान्ड इस प्रकार के भ्रष्टाचारों का एक सुन्दर उदाहरण है। इस कान्ड का सारांश यह है कि शोवा बिजली उद्योग कम्पनी को प्रजातंत्रीय दल की अशीदा सरकार के राज्य मन्त्री कुरुसु तकेओ और उसके पाँच साथियों ने मिलकर प्रजातन्त्र दल को चन्दा देने के बदले में १०० करोड़ येन का ऋण दिलाया। इस कान्ड का पता चल गया और प्रतिनिधि सभा में उसकी जाँच के समय यह पता चला कि प्रधान मंत्री अशीदा ने स्वयं ठेकेदारों को ऐसे ही ऋण दिलाए थे। अशीदा मंत्रि मंडल इन भ्रष्टाचारों के कारण दोषी ठहराया गया और बाद में कुरुसु-समूह न्यायालय द्वारा उत्कोच के लिए अपराधी ठहराया गया।

१५. नेतृत्व की नयी अर्हता—जापान में नेतृत्व की अर्हताओं में देश सेवा, योग्यता या लोकप्रियता का स्थान उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि पार्टी के लिए धन के नये स्रोतों को प्रयोग करने की क्षमता का है। कर्मचारियों को भर्ती करने का अधिकार मंत्रालयों के हाथ से निकल जाने से इसका महत्व और भी बढ़ गया है।

१६. समाजोपयोगी कार्यों की कमी—दूसरे देशों में राजनैतिक दल जनता की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के समाजोपयोगी कार्य,

जैसे चिकित्सालयों, शिक्षालयों और अनाथालयों का खोलना तथा बाढ़ों, शीत और दुर्भिक्ष आदि के समय जनता की सहायता करना आदि करते हैं। पर जापान के राजनैतिक दल अपने कार्य-क्षेत्र को संसदीय कार्यों तक ही सीमित रखते हैं। अन्य कार्यों का तो कुछ कहना ही नहीं, वे निर्वाचन समय के अतिरिक्त राजनैतिक शिक्षा और प्रचार-कार्य भी नहीं करते हैं।

१७. **सैद्धान्तिक अन्तरों का अभाव**—विभिन्न राजनैतिक दलों में सैद्धान्तिक अन्तर बहुत कम है और सिद्धान्तों के आधार पर विभिन्न दलों में भेद करना कठिन है। दल स्वयं यह नहीं बतलाते कि वे क्या हैं? और क्या करना चाहते हैं? दीर्घकालीन नीतियों के अभाव में सैद्धान्तिक अन्तर हो ही कैसे सकता है? सैद्धान्तिक निष्ठा के अभाव में जो सिद्धान्त होते भी हैं उनका कोई महत्व नहीं होता है। वह समय-समय पर परिस्थिति, अवसर और सुविधा की दृष्टि से परिवर्तित होते रहते हैं। बहुमत प्राप्त करने के उद्देश्य से दल अपने सिद्धान्तों को अस्पष्ट रखते हैं तथा चुनाव काल के आविस-पत्र सारहीन होते हैं और उनमें महत्वपूर्ण समस्याओं पर मौन रहा जाता है।

१८. **भृत्य वर्ग के अभाव की अधिकता**—व्यक्तित्व के प्रभाव की अधिकता के कारण जापान के राजनैतिक जीवन में भृत्य वर्ग का बहुत सम्मान है। इस कारण राजनैतिक दलों में भूतपूर्व राजकीय कर्मचारियों की संख्या बढ़ गयी है। दलों में भृत्य वर्ग का 'प्रभुत्व होने से दलों द्वारा भृत्य वर्ग का नियन्त्रण होने के स्थान पर भृत्य वर्ग दलों को नियन्त्रित करता है। विशेष महत्व की बात यह है कि भृत्य वर्ग का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। सन् १९४७ में संसद के सदस्यों में केवल उदार तथा समाजवादी दलों के २८ सदस्य भृत्य वर्ग के थे। सन् '४९ में यह संख्या ५७, सन् '५३ में ७५ और सन् '५८ में ८६ हो गयी। सन् १९६० के इकेदा मंत्रिमंडल के १७ में से ९ व्यक्ति भृत्य वर्ग के थे। इस आधार पर कहा जाता है कि जापानी राजनैतिक दलों, विशेषकर उदार-प्रजातान्त्रिक दल का भृत्यीकरण हो रहा है।

१९. **केन्द्रीभूत होना**—'जापान के राजनैतिक दल अत्यधिक केन्द्रीभूत

और समेकित हो गये हैं।'[1] नीति या कार्यक्रम के निश्चय में स्थानीय संगठनों का कोई हाथ नहीं होता है। दल संगमनों द्वारा उनका निर्धारण भी केवल औपचारिक रूप होता है। वास्तविक रूप में उन्हें केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति ही निश्चित करती है। संसद् की सदस्यता के लिए चुनाव लड़ने वाले अभ्यर्थी भी केन्द्र द्वारा चुने जाते हैं और केन्द्र ही निश्चित करता है कि विभिन्न सदस्य किन क्षेत्रों से चुनाव लड़ेंगे। केन्द्र प्रान्तीय सङ्गठनों पर चौकसी की दृष्टि रखते हैं।[2]

२०. कार्यकारिणी का महत्व—दलों के केन्द्रीय संगठन में भी कार्यकारिणी का ही महत्व होता है। दलों की साधारण सभा कार्यकारिणी के अध्यक्ष और महासचिव को निर्वाचित करती है पर वास्तविक रूप में इन्हें भूतपूर्व कार्यकारिणी मनोनीत करती है और साधारण सभा उनको एकमत से औपचारिक रूप में अनुमोदित कर देती है। जैसा ऊपर कहा गया अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न भी कार्यकारिणी द्वारा ही निश्चय किए जाते हैं।

२१. महासचिव का महत्व—जापान के राजनैतिक दलों में अध्यक्ष के पश्चात् सबसे महत्वपूर्ण पद महासचिव का माना जाता है। भारत में महासचिव अध्यक्ष का वैधानिक सहायक मात्र होता है और अध्यक्ष ही उसकी वास्तविक नियुक्ति करता है। पर जापान में महासचिव अध्यक्ष का सहायक, प्रतिद्वन्दी, उत्तराधिकारी और दल का प्रवक्ता तथा नियोजक होता है। अध्यक्ष तो कभी-कभी औपचारिक सभापति के रूप में दल के बाहर से भी ग्रहण कर लिया जाता है पर महासचिव दल का पुराना नेता होता है।

२२. नियंत्रित सदस्यता—अन्य देशों में साम्यवादी दल के अतिरिक्त अन्य दलों का सदस्य कोई भी व्यक्ति हो सकता है। उसे केवल सदस्यता

---

[1]Political parties have become highly centralized and integrated" A. W. Buskt, *The Government of Japan*, 1961, P. 108.

[2]"each major party is highly centralized, the national head quarters keeping a watchful eye upon the provincial organizations." Quigley & Turner, *op. cit.* P. 352.

फार्म भरना पड़ता है और निधारित शुल्क देना पड़ता है। पर जापान के राजनैतिक दलों का सदस्य बनने के लिए यह आवश्यक है कि उसके प्रार्थना पत्र का समर्थन दल के दो पुराने सदस्य करें। यद्यपि दल सरलता से छोड़ दिया जाता है पर सदस्यता प्राप्त करना उतना सरल नहीं है। दल जानता है कि मतदाताओं को स्थानीय प्रभुओं द्वारा सरलता से नियंत्रित किया जा सकता है इसलिए उनको दल का सदस्य बनाने की आवश्यकता नहीं समझी जाती है।

२३. स्थानीय प्रभुओं का महत्व—स्थानीय प्रभु का जापानी राजनीति में बड़ा महत्व है। वह प्राचीन सामन्तों का नया रूप है। यह लोग अनुचित साधनों से धनोपार्जन करते हैं। इनमें से अधिकांश दंडीय कार्यों के लिए कारावास का दंड भोगे भी होते हैं। यह दूषित आचरण वाले व्यक्तियों द्वारा शक्ति प्रयोग कराकर अपने क्षेत्र की जनता पर आतंक स्थापित रखते हैं। यह धन और बल के प्रयोग द्वारा स्थानीय सहयोगी संस्था में महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लेते हैं और उन्हें अपने स्वार्थ की पूर्ति का साधन बनाकर अपनी शक्ति को दृढ़ करते हैं। ये स्थानीय नेता राष्ट्रीय व्यवस्थापिका के सदस्यों के स्थानीय प्रतिनिधि बनते हैं और उनके निर्वाचन में योग देते हैं। यह प्रायः शासक दल का साथ देते हैं और परिस्थिति के अनुसार उनकी दल निष्ठा बदलती रहती है।[1]

२४. कठोर अनुशासन—मन्त्रिमंडलात्मक शासन व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि दल के नेता अपने दल के संसद सदस्यों पर कठोर नियंत्रण रक्खें और जिससे वे प्रत्येक विधेयक या अन्य प्रश्न पर उनका अनुसरण करें। जापान के संविधान के वास्तविक निर्माता अमेरिकावासी थे और वे इस कठोर अनुशासन को अच्छा नहीं समझते थे। अतः उसे कम करने के लिए उन्होंने

---

[1] Poul S. Dull: A Japanese Political Boss' in *Five Studies in Japanese Politics*, edited by R. E. Ward (1957). See also 'Far Eastern Government and Politics' by Linebarger & others (1956) P. 515.

संविधान में यह व्यवस्था की थी कि केवल स्पष्ट अविश्वास प्रस्ताव पास होने या विश्वास प्रस्ताव के अस्वीकार होने पर ही मंत्रिमंडल पद त्याग करे या प्रतिनिधि सभा का विघटन करे। पर जापान के राजनीतिज्ञों ने इस सम्बन्ध में विशुद्ध ब्रिटिश अभिसमयों का पालन किया। इससे जापान में भी दल-नेता कठोर अनुशासन रखते हैं। 'विधायक अपने राजनैतिक संगठन के निर्णय से बाध्य होता है और उसे अपने उपक्रम पर कार्य करने का कभी अवसर नहीं मिलता है।'[1] दल के बहुमत के निर्णय का उल्लंघन करनेवाले को प्रतिकार रूप में दल से बहिष्कृत कर दिया जाता है। फिर भी बहुदलीय प्रथा, व्यक्तित्व की प्रधानता और राजनैतिक अस्थायित्व के कारण दल अनुशासन उतना प्रभावपूर्ण नहीं है जितना कि वह ब्रिटेन में होता है। इसलिए जापान में दल अनुशासन व्यवहार में ब्रिटेन में प्रयोग किए अत्यन्त प्रभावपूर्ण नियंत्रण और अमरीकी दल पद्धति, जो अपनी सदस्यता पर केवल अशक्त नियंत्रण रखती है, के मध्य में कहीं है।[2]

२५. वशांनुगत दल निष्ठा का अभाव—संयुक्त राज्य अमेरिका में ७५ प्रतिशत मतदाता अपने दलों के प्रति वंशानुगत निष्ठा रखते हैं पर जापान में सम्भवतः एक भी व्यक्ति किसी भी दल के प्रति वंशानुगत निष्ठा नहीं रखता है। इस स्थिति का कारण जापानवासियों की विविधिता और नवीन-

---

1 "Individual legislator is bound by the decision of his political organization, with little opportunity to act on his own initiative. Quigley and Turner, *Op. cit.* P. 344. इस स्थिति का वर्णन करते हुए प्रो॰ जिन्क लिखते हैं : "All parties are directed from Tokyo, where even the members of the Diet must follow a party line laid down for them by a handful of leaders on penalty of expulsion." *Modern Government*, 1962, p. 734.

2 "Party discipline in Japan in practice is therefore, somewhere in between the very effective control exercised in Britain and the American party system which has only weak control over its membership" Yanaga, C: *Japanese People and Politics* (1956) P. 256.

प्रियता कही जा सकती है। कुछ भी हो वंशानुगत निष्ठा का अभाव जापान के राजनैतिक जीवन में अस्थायित्व और अस्थिरता उत्पन्न करता है।

२६. बहुदलीय सदस्यता—"जापान की दलीय सदस्यता का एक चित्तरंजक लक्षण यह है कि ऐसे व्यक्तियों की प्रचुर संख्या है जो इसमें बहुमुखी निष्ठा रखते हैं कि वह अधिकृत रूप में एक से अधिक दल के सदस्य होते हैं। यह बहुदलीय सदस्यता जनता द्वारा या राजनीतिज्ञों द्वारा भी असाधारण या विपथगामी भी नहीं समझी जाती है।"[1]

अभ्यास के लिए प्रश्न

१. 'प्रतिनिधि शासन दल शासन है' (फाइनर) समीक्षा कीजिए।

२. दलों और द्वैधों में क्या अन्तर है ? जापान के तथाकथित दलों को क्या दल कहना उचित है ? सकारण उत्तर दीजिए।

३. प्रजातंत्र शासन को सफलतापूर्वक चलाने के लिए राजनैतिक दल प्रणाली में क्या गुण होना आवश्यक है ? जापान की दल व्यवस्था में यह गुण कहाँ तक पाये जाते हैं ?

४. 'दलों ने प्रजातंत्र का निर्माण किया, या संभवत: अधिक सत्य रूप में, आधुनिक प्रजातंत्र दलीय प्रतियोगिता का उप-उत्पादन है' (जेफर्सन) इस कथन को ध्यान में रखते हुए जापान के राजनैतिक दलों के विकास का वर्णन करिए।

५. जापान के प्रमुख राजनैतिक दलों के संगठनों और सिद्धान्तों का संक्षेप में वर्णन करिए।

६. 'एक राजनैतिक दल द्वैध हितों के शिथिल संघ से अधिक नहीं है'

---

[1] "An entersting feature of Japanese party membership is that there is a considerable number of persons who have "multiple allegiance" in that they are members officially of more than one party. This is not considered unusual or aberrant by the public or by the politicians" Yanaga, *Op. cit.* P. 253.

(क्विगली और टर्नर)। इस कथन को ध्यान में रखते हुए जापान के राजनैतिक दलों की विशेषताओं का वर्णन करिए।

७. 'संभवत दल संविधान के कार्यकरण पर सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रभाव' है (व्हेयर) इस कथन को ध्यान में रखते हुए जापान के संविधान की कार्यप्रणाली पर दलों के प्रभाव का वर्णन करिए।

८. 'जापान में......मुख्य राजनैतिक दलों के अभ्यर्थियों को विरोधी दलों के अभ्यर्थियों के विरुद्ध ही नहीं वरन् एक दूसरे के विरुद्ध भी लड़ना पड़ता है' (हरमेन्स)। इस कथन की समीक्षा करिए और दलाभ्यन्तर संघर्ष के द्वारा जापान के राजनैतिक जीवन में पड़ने वाले प्रभाव की विवेचना करिए।

९. जापान के राजनैतिक जीवन में अनुदारवाद, पूँजीवाद और भृत्य वर्ग की प्रबलता के कारण बतलाइए।

THE CONSTITUTION OF JAPAN

We, the Japanese people, acting through our duly elected representatives in the National Diet, determined that we shall secure for ourselves and our posterity the fruits of peaceful co-operation with all nations and the blessings of liberty throughout this land, and resolved that never again shall we be visited with the horrors of war through the action of government, do proclaim that sovereign power resides with the people and do firmly establish this Constitution. Government is a sacred trust of the people, the authority for which is derived from the people, the powers of which are exercised by the representatives of the people, and the benefits of which are enjoyed by the people. This is a universal principle of mankind upon which this Constitution is founded. We reject and revoke all constitutions, laws, ordinances and rescripts in conflicts herewith.

We, the Japanese people, desire peace for all time and are deeply conscious of the high ideals controlling human relationship, and we have determined to preserve our security and existence, trusting in the justice and faith of the peace-loving peoples of the world. We desire to occupy an honoured place in an international society striving for the preservation of peace, and the banishment of tyranny and slavery, oppression and intolerance for all time from the earth. We recognize that all peoples of the world have the right to live in peace, free from fear and want.

We believe that no nation is responsible to itself alone, but that laws of political morality are universal ; and that obedience to such laws is incumbent upon all nations who would sustain their own sovereignty and justify their sovereign relationship with other nations.

We, the Japanese people, pledge our national honour to accomplish these high ideals and purposes with all our resources.

CHAPTER I THE EMPEROR

ARTICLE 1. The Emperor shall be the symbol of the State and of the unity of the people, deriving his position from the will of the people with whom resides sovereign power.

ARTICLE 2. The Imperial Throne shall be dynastic and succeeded to in accordance with the Imperial House Law passed by the Diet.

ARTICLE 3. The advise and approval of the Cabinet shall be required for all acts of the Emperor in matters of state, and the Cabinet shall be responsible therefor.

ARTICLE 4. The Emperor shall perform only such acts in matters of state as are provided for in this Constitution and he shall not have powers related to government.

The Emperor may delegate the performance of his acts in matters of state as may be provided by law.

ARTICLE 5. When, in accordance with the Imperial House Law, a Regency is established, the Regent shall perform his acts in matters of state in the Emperor's name. In this case, paragraph one of the preceding article will be applicable.

ARTICLE 6. The Emperor shall appoint the Prime Minister as designated by the Diet.

The Emperor shall appoint the Chief Judge of the Supreme Court as designated by the Cabinet.

ARTICLE 7. The Emperor, with the advice and approval of the Cabinet, shall perform the following acts in matters of state on behalf of the people :

Promulgation of amendments of the constitution, laws, cabinet orders and treaties.
Convocation of the Diet.
Dissolution of the House of Representatives.
Proclamation of general election of members of the Diet.
Attestation of the appointment and dismissal of Ministers of State and other officials as provided for by law, and of full powers and credentials of Ambassadors and Ministers.
Attestation of general and special amnesty, commutation of punishment, reprieve, and restoration of rights.
Awarding of honours.
Attestation of instruments of ratification and other diplomatic documents as provided for by law.
Receiving foreign ambassadors and ministers.
Performance of ceremonial functions.

ARTICLE 8. No property can be given to, or received by, the Imperial House, nor can any gifts be made therefrom, without the authorisation of the Diet.

CHAPTER II. RENUNCIATION OF WAR

ARTICLE 9. Aspiring sincerely to an international peace based on justice and order, the Japanese people forever renounce war as a sovereign right of the nation and the threat or use of force as means of settling international disputes.

In order to accomplish the aim of the preceding paragraph, land, sea, and air forces, as well as other war potential, will never be maintained. The right of belligerency of the state will not be recognized.

CHAPTER III. RIGHTS AND DUTIES OF THE PEOPLE

ARTICLE 10. The conditions necessary for being a Japanese national shall be determined by law.

ARTICLE 11. The people shall not be prevented from enjoying any of the fundamental human rights. These fundamental human rights guaranteed to the people by this Constitution shall be conferred upon the people of this and future generations as eternal and inviolate rights.

ARTICLE 12. The freedom and rights guaranteed to the people by this Constitution shall be maintained by the constant endeavour of the people, who shall refrain from any abuse of these freedoms and rights and shall always be responsible for utilizing them for the public welfare.

ARTICLE 13. All of the people shall be respected as individuals. Their right to life, liberty, and the pursuit of happiness shall, to the extent that it does not interfere with the public welfare, be the supreme consideration in legislation and in other governmental affairs.

ARTICLE 14. All of the people are equal under the law and there shall be no discrimination in political, economic or social relations because of race, creed, sex, social status or family origin.

Peers and peerage shall not be recognized.

No privilege shall accompany any award of honour, decoration or are distinction, nor shall any such award be valid beyond the life-time of the individual who now holds or hereafter may receive it.

ARTICLE 15. The people have the inalienable right to choose their public officials and to dismiss them.

All public officials are servants of the whole community and not of any group thereof.

Universal adult suffrage is guaranteed with regard to the election of public officials.

In all elections, secrecy of the ballot shall not be violated. A voter shall not be answerable, publicly or privately, for the choice he has made.

ARTICLE 16. Every person shall have the right of peaceful petition for the redress of damage, for the removal of public officials, for the enactment, repeal or amendment of laws, ordinances or regulations and for other matters, nor shall any person be in any way discriminated against for sponsoring such a petition.

ARTICLE 17. Every person may sue for redress as provided by law from the State or public entity, in case he has suffered damage through illegal act of any public official.

ARTICLE 18. No person shall be held in bondage of any kind. Involuntary servitude, except as punishment for crime, is prohibited.

ARTICLE 19. Freedom of thought and conscience shall not be violated.

ARTICLE 20. Freedom of religion is guaranteed to all. No religious organization shall receive any privileges from the State, nor exercise any political authority.

No person shall be compelled to take part in any religious act, clelebration, rite or practice.

The State and its organs shall refrain from religious education or any other religious activity.

ARTICLE 21. Freedom of assembly and association as well as speech, press and all other froms of expression are guaranteed.

No censorship shall be maintained, nor shall the secrecy of any means of communication be violated.

ARTICLE 22. Every person shall have freedom to choose and change his residence and to choose his occupation to the extent that it does not interfere with the public welfare.

Freedom of all persons to move to a foreign country and to divest themselves of their nationality shall be inviolate.

ARTICLE 23. Academic freedom is guaranteed.

ARTICLE 24. Marriage shall be based only on the mutual consent of both sexes and it shall be maintained through mutual co-operation with the equal rights of husband and wife as a basis.

With regard to choice of spouse, property rights, inheritancy, choice of domicile, divorce and other matters pertaining to marriage and the family, laws shall be enacted from the stand-point of individual dignity and the essential equality of the sexes.

ARTICLE 25. All people shall have the right to maintain the minimum standards of wholesome and cultured living.

In all spheres of life, the State shall use its endeavours for the promotion and extension of social welfare and security, and of public health.

ARTICLE 26. All people shall have the right to receive an equal education correspondent to their ability, as provided by law.

All people shall be obligated to have all boys and girls under their protection receive ordinary education as provided for by law. Such compulsory education shall be free.

ARTICLE 27. All people shall have the right and the obligation to work.

Standard for wages, hours, rest and other working conditions shall be fixed by law.

Children shall not be exploited.

ARTICLE 28. The right of workers to organise and to bargain and act collectively is guaranteed.

ARTICLE 29. The right to own or to hold property is inviolable.

Property rights shall be defined by law, in conformity with the public welfare.

Private property may be taken for public use upon just compensation therefor.

ARTICLE 30. The people shall be liable to taxation as provided by law.

ARTICLE 31. No person shall be deprived of life or liberty, nor shall any other criminal penalty be imposed, except according to procedure established by law.

ARTICLE 32. No person shall be denied the right of access to the Courts.

ARTICLE 33. No person shall be apprehended except upon warrant issued by a competent judicial officer which specifies the offence with which the person is charged, unless he is apprehended, the offence being committed.

ARTICLE 34. No person shall be arrested or detained without being at once informed of the charges against him or without the immediate privilege of counsel ; nor shall he be detained without adequate cause ; and upon demand of any person such cause must be immediately shown in open court in his presence and the presence of his counsel.

ARTICLE 35. The right of all persons to be secure in their homes, papers and effects against entries, searches and seizures shall not be impaired except upon warrant issued for adequate cause and particularly describing the place to be searched and things to be seized, or except as provided by Article 33.

Each search or seizure shall be made upon separate warrant issued by a judicial officer.

ARTICLE 36. The infliction of torture by any public officer and cruel punishments are absolutely forbidden.

ARTICLE 37. In all criminal cases the accused shall enjoy the right to a speedy and public trial by an impartial tribunal.

He shall be permitted full opportunity to examine all witnesses, and he shall have the right of compulsory process for obtaining witnesses on his behalf at public expense.

At all times the accused shall have the assistance of competent counsel who shall, if the accused is unable to secure the same by his own efforts, be assigned to his use by the State.

ARTICLE 38. No person shall be compelled to testify against himself.

Confession made under compulsion, torture or threat, or after prolonged arrest or detention shall not be admitted in evidence.

No person shall be convicted or punished in cases where the only proof against him is his own confession.

ARTICLE 39. No person shall be held criminally liable for an act which

was lawful at the time it was committed, or of which he has been acquitted, nor shall he be placed in double jeopardy.

ARTICLE 40. Any person, in case he is acquitted after he has been arrested or detained, may sue the State for redress as provided by law.

CHAPTER IV THE DIET

ARTICLE 41. The Diet shall be the highest organ of state power, and shall be the sole law-making organ of the State.

ARTICLE 42. The Diet shall consist of two Houses, namely the House of Representatives and the House of Councillors.

ARTICLE 43. Both Houses shall consist of elected members, representated of all the people.

The number of the members of each House shall be fixed by law.

ARTICLE 44. The qualifications of members of both Houses and their electors shall be fixed by law. However, there shall be no discrimination because of race, creed, sex, social status, family origin, education, property or income.

ARTICLE 45. The term of office of members of the House of Representatives shall be four years. However, the term shall be terminated before the full term is up in case the House of Representatives is dissolved.

ARTICLE 46. The term of office of members of the House of Councillors shall be six years, and election for half the members shall take place every three years.

ARTICLE 47. Electoral districts, method of voting and other matters pertaining to the method of election of members of both Houses shall be fixed by law.

ARTICLE 48. No person shall be permitted to be a member of both Houses simultaneously.

ARTICLE 49. Members of both Houses shall receive appropriate annual payment from the national treasury in accordance with law.

ARTICLE 50. Except in cases provided by law, members of both Houses shall be exempt from apprehension while the Diet is in session, and any members apprehended before the opening of the session shall be freed during the term of the session upon demand of the House.

ARTICLE 51. Members of both Houses shall not be held liable outside the House for speeches, debates or votes cast inside the House.

ARTICLE 52. An ordinary session of the Diet shall be convoked once per year.

ARTICLE 53. The Cabinet may determine to convoke extraordinary sessions of the Diet. When quarter or more of the total members of either House makes the demand, the Cabinet must determine on such convocation.

ARTICLE 54. When the House of Representatives is dissolved, there must be a general election of members of the House of Representatives within forty (40) days from the date of dissolution, and the Diet must be convoked within thirty (30) days from the date of the election.

When the House of Representatives is dissolved, the House of Councillors is closed at the same time. However, the Cabinet may in time of national emergency convoke the House of Councillors in emergency session.

Measures taken at such session as mentioned in the proviso of the preceding paragraph shall be provisional and shall become null and void unless agreed to by the House of Representatives within a period of ten (10) days after the opening of the next session of the Diet.

ARTICLE 55. Each House shall judge disputes related to qualifications

of its members. However, in order to deny a seat to any member, it is necessary to pass a resolution by a majority of two-third or more of the members present.

ARTICLE 56. Business cannot be transacted in either House unless one-third or more of total membership is present.

All matters shall be decided, in each House, by a majority of those present, except as elsewhere provided in the Constitution, and in case of a tie, the presiding officer shall decide the issue.

ARTICLE 57. Deliberation in each House shall be public. However, a secret meeting may be held where a majority of two-thirds or more of those members present passes a resolution therefor.

Each House shall keep a record of proceedings. This record shall be published and given general circulation, excepting such parts of proceedings of secret session as may be deemed to require secrecy.

Upon demand of one-fifth or more of the members present, votes of the members on any matter shall be recorded in the minutes.

ARTICLE 58. Each House shall select its own president and other officials.

Each House shall establish its rules pertaining to meetings, proceedings and internal discipline, and may punish members for disorderly conduct. However, in order to expel a member, a majority of two-thirds or more of those members present must pass a resolution thereon.

ARTICLE 59. A bill becomes a law on passage by both Houses, except as otherwise provided by the Constitution.

A bill which is passed by the House of Representatives, and upon which the House of Councillors makes a decision different from that of the House of Representatives, becomes a law when passed a second time by the House of Representatives by a majority of two thirds or more of the members present.

The provision of the preceding paragraph does not preclude the House of Representatives from calling for the meeting of a joint committee of both Houses, provided for by law.

Failure by the House of Councillors to take final action within sixty (60) days after receipt of a bill passed by the House of Representatives, time in recess excepted, may be determined by the House of Representatives to constitute a rejection of the said bill by the House of Councillors.

ARTICLE 60. The budget must first be submitted to the House of Representatives.

Upon consideration of the budget, when the House of Councillors makes a decision different from that of the House of Representatives, and when no agreement can be reached even through a joint committee of both Houses, provided for by law, or in the case of failure by the House of Councillors to take final action within thirty (30) days, the period of recess excluded, after the receipt of the budget passed by the House of Representatives, the decision of the House of Representatives shall be the decision of the Diet.

ARTICLE 61. The second paragraph of the preceding article applies also to the Diet approval required for the conclusion of treaties.

ARTICLE 62. Each House may conduct investigations in relation to government, and may demand the presence and testimony of witnesses, and the production of records.

ARTICLE 63. The Prime Minister and other Ministers of State may, at any time, appear in either House for the purpose of speaking on bills, regard-

less of whether they are members of the House or not. They must appear when their presence is required in order to give answers or explanations.

ARTICLE 64. The Diet shall set up an impeachment court from among the members of both Houses for the purpose of trying those judges against whom removal proceedings have been instituted.

Matters relating to impeachment shall be provided by law.

CHAPTER V THE CABINET

ARTICLE 65. Executive power shall be vested in the Cabinet.

ARTICLE 66. The Cabinet shall consist of the Prime Minister, who shall be its head, and other Ministers of State, as provided for by law.

The Prime Minister and other Ministers of State must be civilians.

The Cabinet, in the exercise of executive power, shall be collectively responsible to the Diet.

ARTICLE 67. The Prime Minister shall be designated from among the members of the Diet by a resolution of the Diet. This designation shall precede all other business.

If the House of Representatives and the House of Councillors disagree and if no agreement can be reached even through a joint committee of both Houses, provided for by law, or the House of Councillors fails to make designation within ten (10) days, exclusive of the period of recess, after the House of Representatives has made designation, the decision of the House of Representatives shall be the decision of the Diet.

ARTICLE 68. The Prime Minister shall appoint the Ministers of State. However, a majority of their number must be chosen from among the members of the Diet.

The Prime Minister may remove the Ministers of State as he chooses.

ARTICLE 69. If the House of Representatives passes a non-confidence resolution, or rejects a confidence resolution, the Cabinet shall resign en masse, unless the House of Representatives is dissolved within ten (10) days.

ARTICLE 70. When there is a vacancy in the post of Prime Minister, or upon the first convocation of the Diet after a general election of members of the House of Representatives, the Cabinet shall resign en masse.

ARTICLE 71. In the cases mentioned in the two preceding articles, the Cabinet shall continue its functions until the time when a new Prime Minister is appointed.

ARTICLE 72. The Prime Minister, representing the Cabinet, submits bills, reports on general national affairs and foreign relations to the Diet and exercise control and supervision over various administrative branches.

ARTICLE 73. The Cabinet, in addition to other general administrative functions, shall perform the following functions :

Administer the law faithfully ; conduct affairs of state.

Manage foreign affairs.

Conclude treaties. However, it shall obtain prior or, depending on circumstances, subsequent approval of the Diet.

Administer the civil service, in accordance with standards established by law.

Prepare the budget, and present it to the Diet.

Enact cabinet orders in order to execute the provisions of this Constitution and of the law. However, it cannot include penal provisions in such cabinet orders unless authorised by such law.

Decide on general amnesty, special amnesty, commutation of punishment, reprieve and restoration of rights.

ARTICLE 74. All laws and cabinet orders shall be signed by the competent Ministers of State and countersigned by the Prime Minister.

ARTICLE 75. The Ministers of State, during their tenure of office, shall not be subject to legal action without the consent of the Prime Minister. However, the right to take that action is not impaired hereby.

CHAPTER VI JUDICIARY

ARTICLE 76. The whole judicial power is vested in a Supreme Court and in such inferior courts as are established by law.

No extraordinary tribunal shall be established, nor shall any organ or agency of the Executive be given final judicial power.

All judges shall be independent in the exercise of their conscience and shall be bound only by this Constitution and the laws.

ARTICLE 77. Supreme Court is vested with the rule-making power under which it determines the rules of procedure and of practice, and of matters relating to attorneys, the internal discipline of the courts and the administration of judicial affairs.

Public procurators shall be subject to the rule-making power of the Supreme Court.

The Supreme Court may delegate the power to make rules for inferior courts to such courts.

ARTICLE 78. Judges shall not be removed except by public impeachment unless judicially declared mentally or physically incompetent to perform official duties. No disciplinary action against judges shall be administered by any executive organ or agency.

ARTICLE 79. The Supreme Court shall consist of a Chief Judge and such number of judges as may be determined by law ; all such judges excepting the Chief Judge shall be appointed by the Cabinet.

The appointment of the judges of the Supreme Court shall be reviewed by the people at the first general election of members of the House of Representatives following their appointment, and shall be reviewed again at the first general election of members of the House of Representatives after a lapse of ten (10) years, and in the same manner thereafter.

In cases mentioned in the foregoing paragraph, when the majority of the voters favours the dismissal of a judge, he shall be dismissed.

Matters pertaining to review shall be prescribed by law.

The Judges of the Supreme Court shall be retired upon the attainment of the age as fixed by law.

All such judges shall receive, at regular stated intervals, adequate compensation which shall not be decreased during their terms of office.

ARTICLE 80. The judges of the inferior courts shall be appointed by the Cabinet from a list of persons nominated by the Supreme Court. All such judges shall hold office for a term of ten (10) years with privilege of reappointment, provided that they shall be retired upon the attainment of the age as fixed by law.

The judges of the inferior courts shall receive, at regular stated intervals, adequate compensation which shall not be decreased during their terms of office.

ARTICLE 81. The Supreme Court is the court of last resort with power to determine the constitutionality of any law, order, regulation of official act.

ARTICLE 82. Trials shall be conducted and judgment declared publicly. Where a court unanimously determines publicity to be dangerous to public order or morals, a trial may be conducted privately, but trials of political offences, offences involving the press or cases wherein the rights of people as guaranteed in Chapter III of this Constitution are in question shall always be conducted publicly.

CHAPTER VII FINANCE

ARTICLE 83. The power to administer national finance shall be exercised as the Diet shall determine.

ARTICLE 84. No new taxes shall be imposed or existing ones modified except by law or under such conditions as law may prescribe.

ARTICLE 85. No money shall be expended, nor shall the State obligate itself, except as authorized by the Diet.

ARTICLE 86. The Cabinet shall prepare and submit to the Diet for its consideration and decision a budget for each fiscal year.

ARTICLE 87. In order to provide for unforeseen deficiencies in the budget, a reserve fund may be authorized by the Diet to be expended upon the responsibility of the Cabinet.

The Cabinet must get subsequent approval of the Diet for all payments from the reserve fund.

ARTICLE 88. All property of the Imperial Household shall belong to the State. All expenses of the Imperial Household shall be appropriated by the Diet in the budget.

ARTICLE 89. No public money or other property shall be expended or appropriated for the use, benefit or maintenance of any religious institution or association, or for any charitable, educational or benevolent enterprises not under the control of public authority.

ARTICLE 90. Final accounts of the expenditures and revenues of the State shall be audited annually by a Board of Audit and submitted by the Cabinet to the Diet, together with the statement of audit during the fiscal year immediately following the period covered.

The organisation and competency of the Board of Audit shall be determined by law.

ARTICLE 91. At regular intervals and at least annually the Cabinet shall report to the Diet and the people on the state of national finances.

CHAPTER VIII LOCAL SELF-GOVERNMENT

ARTICLE 92. Regulations concerning organisation and operations of local public entities shall be fixed by law in accordance with the principle of local autonomy.

ARTICLE 93. The local public entities shall establish assemblies as their deliberative organs, in accordance with law.

The chief executive officers of all local public entities, the members of their assemblies, and such other local officials as may be determined by law shall be elected by direct popular vote within their several communities.

ARTICLE 94. Local public entities shall have the right to manage their property, affairs and administration and to enact their own regulations within law.

ARTICLE 95. A special law applicable only to one local public entity cannot be enacted by the Diet without the consent of the majority of the voters of the local public entity concerned, obtained in accordance with law.

मुख्य सहायक पुस्तकों की सूची

1. *Adams, J. C. and Others* : Foreign Governments and their Backgrounds, 1950.
2. *Burks, A. W.* : The Government of Japan, 1961.
3. *Dening, E.* : Japan, 1960.
4. *Hermens, F. A.* : The Representative Republic, 1958.
5. *Horner, F. J.* : A Case History of Japan, 1948.
6. *Humes & Martin* : The Structure of the Local Governments throughout the World, 1961.
7. *Inazo Nibote* : Japan, 1931.
8. *Jones, F. C. and Others* : The Far East (1939-46), 1955.
9. *Jones, F. C.* : Survey of International Affairs (1947-48), 1952.
10. *Kahins, G. M. (ed.)* : Major Governments of Asia, 1958.
11. *Linebarger & Others* : Far Eastern Governments and Politics, 1956.
12. *Maki, J. M.* : The Government and Politics of Japan, 1962.
13. *Ministry of Foreign Affairs (Japan)*: Japan of Today, 1961.
14. *Nobutaka Ike* : Japanese Politics, (1957).
15. *Ogg, F. A. and Zink, H.* : Modern Foreign Governments, 1949.
16. *Okuma, C. S.* : Fifty Years of Japan, 2 vols. 1920.
17. *Quigley, H. S.* : Japanese Governments and Politics, 1932.
18. *Quigley, H. S. and Turner,* J. *E.* : The New Japan, 1956.
19. Report of the Cabinet Commission on the Constitution, 1961.
20. *Scalapino, R. A. & Masumi, J.* : Parties and Politics in Contemporary Japan, 1962.

21. *Supreme Court Secretariat (Japan)* : Outline of Japanese Judicial System, 1961.
22. *Do.* : Outline of Criminal Justice in Japan, 1961.
23. *Do.* : Guide to the Family Court of Japan, 1961.
24. *Do.* : Organization and Procedure Chart of Japanese Courts, 1961.
25. *Toshikazu Kase* : Eclipse of the Rising Sun, 1951.
26. *Vinake, H. M.* : A History of the Far East in Modern Times, 1960.
27. *Do.* : Far Eastern Politics in the Post-war Period, 1956.
28. *Word*, R. E. (*ed.*) : Five Studies in Japanese Politics, 1957.
29. *Yanaga, C.* : Japanese People and Politics, 1956.
30. *Zink, Harold* : Modern Governments, 1962.